आत्मज श्री गदाधरभट्ट चिद्वर श्रीरसिकोत्तंसरचितम्

# प्रेम पत्तनम्

भाषानुवाद एवं गद्य पद्य सारसंग्रह सहित

प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायण कागजी विहारीपुरा वृन्दावन

लागत न्यौछावर
७)रु०

लागत न्यौछावर संस्था का पंचम ग्रन्थ—

विद्वद्वर श्रीरसिकोत्तंसरचितं

# प्रेम पत्तनम्

●

अनुवादक :

**वीतराग पंडित श्रीकेशवमणिजी शास्त्री**

रमणरेती, वृन्दावन

❊

अनुवाद लेखक एवं गद्यपद्य रचयिता

**धर्मचन्द**

❊

प्राप्ति स्थान :

**धर्मचन्द श्रीउडिया बाबा कृष्णाश्रम, वृन्दावन**

❊

प्रकाशक व प्राप्ति स्थान :

**लक्ष्मीनारायण कागजी**

विहारीपुरा, वृन्दावन

❊

मुद्रक :

**बनवारीलाल शर्मा**

श्रीसर्वेश्वर प्रेस, वृन्दावन।

वसन्तपञ्चमी सं० २०२८

प्रथमावृत्ति ३००

लागत न्यौछावर

७) रु०

# शुभाशंसा

श्रीरसिकोत्तंस की अपूर्व कृति 'प्रेमपत्तनम्' मैंने प्रकाशित होने के समय से लेकर अब तक अनेक बार पढ़ी है। शास्त्राभ्यास की पुत्री मति के समय में जितने यम-नियम-विधान होते हैं, वे सब भगवद्रतिका उदय होने पर बदल जाते हैं। रतिकालीन विचित्र संविधान का निरूपण करने के लिये कवि ने जिस कुशल वैदग्धी का प्रयोग किया है, वह सहृदय पुरुष के हृदय को आवर्जित करने में सर्वथा सफल है। प्रेमनगर के नागरिक होने के अभिलाषी रसिक सज्जनों के लिये इसकी गम्भीरता में अवगाहन-निमज्जन-उन्मज्जन करना अतीव उपयोगी होगा। हम चाहते हैं कि रस के प्रेमी इस ग्रन्थ के द्वारा दिशा-निर्देश प्राप्त करें।

—(अखण्डानन्द सरस्वती)

# प्राक्कथन

भारतीय ग्रन्थकारों, विशेष रूप से उपासना और भक्ति से सम्बन्धित रचना करने वालों की यह सामान्य विशेषता रही है कि अपने नाम, कुल, जाति, सम्प्रदाय, जन्म, जन्मस्थान, जन्म सम्वत् अथवा रचनाकाल आदि के विषय में या तो उन्होंने कहीं चर्चा ही नहीं की है और यदि वह प्रसङ्गवश आ भी गई तो अन्तःसाक्ष्य और प्रामाणिक सामग्री के एकत्रीकरण की दृष्टि से उसका परिमाण इतना कम होता है कि बहुत-सी बातों का अनुमान ही करना होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता श्रीरसिकोत्तंसजी का यह नाम मूल नाम था अथवा साधना पद्धति में स्वयं धारित उपाधि, यह स्पष्ट नहीं होता। अच्युत ग्रन्थमाला काशी द्वारा इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकाशन के सम्पादक पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री ने अपनी लम्बी भूमिका में 'वल्लभ-रसिको मदनुजः' इस कथन एवं 'इति कुलपतिकविरिदानीन्तनः' इस उद्धरण के आधार पर कुलपति मिश्र के रचनाकाल की परीक्षा करते हुए इन्हें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती के सम-सामयिक स्थिर किया है और इस ग्रन्थ का निर्माण काल सं० १६८५ विक्रमाब्द माना है 'मिश्रबन्धु विनोद' द्वारा श्रीवल्लभरसिकजी के जन्म सम्वत् १६८१ का संकेत करते हुए भी श्रीयुत श्रीकृष्णपन्त शास्त्री महोदय ने ग्रन्थकार के कुल के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा।

व्रज साहित्य में एवं श्रीकृष्णोपासक भक्त कवियों में स्वनामधन्य आचार्यप्रवर श्रीगदाधर भट्ट गोस्वामि के ही वल्लभरसिकजी कनिष्ठ पुत्र थे और रसिकोत्तंसजी ज्येष्ठ पुत्र। श्रीगदाधरभट्टजी एवं वल्लभरसिकजी से हिन्दी जगत् तथा व्रज के विभिन्न सम्प्रदाय भली भाँति परिचित हैं। अतः इस प्रसंग में यहाँ कुछ कहना अभीष्ट नहीं। श्रीगदाधरभट्टजी के सेव्य स्वरूप श्रीमद्राधामदनमोहनजी वृन्दावन में श्रीराधावल्लभजी के मन्दिर के निकट अठखम्भा में विराजमान हैं और लेखक को उन्हीं के वंशज होने के नाते सेवा का सौभाग्य प्राप्त है, यदि विनम्रता पूर्वक मैं यह कह दूँ तो अनुचित भी प्रतीत नहीं होता।

भक्तिसिद्धान्त में 'प्रेम' भगवान् के समान लोकोत्तर, निर्विशेष एवं अनिर्वचनीय घोषित किया गया है। उसकी उपलब्धि परम प्रेमास्पद श्रीनन्दनन्दन एवं श्रीवृषभानुनन्दिनी की कृपा से ही होती है। उसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् फिर कुछ पाने को शेष नहीं रह जाता। श्रीरसिकोत्तंसजी ने इसी प्रेम के वैचित्र्य को 'प्रेमपत्तन' द्वारा सुलभ बनाया है। बहुजन चर्चित परन्तु ग्रन्थ रूप में पुनर्मुद्रण के अभाव से इस चिर आकांक्षित कृति को श्रीधर्मचन्दजी भगतजी (मुल्तान वालों) ने अपने सात्विक प्रयास से फिर एक बार सुलभ बनाया और इस प्रकार उस परमप्रेम के प्रसार में अपना साहाय्य प्रदान किया इस हेतु वे साधुवाद के अधिकारी हैं इसमें दो मत हो ही नहीं सकते।

**श्रीमदनमोहनजी का मन्दिर, अठखंभा,**
श्रीवृन्दावन धाम

रसिकजनानुचर—
कृष्णचैतन्यभट्ट

६४।पी ७१      * श्रीहरिः *      दुर्गाकुण्ड वाराणसी १८।१२।७१

## "प्रेम पत्तन" पर अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज की सम्मति

प्रेमस्मराख्यौ द्वौ सिन्धू समुद्रिक्तौ द्वयोर्हृदि
एकोद्रेके भवेन्मोहः संज्ञानमपरोद्गतौ ।
ताभ्यां द्वयो रसिकयोर्विवशीकृतचेतसोः
मोहसंज्ञानसान्तत्यं नित्यमेव प्रदृश्यते ॥

रसोपासकों का लोकोत्तर प्रेम पत्तन ही प्रेम पत्तन है। उसके रचयिता रसिकोत्तंस अन्वर्थनामा रसिकोत्तंस ही थे।

वृन्दावन धाम के रसिक श्रीधर्मचन्दजी ने इसकी सुन्दर, सरस और सुबोध टीका लिखकर हिन्दी भारती रसिकों के लिये भी इसे सुगम कर दिया है। वृन्दावन निवासी श्रीकेशवमणि शास्त्री, जो कि परम उपासक एवं विविध शास्त्रों तथा श्रीमद्भागवतादि सद्ग्रन्थों के मर्मज्ञ हैं, उनके निर्देश से यह टीका बहुत ही सुन्दर हो गई है।

हमारी धारणा है कि इससे रसिक लोग लाभान्वित होंगे। लय पर्यन्त रसपान लोलुप रसिक मधुप प्रेमपत्तनारविन्द मकरन्द पान में क्षण का आनन्त्य और आनन्त्य की क्षणिकता का अनुभव करेंगे। शम्············

**श्लोकानुवाद**—नित्य दम्पती श्रीराधा-कृष्ण के हृदय में प्रेम और स्मर (काम) नामक दो समुद्र नित्य समुद्रिक्त (लहराते) रहते हैं। एक का उद्रेक होने पर मोह होता है और दूसरे का उद्रेक होने पर संज्ञान। इन्हीं दोनों समुद्रों से रसिक शिरोमणि दम्पती के चित्त निरन्तर विवश होते रहते हैं। अतएव उनमें निरन्तर—लगातार मोह के बाद संज्ञान, संज्ञान के बाद मोह, सुध के बाद बेसुध और बेसुध के बाद सुध देखने में आते हैं।

## प्रकाशन प्रसंग : आशिष याचना

"अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभाव कुटिला भवेद्" इस प्रेम सिद्धान्त का प्रत्यक्षानुभव दास को प्रकाशन सम्बन्धी दौड़-धूप में पग-पग पर होता रहा है। प्रतीत होता है इसी मूल तथ्य पर प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना हुई है।

रस-उपासना के अनुभवों का निचोड़ उज्ज्वल रस का यह अनुपम काव्य-भाषानुवाद और यत्र-तत्र टिप्पणियों के सहित दो वर्ष की प्रतीक्षा के बाद, क्षमा चाहते हुए आप रसिक महानुभावों की सेवा में केवल आशिष लाभ के हेतु सादर सर्मपित है।

रसानन्द का अनुभव ही वस्तुतः इस ग्रन्थ की उपयोगिता है. इसीलिये रस की रूप-रेखा प्रस्तुत करते हुए बड़े-बड़े विद्वानों को भी बिना इसके उद्धरण दिये, जैसे सन्तोष ही नहीं होता—उदाहरण निमित्त–पिछले दिनों दण्डी आश्रम वृन्दावन में परमपूज्य अनन्त श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज के मधुर-रस पर मार्मिक प्रवचन हुए थे। प्रथम दिन ही वेणु-वादन के प्रसङ्ग में इसी ग्रन्थ का उद्धरण राजा-वेन के रूप में जब सुनने का सुयोग हुआ तो कृत-कृत्य हो उठा, और श्रीस्वामीजी महाराज से इसे—जहाँ तक यह ग्रन्थ छप चुका था—देख लेने की प्रार्थना की। मात्र प्रार्थना ही स्वीकृत नहीं हुई बल्कि मेरी आन्तरिक इच्छा जानकर श्रीस्वामीजी महाराज ने अतिशय कृपा करते हुए इस ग्रन्थ का प्राक्कथन भी लिखने की स्वीकृति प्रदान की। इस अनुग्रह के लिए पुनः पुनः बन्दन।

धामनिष्ठ वीतराग पूज्यचरण श्रीकेशवमणि शास्त्रीजी ने जिस लगन और नेत्र सम्बन्धी असुविधा में भी इसके अनुवाद कार्य का सम्पादन किया है, किन शब्दों में उनके प्रति आभार प्रकट किया जाय ? दास भला—उनके ऋण से कैसे उऋण हो सकता है ।

"लागत न्यौछावर संस्था" प्रायः रस ग्रन्थों का ही प्रकाशन करती आ रही है—प्रस्तुत प्रकाशन दास का पाँचवां प्रयास है । संस्था अत्यन्त सीमित प्रतियाँ ही छापती है ताकि ग्रन्थ का अगौरव न हो और वह उपयुक्त अधिकारियों के ही हाथों में पहुँचे । इसलिए "प्रेमपत्तन" की भी ३०० प्रतियाँ मुद्रित की गई हैं । दायित्व बुद्धि हीन इस युग में किस प्रकार पांच मास में अथक परिश्रम से प्रेस आदि की कठिनाइयों से जूझते हुए, यह ग्रन्थ प्रकाशन में आ पाया है यह एक दुखती हुई रग है और इस विषय में दास किसी को भी सहभागी बनाना उचित नहीं समझा, खेद यही है कि इतने पर भी सम्भवतः कुछ साधारण अशुद्धियाँ रह गई हैं, विज्ञ पाठक इनको सुधार लेने की कृपा करें ।

अन्त में कुशल सहयोगी सेठ श्रीअर्जुनदासजी, श्रीलक्ष्मीनारायणजी कागजी और सहायक सेठ श्रीधानुकाजी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ जिनके कारण यह स्वप्न साकार हो सका ।

## ❀ प्रेमपत्तन—वृन्दावन का स्वसंवेद्य प्रभाव ❀

धाम महिमा अगम निगम नहिं कथि सके ।
उपनिषद संहिता तंत्र रु पुराण अवतार अवतारी हरि स्वयं हूं कहि थके ।।
करचो आस्वादन रस विवस आचार्यनि वास आजन्म दृढ लिये योंही बिके ।
रसिक जेते भये तजै वैभव जगत लोक मर्याद हूं लाँघि कै सब रुके ।।
सहीं सब आपदा भये बलिदान हूँ पै न सीमां तजी यों न प्रण ते चुके ।
थापि आदर्श गायौ विशद वाणियन सुयश हृदगत सु-उज्ज्वल महा भाव के ।।
अजहुँ बडभाग्य तिन जनन के ध्याइये बसत आजन्म तजि जगत दृढ प्रणन के ।
चरण रज तिनकी उर राखि निज हित बस्यौ महिम अनुभूत गाई जु करि मनन के ।।

अमित उपकार है जनन पै धाम कौ ।
शरण जे आइके बसत सीमा सुदृढ करै नित योग अरु क्षेम दै नाम कौं ।।
मेलि निज रसिक अनुभविन सौं दै तुरत रति गुन गान में होइ विश्राम कौं ।
भजन रस रीति प्रेरै जु अन्तर्मुखी मानसी भावना निहित निसि याम कौं ।।
मार्ग रागानुगा प्रेम सिद्धान्त सुचि बुद्धि प्रेरित विपुल श्यामा अरु श्याम कौ ।
गुरु आचार्य्य निष्ठा प्रबल इष्टवत प्रेरि उर थापही साधन ललाम कौं ।।
दैन्य निर्वेद रु अनन्यता एक रस रहनि निकिञ्चनी भाव निष्काम कौं ।
तत्सुखी आत्मवन भाव निजहित सतत फुरित निरुपाधि काटै कलुष काम कौं ।।

**वसन्त पञ्चमी**
सं० २०२८
**श्रीकृष्णाश्रम श्रीधाम वृन्दावन**

विनम्र—आशिषाकांक्षी—
**धर्मचन्द**

॥ श्रीः ॥

श्रीकृष्णो जयतितराम् ।

श्रीरसिकोत्तंसरचितम्

# प्रेमपत्तनम्

श्रीमदद्भुतकृतप्रेमसर्वस्वोपेतम् ।

---

अनर्पितचरीं चिरात्करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम् ।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु नः शचीनन्दनः ॥ १ ॥

प्रेमपत्तनाभिधममुं संदर्भं व्याख्यातुकामः कविः श्रीहरिगुरुचरणस्मरणलक्षणं मङ्गलमाचरति—अनर्पितचरीमीति। श्रीशचीनन्दनो हरिः नः हृदयकन्दरे सदा स्फुरतु इति सम्बन्धः। शचीतिख्याता स्वप्रसूस्तस्या नन्दनस्तनयः, यद्वा, शचीं नन्दयतीति तथा, अस्यार्थद्वयस्य रूढियोगाभ्यामेव भेदः, अर्थस्तु स एव। स एव हरिः जनवृजिनवसनहैयङ्गवस्वान्तादीनां हरणेन तथाप्रसिद्धः श्रीव्रजेन्द्रनन्दनः। अत्र तावद-भेदरूपकाख्य एवालङ्कारः। तथा भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यमिति प्रसिद्ध लक्षणम्, पदद्वयस्य मिथः सामानाधिकरण्यमपि तयोयर्था वदभेदमेवावबोधयति। नोऽस्माकमिति बहुत्वं तु

---

श्लोकानुवाद १—स्वर्ण के सदृश्य सुन्दर कान्ति के समूह से प्रकाशमान, जो उन्नत और उज्ज्वल (शृङ्गार) रस से परिपूर्ण है, बहुत समय से जिस भक्ति का बोधन किसी के द्वारा नहीं हुआ था—उस भक्तिरूपी श्री को भक्तों को समर्पित करने के लिये, कलि के जीवों पर कृपा करने के लिये अवतीर्ण हुए—शचीनन्दन श्रीहरि (गौरांग महाप्रभु) हमारी हृदय गुहा में सदा स्फुरित रहें। इति ॥ १ ॥

(टीकानुवाद) प्रेम पत्तन नामक सदर्भ के व्याख्यान करने की इच्छा से कवि (श्रीरसिकोत्तंस) श्रीहरि गुरु चरण स्मरण रूप लक्षण मंगलाचरण करते हैं। श्रीशचीनन्दन हरि हमारी हृदय कंदरा में सदा स्फुरित हों यह सम्बन्ध है। शची इस नाम से प्रसिद्ध आपकी माता, उसके नन्दन-पुत्र अथवा शची को आनन्दित करनेवाले। इन दोनों अर्थो का रूढी और योग से ही भेद है अर्थ तो एक ही है। वही हरि मनुष्यों के पाप तथा गोपियों के वसन, माखन और मन आदि का हरण करने से भी हरि हैं। जो प्रसिद्ध श्रीव्रजेन्द्रनन्दन है। इस अंश में अभेद रूपक नाम का अलंकार है। विभिन्न प्रवृत्ति के निमित्त दो शब्दों की एक अर्थ में वृत्ति-उसे समानाधिकरण कहा जाता है। यही इसका प्रसिद्ध लक्षण है। दोनों पदों का परस्पर समानाधिकरण भी (एकत्व स्थिति) उन दोनों का अभेद ही बोधित कराती है। 'नः' का अर्थ 'अस्माकं' है। यह बहु वचन है—यह इसलिये प्रयुक्त हुआ है कि समान आशयवाले मित्र, पुत्र शिष्य

सजातीयाशयमित्रपुत्रशिष्याद्यपेक्षया, यद्वा, नोऽस्माकं संसारिणां विषयाक्रान्तचित्तानां बहिर्मुखानां तत्प्रभावमविदुषामत्रार्थे बहुत्वमेवंविधानामविरलत्वं शंसति। सदा सातत्येन हृदयकन्दरे हृदयमेव कन्दरं कन्दरा तत्र स्फुरतु प्रकाशतामिति प्रार्थनायां लोट्। अत्र कन्दरपदं हरिपदस्याभिधामूलव्यञ्जनया सिंहत्वं बोधयति, तस्य भगवदसांमुख्यदुर्वारमत्तवारणविदारणाऽसाधारणकारणत्वात्। तथा आत्मनः पर्वतत्व-मारोपयति कठिनत्वं जडत्वं किंचिदचलत्वं च। तथा द्वितीयार्थं वाक्यमेव सर्वमिद स्वस्य स्वदैन्यलालसत्वं च व्यञ्जयति। कथंभूतः—अनर्पितचरीं पूर्वमनर्पिताम् "भूतपूर्वे चरड्" इति चरट्। स्वभक्तिश्रियं स्वस्य आत्मनो भक्तिरानुकूल्येनानुशीलनलक्षणा तस्याः श्रियं सम्पदं समृद्धिमिति यावद्, भक्तिरूपां श्रियमिति वा समर्पयितुं यथावद्वितरणाय चिराद् ब्रह्माहोरात्रसंज्ञकचतुर्युगसहस्रद्वितयलक्षणसमयावसाने कलौ कलेः प्रथमभागे करुणया निरुपाधिककृपया अवतीर्णः, अट्टादवतीर्ण इतिवन्नित्यसिद्ध एव प्राकट्यं प्राप्त इत्यर्थः। अत्र चिरादवतीर्ण इति पदद्वयेनेदानीमिव पूर्वकल्पे श्रीकृष्णावतारानन्तरमवतीर्यार्पितामपि कालबाहुल्या-त्प्रच्छन्नप्रायां पुनरवतरणात्पूर्वं केनाप्यनर्पितां तामेवार्पयितुं पुनरवतीर्ण इति सिद्धान्तविशेषो बोधितः।

---

आदिकों का ग्रहण हो जाए। अथवा हम संसारी विषयाक्रान्त चित्तवाले बहिर्मुख और उन हरि के प्रभाव को न जाननेवाले—यह 'नः' का अर्थ है।

इस अर्थ में बहुवचन ऐसे जनों की अविरलता अर्थात् अधिकता को बताता है। सदा का अर्थ संतत एक क्षण के लिये भी हृदय से ओझल न होना है। हृदय ही कन्दरा है वहाँ स्फुरित (प्रकाशित) हों। यहाँ प्रार्थना में लोट् लकार है। यहाँ कन्दरा पद हरि पद की अभिधामूलक व्यञ्जना द्वारा सिंहत्व का बोधन करता है। क्योंकि उस सिंह की भगवद् विमुख, प्रबल मतवाले गजेन्द्र का विदारण कर देना, रूप असाधारण कारणता (गुफा में हरि का निवास है)।

टि–(भाव यह है कि भक्तों की हृदय गुफा में हरि रूप सिंह का निवास इसलिये अभिप्रेत है कि जीव अज्ञानवश सदा से भगवद् विमुख रहा है, और वह प्रबल मतवाले हाथी के समान उद्दण्ड रहा। ऐसे मतवाले जीव को अभिमुख बनाकर उसकी उद्दण्डता–विमुखता आदि को दूर कर दे,) इस प्रकार हृदय में गुफा के आरोप से अपने आप में पर्वतपन का आरोप भी किया गया है। जैसे पर्वत भी कठिनता-जड़ता और कुछ अचंचलता (स्तब्धता) से युक्त है वैसी हृदय में बताई गई है। यह दूसरे अर्थवाला वाक्य ही इस सबका और अपनी दीन भावना की लालसा को व्यक्त करता है।

टि–(कवि ने इस प्रसंग में हरि शब्द को श्रीगौराँग महाप्रभु एवं श्रीकृष्णचन्द्र, दोनों अर्थों में प्रयोग करके अपनी अद्भुत काव्य निपुणता का परिचय दिया है और 'हरि पदस्य'—अभिधा मूलक व्यञ्जनया' आदि साहित्य के मार्मिक रहस्य को पंडित ही समझेंगे)।

वे हरि कैसे हैं? उनकी विशेषणों द्वारा विशेषता बताते हैं।

'अनर्पितचरीं'—अर्थात्, पहले किसी भी द्वारा जिसका समर्पण रूप प्राकट्य नहीं हुआ। 'चरीं' में चरड् प्रत्यय है। उस अपनी भक्ति श्री को। जिसका अर्थ होता है—'स्वस्य' अपनी अनुकूलता पूर्वक अनुशीलन लक्षणवाली भक्ति—उसकी श्री—संपत्ति स्मृद्धि। अथवा भक्ति रूप श्री को समर्पित करने के लिये अर्थात् यथावत् वितरण करने के लिये।

'चिराद्'=बहुतकाल–जिसका अर्थ देते हैं=ब्रह्मा का अहोरात्र संज्ञक चतुरयुग सहस्र, द्वितय लक्षण—इतना समय समाप्त होने पर।

कलियुग के प्रथम भाग में अहैतुकी कृपा से अवतीर्ण हुए। 'अवतीर्ण' इस पद में यह भाव है कि अपने भवन से उतर आने के समान नित्यसिद्ध ही प्रकट भाव को प्राप्त हुए। यहाँ 'चिरादवतीर्ण' इति,

स च श्रीशचीनन्दनस्यैव प्रेमभक्तिसम्पद्वितरणसामर्थ्यं व्यञ्जयति। अत्र संप्रदानानुक्तिः पात्रापात्रविवेकं विनैव यस्य कस्यापि संप्रदानत्वं व्यञ्जयति। तदुक्तं प्रबोधानन्दसरस्वतीपादैः श्रीचैतन्यचन्द्रामृते—

पात्रापात्रविचारणं न कुरुते न स्वं परं वीक्षते देयाऽदेयविमर्षको नहि न वा कालप्रतीक्षः प्रभुः।
सद्यो यः श्रवणेक्षणप्रणमनध्यानादिना दुर्लभं दत्ते भक्तिरसं स एव भगवान् गौरः परं मे गतिः" ।। इति ।।

कथंभूतां स्वभक्तिश्रियम्—उन्नतोज्ज्वलरसामुन्नतोऽधिक उज्ज्वलरसः शृङ्गाररसो यस्याम्। यद्वा, पूर्वं सद्भिरुज्झितोऽपि उन्नतः शुकनारदादिगेयध्येयतयोन्नतीकृतः उज्ज्वलरसो ययेति बहुव्रीहिः। तेन श्रीकृष्णभक्तिसंबन्धहीनस्योज्ज्वलरसस्य उन्नतेतरता बोधिता। "शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः" इत्यमरः। पुनः कथंभूतः—पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः पुरटं हेम ततोपि सुन्दरी या द्युतिस्तस्याः कदम्बः समूहस्तेन संदीपितः परमप्रकाशं नीतः, तेन साक्षात्कृष्णोऽपि गौरसुन्दरीकृत इति भावः। "निकुरम्बं कदम्बकम्" इत्यमरः। यद्वा, पुरटादपि सुन्दरी द्युतिः कान्तिर्यस्याः सा राधा तस्याः "पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम्" इति, तथा "दृश्यसे पुरतो गतागतमेव मे विदधासि" इति श्रीजयदेवमहानुभावोक्तिरित्या-

---

इन दो पदों से अभिप्राय है, कि इसी समय की तरह ही पूर्व कल्प में श्रीकृष्णावतार के अनन्तर अवतीर्ण होकर अर्पित की गई भी, अधिकतर समय व्यतीत हो जाने से, जो भक्ति प्रच्छन्न-प्राय हो चुकी थी। अपने अवतार से प्रथम जिसका किसी ने भी अर्पण नहीं किया था, उसी को अर्पित करने के लिये पुनः अवतीर्ण हुए, यह एक सिद्धान्त विशेष बोधित किया गया है। इन विशेषणों से, यह सिद्धान्त विशेष श्रीशचीनन्दन के ही प्रेमभक्ति सम्पत्ति के वितरण सामर्थ्य को व्यञ्जित करता है अर्थात् प्रेम भक्ति रूप जो सम्पत्ति विशेष है—उसके दान का जो सामर्थ्य है वह श्रीशचीनन्दन में ही है।

इस प्रसंग में सम्प्रदान की अनुक्ति से पात्र-अपात्र का विचार किये बिना ही जिस किसी को भी सम्प्रदानत्व का व्यञ्जन करती है। अभिप्राय यह है कि इस भक्ति का कौन अधिकारी है यह विचार यहाँ अपेक्षित नहीं समझा गया। इसी बात को श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने श्रीचैतन्य चन्द्रामृत में कहा है।

श्लोकानुवाद—जो पात्र अपात्र का विचार नहीं करते, अपने पराये को नहीं देखते, देय-अदेय वस्तु का विमर्श भी जो नहीं करते, जो प्रभु समय की भी प्रतीक्षा नहीं करते और श्रवण, दर्शन, प्रणाम, ध्यान आदि से भी दुर्लभ भक्ति रस को तुरन्त प्रदान कर देते हैं, वही भगवान् श्रीगौरहरि मेरी परम गति हैं। इति।

अब 'भक्तिश्रियम्' के विशेषण 'उन्नतोज्ज्वल रसाम्' की व्याख्या करते हैं। इति। उन्नत= अधिक उज्ज्वल रस-शृङ्गार रस जिसमें है। अथवा पहले सत्पुरुषों द्वारा त्याग दिया गया भी उन्नत=शुक नारदादि द्वारा गेय-ध्येय रूप उन्नति को प्राप्त हुआ है। उज्ज्वल रस-जिस भक्ति श्री द्वारा ऐसा बहुव्रीहि समास करना चाहिये।

इस प्रसंग में यह बात आई कि श्रीकृष्ण भक्ति के सम्बन्ध से हीन शृङ्गार रस उन्नत नहीं माना जा सकता। अमरकोष में शृङ्गार, शुचि, उज्ज्वल, यह पर्यायवाची शब्द बताए गए हैं। अब हरि के 'पुरट सुन्दर.......' इस विशेषण की व्याख्या करते हैं। पुरट-सुवर्ण, उस से भी सुन्दर जो कान्ति उसका समूह उससे परम प्रकाश को प्राप्त हुए। भाव यह है, साक्षात् श्रीकृष्ण, जो श्यामसुन्दर हैं, वे भी गौर सुन्दर बना दिये गए। इति। अथवा पुरट सुन्दर विशेषण-का दूसरा अर्थ है, सुवर्ण से भी अधिक सुन्दर है कान्ति जिसकी, ऐसी श्रीराधा जिसके सम्बन्ध में श्रीजयदेव महानुभाव कवि के शब्दों में 'पश्यति ....इति, और 'दृश्यसे.... इति, इन उक्तियों से जो स्वप्न जागर, अन्तर बहिः दशा में भाव मुग्धता के कारण, सब प्रकार प्रेमोन्मादवश होने से बार-बार स्फुरित होते हुए कदम्बों के समान, कदम्ब अर्थात् समूह रूप

स्वप्नजागरयोरन्तर्वहि: समन्ततः प्रेमोन्मादपरवशतया मुहुः स्फुरन्त्यास्तस्याः कदम्बैरिव कदम्बैः समूहैर्हेतुभि; श्यामसुन्दरोपि संदीपितः संजातसमीचीनगौरदीप्तिः कृतः। घञन्तस्य संदीपपदस्य तारकादित्वादितच्। पुरटद्युतेस्तस्या बहिः समन्ततः सततस्फूर्त्या तथान्तर्निरन्तरानुध्यानेन पेशस्कृत्कीटन्यायेन स्वयं श्रीव्रजेन्द्रनन्दनतया श्यामसुन्दरोपि गौरसुन्दरो बभूवेति भावः ॥ १ ॥

**आविरस्तु हृदि तापहृत्सुहृद्वल्लवीवलयहृद्विभूषणम् ।**
**सक्तभक्तवरहंससत्कृतं मुक्तिशुक्तिपुटमौक्तिकं महः ॥ २ ॥**

अथ श्रीनन्दनमेव प्रार्थयते, आविरस्तु—इत्यादिना पद्येन। मुक्तिशुक्तिपुटमौक्तिकरूपं महस्तेजो हृदि आविरस्तु इति योजना। मुक्तिरेव शुक्तिपुटं तस्य मौक्तिकं तत्स्वरूपं यन्महः सच्चिदानन्दात्मक-निखिलावयववत्तया स्वप्रकाशम् अतसीपुष्पसंकाशं श्रीकृष्णाख्यं हृदि मन्मनसि आविरस्तु प्रादुर्भावं प्राप्नोतु। अत्राविर्भावस्य तत्कर्त्तृकत्वं वदन् कविः स्वस्य सर्वसाधनलेशहीनत्वं व्यञ्जयन् तस्य करुणा-वरुणालयतां विशदयति (व्यञ्जयति—इति च पाठः)। अत्रोपमानोपमेययोर्मौक्तिकमहसोरनुभयोक्तिमयम-भेदरूपकं (रूपकं तत्त्रिधाऽधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभिरिति रूपकलक्षणम्। शम्भुर्विश्वमवत्यद्य स्वीकृत्य समदृष्टिताम्। अयमस्ति विना शम्भुस्तार्त्तीयीकं विलोचनम्। अयं हि धूर्जटिः साक्षाद्येन दग्धाः पुरः क्षणात्। इति क्रमेण त्रिविधरूपकस्योदहरणानि।) तथा तयोर्मिथः सामाचाधिकरण्यं चाभेदमेवावबोधयति। सभाजनसाफल्यशोभासौभाग्यादयो गुणा मौक्तिकेनैव संपद्यन्ते तथाऽऽत्यन्तिकप्रलयरूपाया मुक्तेरपि ते ते गुणाः श्रीकृष्णस्वरूपसम्बन्धेनैवेत्यभिप्रायः। पुनश्च यथा मौक्तिकहीनाया शुक्तेस्तत्तद्गुणहीनत्वं तथा

---

हेतुओं से श्रीश्यामसुन्दर भी संदीपित कर दिये गये हैं, अर्थात् भली भाँति गौरकान्ति वाले बना दिये गये हैं जिसके (प्रभाव) द्वारा। टि (भाव यह है कि श्रीराधारानी श्रीकृष्ण का सदा ही चिन्तन करती रहती हैं उनके उस चिन्तन में ऐसा प्रभाव है कि श्यामसुन्दर भी उनके अङ्ग की सुवर्ण कान्ति के प्रसार से उन्हीं के समान पीत-गौरवर्ण प्रतीत होने लग जाते हैं)। इति।

यहाँ यह संदीप शब्द 'घञ्' प्रत्ययान्त है और इसमें 'तारकादित्वात्' इससे 'इतच्' प्रत्यय हुआ है। सुवर्ण कान्तिमती श्रीराधारानी के बहिः प्रदेश में चारों तरफ सदा स्फूर्ति द्वारा और अन्तर में निरन्तर भृङ्गी-कीट न्याय से अनुसन्धान द्वारा स्वयं श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर होते हुए भी गौर सुन्दर हो गये। इति ॥ १ ॥

श्लोकानुवाद २—जो संताप को दूर करनेवाला है और शोभन हृदयवाली गोपाङ्गना समूह के के हृदय का भूषण है एवं उस (तेज) में आसक्ति रखनेवाले श्रेष्ठ हंसों के समान भक्तों द्वारा सत्कृत है, तथा मुक्ति रूपी सीपी के पुट में मोती सदृश चमकता हुआ, वह तेज हमारे हृदय में प्रकट हो ॥ २ ॥ इति

टीकानुवाद—अब श्रीनन्दनन्दन से प्रार्थना करते हैं तेजो रूप श्रीकृष्ण हमारे हृदय में प्रकट हों। इसमें आशय वह है कि साधक के पास कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिससे वह उनको प्रकट कर सके, किन्तु वे स्वयं ही कृपा पूर्वक प्रकट हों। यहाँ 'महः' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे कवि का लक्ष्य सच्चिदानन्दात्मक समस्त अवयवों से युक्त स्वप्रकाश श्रीकृष्ण से है। उसके विशेषण चार हैं जो अभेद रूपकालंकार द्वारा वर्णित हैं। 'मुक्तिशुक्तिपुट मौक्तिकम्'—मुक्ति ही शुक्ति (सीपी) है—उसमें मोती के समान वह 'महः' है। अभिप्राय यह है जैसे सीप में मोती रहता है उसी तरह मुक्ति में श्रीकृष्ण हैं। सीपी एक अस्थि विशेष है उसकी महिमा मोती से ही है, उस कारण उसका सत्पुरुषों द्वारा आदर शोभा सौभाग्यादि है, इसी तरह आत्यन्तिक प्रलय रूप मुक्ति के भी वे वे गुण श्रीकृष्णस्वरूप सम्बन्ध से ही हैं।

श्रीकृष्णस्वरूपहीनाया मुक्तेरपीति पूर्वोक्तार्थदृढीकरणाय पुनर्व्यतिरेकमुखेन व्याख्यातम् मुक्तेरात्यन्तिक-प्रलयरूपत्वं व्यक्तं कथयति श्रीमद्भागवतस्य द्वादशस्कन्धपद्यं यथा—

"नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी॥ इति। १२-४-३८

पुनश्च बुद्धीन्द्रियार्थरूपेणेत्यादिभिरात्मानात्मविवेकं प्रदर्श्याह शुकः—

यदैवमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्।
छित्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम्॥ इति॥ १२-४-३४

अथ तयोः साधारणधर्मानाह विशेषणत्रयेण। कथंभूतं तत्—तापहृद् जलजमणितया घर्मनिदाघादितापं हरतीति तथा, तन्महोपि आध्यत्मिकादितापत्रितयहृदित्यालङ्कारिकैरङ्गीकृतेन बिम्बप्रतिबिम्बभावेन विशेषणस्यासाधारणधर्मबोधकत्वम्। पुनः कीदृशम्—सुहृद्वल्लवीवलयहृद्विभूषणं सुहृदः श्रीकृष्णप्रेमवतीत्वेन शुकवामदेवहृदयादपि सुष्ठु समीचीनं तैरपि प्रशंसनीयं हृद् हृदयं यासां ताः, यद्वा, श्रीनन्दनन्दने निभृतानुरागामृतसंभृततया सतीसमूहहृदयेभ्योपि सुष्ठु सुन्दरं ताभिरपि स्पृहणीयं हृद् यासां ताः यद्वा, सुहृदो मित्राणिताश्च ता वल्लव्यो गोपतरुण्यस्तासां वलयं मण्डलं समूह इति यावत्, तस्य हृद् हृदयं तस्य विभूषणं हारादिवत् कन्ठलग्नतया बहुशोभाप्रदम्। मौक्तिकमपि तरुणीनां हारादिरूपतया विभूषणं भवत्येव। यद्वा "तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम्" इत्युक्त्यनुसारेण वल्लवीवलयहृद् विभूषणं यस्येति रसविशेषपोषको बहुव्रीहिरुभयत्रापि। यद्वा, मौक्तिकपक्षेतत्पुरुष एव, महसः पक्षे बहुव्रीहिः। अनेनार्थे-

---

जैसे बिना मोती की सीप के वे वे गुण नहीं होते वैसे ही श्रीकृष्ण स्वरूप के बिना मुक्ति का भी कोई महत्व नही है। मुक्ति का आत्यन्तिक प्रलय रूप भी श्रीमद्भागवत के १२ वें स्कन्ध में बताया गया है—(भा० १२-४-३८) "परीक्षित्! मैंने तुम से चार प्रकार का प्रलय वर्णन किया, उनके नाम हैं—नित्य-नैमित्तिक-प्राकृतिक और आत्यन्तिक। वास्तव में काल की सूक्ष्म गति ऐसी ही है।"

इसी बात को श्रीशुकमहामुनि ने 'बुद्धि........"(१२-४-२३) में यों कहा है—

"परीक्षित्! (अब आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मोक्ष का स्वरूप बतलाया जाता है) बुद्धि इन्द्रिय और उनके विषयों के रूप में उनका अधिष्ठान, ज्ञान स्वरूप वस्तु ही भासित हो रहा है। उन सबका तो आदि भी है और अन्त भी। इसलिये वे सब सत्य नहीं हैं। वे दृश्य हैं और अपने अधिष्ठान से भिन्न उनकी सत्ता भी नहीं है। इसलिये वे सर्वथा मिथ्या-माया मात्र हैं।" यों आत्मानात्म विवेक बताकर कहा है।

विवेकरूपी शस्त्र से मायामय अहंकार के बन्धन काटकर, जिसमें केवल 'अच्युतात्मानुभव' ही अवशेष रह जाता है उसको आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं।

अब अगले विशेषणों से श्रीकृष्ण रूप 'महः और सीपी में जो मोती है उसके साधारण धर्मों का वर्णन किया जाता है, मोती के धारण करने से ग्रीष्म का ताप दूर होता है और श्रीकृष्ण का चिन्तन करने से अधिभौतिकादि ताप दूर होते हैं, मोती को गोपाङ्गनाएँ हृदय में धारण करती हैं इसी तरह वे श्रीकृष्ण भगवान् को हृदय में धारण करती हैं। श्रीकृष्ण प्रेमवती होने के कारण ही शुकदेव-वामदेव आदियों ने उनकी प्रशंसा की है। और श्रीनन्दनन्दन में गाढ़ानुराग होने पर अनसूयादि सती समूह भी उनका आदर करती हैं इसलिये वे शोभनहृदया हैं। अथवा सुहृद शब्द से मित्र—सखा भी लिये जाते हैं—उन दोनों के ही हृदय के श्रीकृष्ण 'कण्ठमग्न' हारादि के समान विभूषण अर्थात् अत्यन्त शोभादायक हैं। इसमें एक बात यह भी है, कि तरुणियों के वक्षस्थल पर विराजमान होने से ही हारादि की शोभा है, ऐसे ही श्रीकृष्ण के विषय में भी समझना चाहिये। तीसरा विशेषण है 'सक्त-भक्तवर हंस सत्कृतं'—साधारण

नोपमानोपमेययोर्विशेषबोधकेन व्यतिरेकालङ्कारो व्यञ्जितः । तल्लक्षणं च—"व्यतिरेको विशेषश्चे दुपमानोपमेययोः" इति । पुनः कथंभूतं सक्तभक्तवरहंससत्कृतं सक्ता आसक्तिमन्तोऽत एव भक्तवरा भक्तोत्तमास्त एव हरिवदननयनकमलावलोकमुदितमनस्तया सारासारविवेकादिसाधारणधर्मैर्हंसास्तैः सत्कृतं निजजीवातुकत्वेन सभाजितम् । हंसा अपि स्वजीवनप्रदत्वेन मौक्तिकं सभा यन्त्येव । पद्ये ऽस्मिन् ग्रन्थारम्भे मङ्गलार्थं तथैवौचित्यानुरोधात् क्षणं यथाकथञ्चिदनुनीयान्तर्नीतिशभावस्य कवेर्महःशब्देनोक्तिः, क्षणावसाने पुनः श्यामसुन्दरस्यापि तस्य महसः सितेन शुक्तिपुटमौक्तिकेन । अनुभयोक्तिमयमभेदरूपकं तु तस्य सद्व्रतत्वेपि सुपात्रसंगमेपि चञ्चलत्वं तथाऽऽविद्धत्वं (भावितान्तःकरणत्वमित्यपि पाठः ।) शुक्लत्वेन नीरागत्वं च व्यञ्जयद् ग्रन्थकर्त्तुस्तद्बहुवल्लभत्वस्फूर्त्तिस्वभावसुलभ मनागमर्षलेशपेशलभानविशिष्टान्तःकरणत्वं व्यञ्जयति । कवेर्भावविशेषजिज्ञासा चेत्तदनुभावरूपं तत्कृतं मुकुन्दकुन्दाष्टकं द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

**विधुतविषयलेशानप्रवृत्तिप्रवेशानपिविषयविशेषासक्तितत्त्वोपदेशान् ।**
**भवविपदवसादान् हृद्यहो गुप्तमुप्तप्रमदमदविषादाँस्तीर्थपादान्नमामि ॥ ३ ॥**

एवं पद्यद्वयेन भगवत्स्फूर्तिं संप्रार्थ्य गुरून् प्रणमति—विधुतेति । अहं तीर्थपादान् श्रीगुरून् तच्चरणान् वा नमामि । प्रथमार्थे पादपदोपादानं पुनरर्थद्वयेपि बहुत्वं परमादरेणैव । साक्षात्तन्नामानुक्तिस्तु "आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च । श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः" ॥ इति स्मृतिवाक्यानुरोधात् । कथंभूतान्—विधुतविषयलेशान् विधुतो निष्कृतो (न्यक्कृतः—इत्यपि पाठः ।) विषयाणां

---

भगवान् का भजन करनेवाले भक्त गिने जाते हैं और उनमें आसक्ति रखनेवाले भक्तवर अर्थात् उत्तम भक्त माने जाते हैं, वे श्रीकृष्ण के मुखकमल-नयनकमल के दर्शन से अत्यन्त प्रसन्न होते हैं अतएव सारासार विवेक आदि साधारण धर्मों से हंसों के जैसे हैं। ऐसे भक्तों के द्वारा श्रीकृष्ण अपने जीवन से भी अधिक सभाजित होते हैं। हंस भी अपना जीवनप्रद होने से मोती का आदर करते हैं। कवि जब मंगलाचरण करने लगे और अनुनय विनय करने पर एक क्षण के लिये उनके हृदय में ईशभाव प्रकट हुआ—इसी हेतु उन्होंने श्रीकृष्ण के लिये 'महः' शब्द का प्रयोग किया है। क्षण भर के बाद ही फिर श्यामसुन्दर का भी उस महः के साथ सीपी के मोती की उज्ज्वलता से श्वेत भाव व्यक्त हुआ जिसका अभिप्राय यह है, कि सुपात्र की संगति प्राप्त होने पर भी चंचलता और अविद्धता तथा शुक्ल होने से राग राहित्य व्यक्त होता है कि श्रीकृष्ण के प्रति बहुवल्लभत्व की स्फूर्ति स्वभाव सुलभ है। इससे व्यक्त होता है कि उनके प्रति कवि के हृदय में थोड़ा क्रोध सा व्यक्त हो जाता है। ऐसे भावों की विशेष जानकारी के लिये कवि का मुकन्द-कुन्दाष्टक ग्रन्थ देखना चाहिये ॥ इति ॥ २ ॥

इस प्रकार पहले दो पदों के द्वारा भगवत स्फूर्ति की प्रार्थना करके अब गुरुओं को प्रणाम करते हैं। श्लोकार्थ ३—जिन्होंने विषय के लेश से भी सम्बन्ध नहीं रखा है, और किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति में जिनका संसर्ग नहीं होता है फिर भी विषय विशेष की आसक्ति के तत्व अर्थात् भगवदनुरागादि के जो उपदेश देते हैं एवं जिनसे संसार की समस्त विपत्तियें दूर हो चुकी हैं और आश्चर्य है कि फिर भी जिनके हृदय में गुप्त रीति से प्रकट हो रहा उच्चकोटि का भगवद् भजन मद और उसके अभाव में विषाद दृष्ट होता है, उन गुरुओं को, जिनके चरण तीर्थ समान पवित्र करनेवाले हैं मैं प्रणाम करता हूँ ॥ इति ॥ ३ ॥

टीकानुवाद—मैं श्रीगुरुओं को जो तीर्थ के समान हैं प्रणाम करता हूँ। यहाँ गुरुओं का नाम इसलिये नहीं लिखा कि अपना नाम, गुरु का नाम, अतिकृपण का नाम, बड़े पुत्र का नाम और स्त्री का नाम कल्याण कामी पुरुष को नहीं लेना चाहिये। इस स्मृति वाक्य से वे गुरुजन शब्द स्पर्श आदि विषयों से जिनका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है वे सर्वथा निवृत्ति निरत है ऐसा होने पर भी आश्चर्य्य की बात है

शब्दस्पर्शादीनां लेशोपि यैस्तान्। हेतुगर्भं विणेषणान्तरम्—न प्रवृत्तिमार्गे प्रवेशो येषां तान् निवृत्ति-निरतत्वादिति भावः। तथाभूतानपि अहो इत्याश्चर्ये विषयविशेषासक्तितत्त्वोपदेशान् जीवस्य दासत्वान्नैसर्गिकप्रेम्णो विषयविशेषे श्रीकृष्णाख्ये या आसक्तिः सैव तत्त्वं परमपुरुषार्थतया परमसुखरूपं तस्यैवोपदेशः शिक्षणं प्रपन्नेषु येषां तान्। पुनः कथंभूतान्—भवविपदवसादान् भवस्य संसृतेर्या विपदः अहन्ताममतामूला हर्षविषादप्रभृतयस्तासामवसादोऽवसादनं येभ्यस्तथाभूतानपि अहो चित्रं गुप्तं निभृतं यथा स्यात्तथा हृदि उप्ता भूमौ बीजवत् शतगुणवृद्धचर्थं निक्षिप्ताः प्रमदमदविषादा यैस्तान्। प्रमदो हर्षः, मदविषादौ स्पष्टौ, उपलक्षणं चैतत्सर्वसंचारिणां तेषां प्रणयसागरतरङ्गत्वात्प्रणये सति स्वयमेव ते संचारिणः सर्वेपि संभवन्ति शिक्षणं विनैवेति गुप्तमुप्तत्वं व्यक्तमेवेति भावः। पद्येऽस्मिन् विरोधाभासो नामालङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—"आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते" इति॥ ३॥

**कृष्णं कृष्णपरिष्वङ्गसतृष्णं गौरसुन्दरं।**
**धन्यं कीर्तिसुतानन्यमन्यं चैतन्यमाश्रये॥ ४॥**

एवं तावत्सन्दर्भव्याख्यानारम्भे पद्यद्वयेन चैतन्यकृष्णचन्द्रयोर्मनसि स्फूर्त्तिं संप्रार्थ्य पुनरेकेन पद्येन गुरुपादान्नमस्कृत्य प्रारीप्सितस्य प्रेमपत्तनाभिधानस्यात्यन्ताऽपूर्वाद्भुतसन्दर्भस्य निष्प्रत्यूहपरिसमाप्तिकारणं शिष्टपरम्पराप्राप्तं हरिगुरुचरणाश्रयणलक्षणं मङ्गलमाचरति रसिकोत्तंसो नाम कविप्रवरः। तन्नामप्राप्तिनिदानमग्रतो व्यक्तं भावि। कृष्णमिति। चैतन्यं तन्नाम्ना ख्यातं कलियुगपावनावतारं महाप्रभुं कृष्णं

---

कि विषय विशेष की आसक्ति के तत्व का उपदेश करते हैं। जीव के (नित्य) दास होने के कारण स्वाभाविक प्रेम की प्रवृत्ति विषय विशेष श्रीकृष्ण में है यही आसक्ति परम पुरुषार्थ मानी गई है, और इसी सुखरूप तत्व का उपदेश शरणागत, लोगों को देते हैं। तथा वे जन्म-मरण की विपत्ति, जो अहंता ममता अथवा हर्ष-विषाद आदि मूलक हैं उससे पार हो गये हैं। फिर भी आश्चर्य की बात है कि उनकी हृदय भूमि में सौ गुण वृद्धि को प्राप्त हुए श्रीकृष्ण दर्शन विषयक हुए मद, वियोग दशा में विषाद आदि संचारी भाव बिना शिक्षा के ही उदय होते रहते हैं।

प्रमद-हर्ष, मद-विषाद स्पष्ट ही हैं। यह समस्त संचारी भावों के उपलक्षण है। क्योंकि वे सब प्रेम समुद्र की तरंगें ही हैं। प्रेम के उदय होने पर वे सब संचारी अपने आप ही बिना सिखाये ही उदय होते हैं। यही बात "गुप्तम् उप्तम्" अर्थात् गुप्त वस्तु के प्रकट होना, से व्यक्त होती है। इस पद्य में विरोधाभास नाम का अर्थालंकार है। उसका मूल में अर्थ यह है कि विरोध का जहाँ आभास अर्थात् प्रतीति हो उसे विरोधाभास कहते हैं॥ इति॥ ३॥

श्लोकार्थ ४—मैं श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु का आश्रय लेता हूं, जो श्रीकृष्ण के सम्मिलन के लिये सदा लालायित हैं, एवं गौर सुन्दर हैं। कीर्तिसुता श्रीराधारानी की प्रबल उपासनावश अपने आपको उनसे अभिन्न मानते हैं अतएव धन्य हैं॥ इति॥ ४॥

टीकानुवाद—इस प्रकार संदर्भ व्याख्यान के आरम्भ में चैतन्यचन्द्र और कृष्णचन्द्र की मन में स्फूर्ति के लिये प्रार्थना करके फिर एक पद्य में गुरु चरणों को नमस्कार करके प्रारम्भ किये जानेवाले "प्रेम पत्तन" नाम के अत्यन्त अपूर्व,अद्भुत संदर्भ का समस्त विघ्नों की निवृति के लिये शिष्ट परम्परा प्राप्त हरिगुरु चरणाश्रय रूप मंगल का उल्लेख करते हैं। इसके कर्त्ता रसिकोत्तंस नामवाले कविप्रवर हैं। उनका यह नाम क्यों पड़ा इसका कारण आगे स्पष्ट होगा।

श्रीनन्दनन्दनमाश्रये। अत्र पदद्वयस्य मिथो रसं फलमितिवत् सामानाधिकरण्येनाभेदात् कृष्णचैतन्याभिधानं महाप्रभुमित्यर्थः। अनेन सदानन्दतया प्रसिद्धार्थस्य कृष्णपदस्य चैतन्यपदसामानाधिकरण्येन परमपूर्णतमत्वमस्य व्यञ्जितम्। तदुक्तं कृष्णं प्रति प्रबोधानन्दसरस्वतीपादैः श्रीचैतन्यचन्द्रामृते—

"क्व सा निरंकुशकृपा क्व तद्वैभवमद्भुतम्।
क्व सा वत्सलता शौरे यादृग्गौरे तवात्मनि" ॥ इति ॥

पुनस्तेनैव कृष्णपदेन अस्य मरकतमणिमञ्जुलाङ्गत्वं तेन चैतन्यपदस्य निर्विशेषपरत्वं व्यावृत्तम्। पुनः कीदृशम्—गौरसुन्दरं [गौरश्चासौ सुन्दरस्तमिति] कर्मधारयः। सुवर्णवर्णाङ्गत्वेनातिसुन्दतमित्यर्थः। ननु मरकतमणिमञ्जुलाङ्गत्वं सुवर्णवर्णाङ्गत्वं च युगपदेकस्यातिविरुद्धमित्यपेक्षायां पुनर्विशिनष्टि—कीर्तिसुतानन्यमन्यमिति। कीर्त्तिसुता श्रीगान्धर्विका तया सह आत्मानमनन्यं भेदशून्यं मन्यते इति तथा। सुवर्णवर्णाङ्गयास्तस्याः निरन्तरानुध्यानेन सुवर्णवर्णाङ्गत्वं तेनातिसुन्दरत्वं च न विरुद्धमिति भावः। तदुक्तं श्रीभागवते एकादशे—११-५-३२

"कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः" ॥ इति ॥

---

श्रीचैतन्य नाम से प्रसिद्ध कलियुग पावनावतार महाप्रभु कृष्ण और श्रीनन्दनन्दन का मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ। यहाँ पर दो बार कृष्ण पद का उल्लेख 'रसं फलं' के समान एकाधिकरणतावश अभेद से कृष्ण चैतन्य नामवाले महाप्रभु का ग्रहण करना चाहिये। इससे सदानन्द रूप से प्रसिद्ध कृष्ण पद का चैतन्य पद के साथ ऐक्य होने से परिपूर्णतमत्व व्यक्त होता है। इस बात को कृष्ण के प्रति श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने अपने चैतन्य चरितामृत में बताया है।

श्लोकार्थ—वह निरंकुशता कहाँ, वह अद्भुत वैभव कहाँ, तथा वह वत्सलता भी शौरी (कृष्ण) में कहाँ, जैसी उनकी आत्मा गौर (हरि) में है।

फिर उसी कृष्ण पद से इनकी मरकतमणि के समान सुन्दर अङ्गता व्यक्त होती है, इससे चैतन्यपद की निर्विशेष-परता का व्यावर्तन हो जाता है। वे चैतन्य महाप्रभु गौर सुन्दर हैं, जिसका अभिप्राय है, गौर हुए सुन्दर (गौरश्चासौ सुन्दरस्तेति, कर्म धारयः)। अङ्गों के सुवर्ण के समान चमत्कृत होने से जो अति सुन्दर हैं। जिज्ञासा हो सकती है? कि हरित मणि के समान अङ्गों की सुन्दरता होना और सुवर्ण वर्ण के समान चमत्कृत होना, ये दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये उनका विशेषण है, 'कीर्तिसुतानन्यमन्यम्'—कीर्तिसुता श्रीवृषभानुनन्दिनी उनके साथ अपने आपको अनन्य अर्थात् भेद रहित मानते हैं॥ इति॥

क्योंकि सुवर्ण के समान अंगवाली श्रीराधाजी का निरन्तर ध्यान करने के कारण सुवर्ण-वर्णता हो जाती है, और इसी से अति सुन्दर हैं ही अतएव कोई विरोध नहीं। इस बात को श्रीमद्भागवत के ११-५-३२ में कहा भी है—

श्लोकार्थ—कलियुग में भगवान् का श्रीविग्रह होता है कृष्णवर्ण—काले रंग का, जैसे नीलम मणि में से उज्ज्वल कान्ति धारा निकलती रहती हैं. वैसे ही उनकी अङ्ग की छटा भी उज्ज्वल होती है। वे हृदय आदि अङ्ग, कौस्तुभ आदि उपाङ्ग, सुदर्शन आदि अस्त्र और सुनन्द प्रभृति पार्षदों से संयुक्त रहते हैं। कलियुग में श्रेष्ठ बुद्धि सम्पन्न पुरुष ऐसे यज्ञों द्वारा उनकी आराधना करते हैं जिसमें नाम, गुण, लीला आदि के कीर्तन की प्रधानता रहती है। ११-५-३२। और भी कहा गया है कि—

तथा— "अन्तःकृष्णं बहिर्गौरं दर्शिताङ्गादिवैभवम् ।
कलौ सङ्कीर्त्तनाद्यैः स्मः कृष्णचैतन्यमाश्रिताः" ।। इति च ।

तथा तद्भावाप्तिरेव तत्प्राकट्यस्य मुख्यं प्रयोजनमिति अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारीत्यादौ व्यक्तमेव । तथैवोक्तं श्रीकृष्णदासकविराजमहाशयैः श्रीचैतन्यचरितामृते—

"राधा कृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मादेकात्मानावपि भुवि परं देहभेदं गतौ तौ ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्द्वयं चैक्यमाप्तं जातं राधाद्युतिततियुतं नौमि कृष्णस्वरूपम्" ।। इति ।

('राधाभावद्युतिशवलितम्' प्रचलित पुस्तकेऽस्त्ययं पाठः) अथैवोक्तं श्रीप्रबोधानन्दपादैरपि श्रीचैतन्यचन्द्रामृते—

"सिंहस्कन्धं मधुरमधुरस्मेरफुल्लाननान्तं दुर्विज्ञेयोज्ज्वलरसमयाश्चर्यनानाविकारं ।
बिभ्रत्कान्ति विकचकनकाम्भोजशोभाभिरामामेकीभूतं वपुरवतु वो राधया माधवस्य" ॥ इति ।

अत एव तस्य कृष्णस्यैव परिष्वङ्गायालिङ्गनाय सतृष्णं स्वातिवर्षासमयचातकवदत्यन्तार्तिमन्तमत एव धन्यं निखिलावतारप्रकाशान्तरस्वभक्तवृन्देभ्यः श्रेष्ठं क्रमेणैश्वर्यांशव्यक्त्या केवलप्रेमासमवेतत्वेनाशक्तत्वादनौचित्याच्चान्यत्र तादृशभावाभावात् ।। ४ ।।

---

**श्लोकार्थ**—अन्तर से जो कृष्ण हैं और अपने अङ्ग आदियों का वैभव जिन्होंने प्रदर्शित किया है, कलियुग में संकीर्तन आदियों के द्वारा हम उन श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु का आश्रय ग्रहण करते हैं । इति—

टि (यहाँ अङ्गादि शब्द से और ऊपर कहे गये सांगोपांगादि शब्द से उनके अनन्य अनुयायी श्रीगोस्वामीपाद सनातन आदि भक्ति विद्वान उनके संप्रदायानुसार लिये जाते हैं) । इसके अतिरिक्त तद्भाव प्राप्ति अर्थात् श्रीराधा तत्वादि प्राप्ति ही उनके प्राकट्य का मुख्य प्रयोजन है । यह बात 'अपरिकलित पूर्वः कश्चमत्कारकारी' इत्यादि प्रसंगों में स्पष्ट है । इसी बात को श्रीकृष्णदास कविराज महाशय ने भी अपने श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा है ।

**श्लोकार्थ**—श्रीराधा श्रीकृष्ण प्रेम की विकृति है और आह्लादिनी शक्ति है, इस तरह से दोनों एक ही होने पर भी लोक में दो रूप से प्रकट हुए हैं । वे ही दोनों अब ऐक्य भाव को प्राप्त होकर चैतन्य नाम से प्रकट हुए हैं—उन राधाकान्ति समूह विशिष्ट कृष्ण स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ । इति । किन्हीं पुस्तकों के पाठ भेदवश राधा भाव की कान्ति से मिले हुए ऐसा अर्थ भी है ।

श्रीप्रबोधानन्दपाद ने भी चैतन्य चन्द्रामृत में ऐसा ही माना है—

**श्लोकार्थ**—श्रीराधारानी के साथ अत्यन्त सम्मिलित भगवान् माधव का यह विग्रह आपकी रक्षा करे, जिनका स्कन्ध सिंह के समान उन्नत है—अत्यन्त मधुर मुस्कान से जिनका मुख प्रसन्न है, अनुभव में न आनेवाले मधुर रस के आश्चर्योत्पादक अनेक विकारों से जो युक्त हैं, और खिले हुए सुवर्ण कमल की शोभा को शोभित करनेवाली कान्ति को जिन्होंने धारण किया है । इति । इसीलिये श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीकृष्ण के ही आलिंगन के लिये ऐसे सतृष्ण हैं, जैसे स्वाति नक्षत्र की वर्षा के समय चातक अत्यन्त आर्तिमान होता है और इसी कारण वे धन्य हैं । अन्यान्य समस्त अवतारों का प्रकाश एक दूसरे के अन्तर से अपने-अपने भक्त समूह के लिये श्रेष्ठ है क्योंकि उनमें क्रम-क्रम से ऐश्वर्य अंश की भी अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु केवल प्रेम अथवा अनुराग के सम्बन्ध में वे असमर्थ रहे हैं वैसा होना अनुचित भी था, और वैसा भाव भी उनमें नहीं था, (अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु में राधाकृष्ण विषयक प्रेम की प्रगाढ़ता अथवा तद्रूपता अवतारान्तरों में नहीं रही । यद्यपि ऐसा है तथापि समस्त भगवद् अवतार वैष्णव शास्त्रानुसार एक समान माने जाते हैं अन्तर इतना ही है परिकर अथवा साधक विशेष के भाववश उनमें उस उस रस आह्लाद आदि तत्वों का उदय विशिष्ट होता है) ।। इति ।। ४ ।।

अस्यानल्पं जल्पतो दासभावाद् गूढं लीढोच्छिष्टबिन्दून्मदस्य ।
अन्तःपीतप्रेममाध्वीकघूर्णावन्तः सन्तः साहसं मा हसन्तु ॥ ५ ॥

इदानीं निजविनयाविर्भावार्थं सज्जनसार्थमर्थयते—अस्येति । अस्य मल्लक्षणस्य जनस्य अनल्पं बहु यथा भवति तथा जल्पतः विप्रलपतः सतो रस विशेषभावनाचतुराः साहसं मा हसन्तु । कथं भूताः सन्तः—अन्तरिति, अन्तः अन्तःकरणे एव पीतस्य प्रेममाध्वीकस्य या घूर्णा तद्वन्तः, यद्वा, अन्तरेव पीता निगीर्णा प्रेममाध्वीकस्य या घूर्णा तद्वन्तः । कथंभूतस्यास्य मम—दासभावाद् दासस्वभावाद् गूढ निभृतं लीढमास्वादितमुच्छिष्टं सतां पानपात्रलग्नं यदबिन्दुमात्रम् अर्थान्माध्वीकस्यैव तेनैवोन्मदस्य मत्तस्य । प्रभोरुच्छिष्टपात्रलग्नं वस्तु प्रभुणा दत्तमपि निभृतं भुज्यत एवेति दासस्वभावः ॥ ५ ॥

मतिरतियुवतिपतिर्यत्पालयिता मधुरमेचको राजा ।
गगने विलसति नगरं नैकशिरोमन्दिरं नाम ॥ ६ ॥

अथ कविः परमप्रेमपीयूषरससारसर्वस्वमाधुरीमनास्वादितचरीं सजातीयाशयानास्वादयिष्यन् विधिकिङ्करार्कचातुर्मास्यमनन्यरसिकम्मन्यानामवनामितास्यं रसिकसमूहोपास्यं रसललितलास्यगर्भं प्रेमपत्तनाभिधं परमाद्भुतं सन्दर्भमारभते—मतीत्यादिना पद्येन ।

---

**श्लोकार्थ ५**—सन्तों के ही मद के कुछ एक उच्छिष्ट बिन्दुओं को ग्रहण करके, दास भाव से अधिक जल्पना करनेवाले, मेरे इस साहस के प्रति वे सन्त, जिन्होंने अपने अन्तःकरण में प्रेम के माधुर्य का पूर्णतया पान किया है अर्थात् उसी के प्रभाव से जो सदा प्रेम में उन्मत्त रहते हैं, उपहास नहीं करें ॥ इति ॥ ५ ॥

**टीकानुवाद**—अब अपने विनय को प्रकट करने के लिये सन्त समूह की प्रार्थना करते हैं । मैं बहुत उद्धततापूर्वक अनर्गल विप्रलाप कर रहा हूं—मेरे इस साहस के प्रति रस विशेष भावना में चतुर लोग उपहास न करें । सन्तों का यह स्वभाव ही है कि वे अन्तःकरण में ही पिये हुए प्रेम माध्वीक का आस्वादन करते हैं और उसी में मतवाले की तरह मस्त रहते हैं । पर किसी को यह मालूम नहीं होता कि ये इतने गम्भीर प्रेम समुद्र में निमग्न हैं । परन्तु मैं तो दास स्वभाव वश उसके पान पात्र (कटोरी ग्लास आदि) में लगे हुए कुछ उच्छिष्ट बिन्दु मात्र का ही आस्वादन करके और उसी उन्माद से यह सब कहने जा रहा हूँ । यद्यपि प्रभु के उच्छिष्ट पात्र में लगी हुई वस्तु—दास को जो प्रभु के द्वारा ही दी जाती है—वह उसे एकान्त में बैठकर चुपचाप सेवन करता है—तथापि मैं उससे विपरीत दशा में प्रलाप कर रहा हूँ । अतः सन्तजन मेरे इस साहस का उपहास न करें अभिप्राय यह है कि सन्तों से ही उनकी इस रसात्मक प्रिय वस्तु को प्राप्त करके—उसी भाववाले प्रेमियों के प्रति ही वह वितरण की जा रही है । इति ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ ६**—आकाश में एक नगर सुशोभित है, जिसके अनेक शिखिर हैं, जिसका पालन करने वाला मधुर मेचक नाम का राजा है वह युवती मति और रति का पति है ॥ ६ ॥

**टीकानुवाद**—अब कवि प्रेमामृत रस के सर्वस्व की मधुरी को जिसका अब तक किसी को आस्वादन नहीं मिला, उसका अपने समान जातीय अभिप्राय वालों को आस्वादन कराने के लिये प्रेमपत्तन नाम के अति अद्भुत संदर्भ का आरम्भ करते हैं । जो रसिक समूहों के द्वारा भी उपास्य और रस के ललित नृत्य से युक्त है, तथा विधि के किंकर चौमासे के आक सदृश अपने को बलात् रसिक माननेवालों के मुख को नीचा कर देने वाला है ।

गगने नगरं विलसतीति सम्बन्धः। गगने सर्वोपरि पातालादिवैकुण्ठावधि निखिललोकनिवासिभिः शेषकायाधववल्ल्युद्धवध्रुवनारदविधातृश्रीप्रभृतिभिः सर्वरसविशेषभावनाभिज्ञैः सर्वोपरिविराजमानतया मनसि निश्चितमित्यर्थः। यथोक्तं श्रीब्रह्मणा तृतीये ३-१५-२५ देवान्प्रति—"यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृतभानुवृत्या दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः" इति। अत्र वैकुण्ठविशेषण न उपरि वर्त्तमानमिति तैर्व्याख्यातत्वात् तस्याप्यलभ्यत्वमायातम्। किं पुनस्तन्नगरस्येति कैमुत्यं तस्य तदंशित्वात्। यद्वा, गगने सर्वोपरितया दूरस्थत्वादत्यन्तोन्नतिमतामपि हस्ताऽग्राह्यमित्यर्थद्वयेनास्य दुर्लभत्वमुक्तम्। यद्वा, गगने रसज्ञानां हृदयाकाशे तत्रैव सदा स्थितं न तु तैर्बहि प्रकटितमित्यर्थः। एतेन तस्य दुरूहत्वादनधिकारित्वाद्रहस्यत्वाच्च सुगोप्यत्वमुक्तम्।

नगरं विलसति विराजत इति वर्त्तमानप्रयोगेण तस्य नित्यत्वमप्युक्तम्। एतेनैव वस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलान्तरमपि सूचितम्। तन्नगरं विशिनष्टि—मतीति। नामेति प्रसिद्धौमधुरमेचकनाम्ना प्रसिद्ध इत्यर्थः। [यत्पालयिता] यत्पालनकृत् मधुरः श्रृङ्गाररसः स एव मेचकः श्यामः, यद्वा, मधुरः श्रृङ्गाररसमयः अत एव मेचकः श्यामसुन्दरः श्रीकृष्ण इति शब्दमूलव्यञ्जनया मुख्यार्थान्तरत्वमुक्तम्, "श्रृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव" इति श्रीजयदेवोक्तेः। तेन श्रृङ्गाररसात्मको व्रजनवयुवराज एव तन्नगरपालकः, अत एव राजा—

---

आकाश में (एक) नगर सुशोभित हो रहा है, यह श्लोक का सम्बन्ध है। आकाश से अभिप्राय है सबसे ऊपर, पाताल से लेकर वैकुण्ठ पर्यन्त समस्त लोक निवासियों के द्वारा अर्थात् शेष, प्रह्लाद, बलि, उद्धव, ध्रुव, नारद, ब्रह्मा, श्री आदि द्वारा भी, जो कि समस्त रसों की भावना के ज्ञाता हैं, उनके मन द्वारा जिस (नगर) की सर्वोपरि विराजमानता सुनिश्चित है। जिसका स्वयं ब्रह्माजी द्वारा श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध (३-१५-२५) में देवताओं के प्रति वर्णन किया गया है।

**श्लोकार्थ**—देवाधिदेव श्रीहरि का निरन्तर चिन्तन करते रहने के कारण, जिनसे यमराज दूर रहते हैं, आपस में प्रभु के सुयश की चर्चा चलने पर अनुराग जन्य विह्वलतावश जिनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है तथा शरीर में रोमाञ्च हो जाता है और जिनके से शील-स्वभाव की हम लोग भी इच्छा करते हैं–वे परम भागवत ही हमारे लोकों से ऊपर उस वैकुण्ठधाम में जाते हैं। ३-१५-२५। इति।

इसमें वैकुण्ठ का का विशेषण 'न उपरि वर्त्तमानमिति' ऐसा व्याख्यान होने से उसकी अलभ्यता ही सिद्ध होती है। फिर नगर की विशेषता में तो कहना ही क्या है, क्योंकि वह तो उसका (सहज) अंशी ही है। अथवा आकाश में स्थित होना, सबसे ऊँचे होने के कारण उसका दूरतर होना आदि बहुत ऊँचे जनों के लिये भी अर्थग्राही है। इन दो अर्थों से यह सिद्ध हुआ कि वह नगर अत्यन्त दुर्लभ है अथवा यह भी इससे आशय है कि गगन का अर्थ रसिकों का हृदय है। वह नगर सदा वहीं स्थित रहता है, बाहिर प्रकट नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि वह नगर दुरूह होने के कारण अनधिकारियों के द्वारा अप्राप्य और रहस्यमय होने से सुगोप्य भी है।

'नगरं विलसति.......' इति ऐसे वर्तमान कालिक प्रयोग से उस नगर की नित्यता सूचित की गई है, और इसी से वस्तु निर्देशात्मक दूसरा मगलाचरण भी सूचित हो गया। अब उस नगर की विशेषता बताते हैं। उस नगर का पालन करनेवाला प्रसिद्ध मधुरमेचक नाम का राजा है, मधुर श्रृङ्गार रस का नाम है वही मेचक अर्थात् श्याम है—अलङ्कारिकों ने श्रृङ्गार रस का रङ्ग श्याम माना है अथवा मधुर अर्थात्—श्रृङ्गार रस—मय है इसलिये मेचक है, जिसका अभिप्राय हुआ वह श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही हैं। इसलिये शब्दमूलक व्यञ्जना शक्ति द्वारा मुख्यार्थ की अपेक्षा दूसरा अर्थ बताया गया है। श्रीकृष्ण के विषय में गीत-गोविन्दकार श्रीजयदेव ने—"श्रृङ्गारः सखि मूर्त्तिमानिव" इति ऐसा वर्णन किया ही है। इसलिये श्रृङ्गार रसात्मक, और व्रज नव युवराज ही उस नगर का पालक है ऐसा समझना चाहिये,

सर्वावतारेभ्यः स्वप्रकाशान्तरेभ्यश्च—शुचिरसमयत्वेन राजते—इति । तदुक्तं श्रीमुनीन्द्रेण दशमे १०-३३-७ "तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः" इति । यथा "श्रृङ्गारसारसर्वस्वम्" ९३ (रससर्वस्वम्—इत्यपि पाठः ।) इति श्रीबिल्वमङ्गलोक्तेश्च । तथोक्तं कृष्णदासकविराजमहाशयैश्चैतन्यचरितामृते—

राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः ।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः" ।। इति ।।

"रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थिति" रित्युक्तेश्च । पुनः कीदृशः—मतिरतियुवतिपतिः मतिरतिसंज्ञके युवती तयोः पतिः । अत्र मतिरतिपदयोः क्रमेण पूर्वोत्तरविन्यासात् मतेर्ज्येष्ठत्वं रतेः कनिष्ठत्वं व्यञ्जितम् । तत्रापि द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य युवतिपदस्य पूर्वपदद्वयसम्बन्धसाम्येपि रतियुवति-पदयोः प्रत्यक्षात्यन्तसंयोगाद्रतेर्नवयुवतित्वं ध्वनितम् । तेन च बक्ष्यमाणं तस्यां नृपस्यात्यन्तासक्ति-मत्त्व युक्तमेवेत्यनुध्वनिः । अत्र श्रृङ्गारपक्षे मतिर्नाम रतेः सपत्नी श्रीकृष्णपक्षे निजैश्वर्यानुसन्धानम् । रतिस्तु रसपक्षे तत्स्थायिभावाख्या, श्रीकृष्णपक्षे महाभावरूपा श्रीराधैव "महाभावस्वरूपेयम्" इत्युक्तेः । रतेर्महाभावांकुररूपत्वात्कार्य्यकारणयोरभेदोक्त्या रतिः श्रीराधैवेति व्याख्यातम् । तदासक्त्या मधुरमेचकेन

---

राजा का अर्थ भी यही है । समस्त अवतारों की अपेक्षा और स्वप्रकाशान्तरों की भी अपेक्षा शुचि रसमय होने से ही वह "राजते" अर्थात् प्रकाशमान है । इस बात को मुनीन्द्र श्रीशुकदेवजी ने भागवत १०-३३-७ में भी कहा है । श्लोकार्थ—यमुनाजी के तीर पर रमणरेती में व्रजसुन्दरियों के बीच में भगवान् श्रीकृष्ण की बड़ी अनोखी शोभा हुई । ऐसा जान पड़ता था मानो अगणित पीली-पीली दमकती हुई सुवर्ण मणियों के मध्य में ज्योतिर्मयी नीलमणि चमक रही हो ।। इति ।।

श्रीबिल्वमंगल ने भी श्रीकृष्ण कर्णामृत में ९३ श्लोक में कहा है श्लोकार्थ तथा मूल श्लोक—

श्रृङ्गार रस (सार) सर्वस्वं शिखिपिच्छ विभूषणम् ।
अङ्गीकृत नराकारमाश्रये भुवनाश्रयम् ।। ९३ ।। इति ।।

मनुष्याकृति को धारण करनेवाले और त्रिलोकी के आश्रय स्वरूप–इस मोर मुकुटधारी श्रृङ्गार रस (सार) सर्वस्व की मैं सर्वात्म भाव से शरण हूँ । इति ।

कविराज श्रीकृष्णदास महाशय ने भी चैतन्य चरितामृत में बताया है । श्लोकार्थ—जब श्रीकृष्ण राधारानी के संग विराजते हैं तब वे मदन मोहन अर्थात् काम को मोहित करनेवाले, परन्तु जब वे उनके बिना होते हैं तब विश्व को मोहित करनेवाले भी मदन से मोहित होते हैं । इति । एक उक्ति यह भी है कि रस के द्वारा श्रीकृष्ण के रूप को उत्कृष्ट बना दिया जाता है यह भी रस की एक स्थिति मानी गई है ।

वह राजा (मधुरमेचक) कैसा है । वह मति और रति नाम की दो युवतीयों का पति है । यहाँ मति और रति का आगे पीछे उल्लेख मति का बड़ा और रति का छोटा होना व्यक्त करता है । "द्वन्द्वान्ते" इस व्याकरण के नियमानुसार युवति पद का मति और रति दोनों के साथ समान सम्बन्ध है ।

तथापि रति और युवती पदों का प्रत्यक्ष अत्यन्त संयोग होने के कारण रति का नव युवतीपना ध्वनित होता है । इसीलिये अगले वर्णन के अनुसार राजा की अत्यन्त आसक्ति का होना ठीक ही है, यह हुई अनुध्वनि । यहाँ श्रृङ्गार पक्ष में रति मति की (सौत) सपत्नि है जिससे श्रीकृष्ण के पक्ष में अपने ऐश्वर्य का अनुसन्धान—ऐसा अर्थ होता है, और रति रस पक्ष में उसका स्थायी भाव है । अर्थात् श्रृङ्गार का स्थायी भाव रति है, श्रीकृष्ण पक्ष में तो (रति) महाभाव रूपी श्रीराधा ही हैं—महाभाव स्वरूप में ऐसा कहा गया है । (क्योंकि रसिकों की ऐसी व्याख्या है कि रति माहाभावांकुर रूप होने के कारण कार्य—कारण के अभेद मानने पर रति श्रीराधा ही (निश्चित) ठहरती हैं ।उनकी आसक्ति के वश होने से मधुर–मेचक राजा

निजैश्वर्यं विस्मृतमिति समस्तग्रन्थविवक्षितम् । तन्नगरस्यान्वर्थं नामाह—नामेति प्रसिद्धौ । नैकशिरोमन्दिरं प्रेमपत्तनापरपर्य्यायं तथाप्रसिद्धमित्यर्थः । तदन्वर्थता च नैकशिरसां न एकं शिरो येषां ते बहुशिरसामित्यर्थः, पुनस्तेनैव समासेन अशिरसामिति मुख्योर्थः । कर्णकटुताभयात्पूर्वं तथैव व्याख्येयम् । तदनन्तरं मुख्योर्थः । तेषामेव मन्दिरं सुखनिवासस्थानम्, सहस्रशिरस एव तत्र वसन्तीत्यर्थः, यत्राऽशिरस एव सहस्रशिरस इति वक्ष्यमाणत्वात् । सहस्रशिरसामेव तत्र प्रवेशनिवासाधिकारो न तु अन्येषामिति भावः । अत्र सशिरस्त्वमशिरस्त्वं च तदाशावत्त्वमतदाशावत्त्वमेव विवक्षितम्, तच्च बहुशो व्यक्तमेव । तदाह वल्लभ रसिको मदनुजः—

"गगनतलादवनितलं दैववशादेत्य सुखनिवासाय ।
पृच्छति मुहुः सशिरसः सदनमशिरसः परं प्रेम ।।

पूर्वमुक्तमशिरसामेव प्रेमनगरे प्रवेशः । उदाहरणे प्रेम सशिरसः सदनं पृच्छतीति व्यत्ययो नानुसंधेयः, अशिरसामेव प्रेमसम्बन्धो नान्येषामेतन्मात्रस्यैव विवक्षितत्वात् । यथा वा (यथेत्यव्ययादनन्तरं लिखितं पद्यं ग्रन्थकर्त्तु रेवेति सर्वत्र ज्ञेयम्)—

"न पीतममृतं मया दिननिशाकृतोरन्तरे वनागमविरोधिता बत कृता न सीतापतेः ।
न पुण्यसलिलाप्लुतं निजशिरः शिवायार्पितं मुधा भवितुमीहते मम मनो रतेरास्पदम् ।।"

---

ने अपना समस्त ऐश्वर्य भुला दिया । यही बात इस समस्त ग्रन्थ में विवक्षित है । उस नगर का जो नाम रखा गया है वह उसके अनुरूप ही है । उसका वह नाम 'नैकशिरोमन्दरम्' उसीका दूसरा नाम प्रेमपत्तन है, उसकी अनुरूपता ऐसे है 'नैकशिरोमदिरम्' अर्थात् जिनका एक शिर नहीं है अर्थात् वे बहुत शिरवाले है । फिर उसी समास के द्वारा "अशिरसाम्" अर्थात् बिना शिरवाले—यह मुख्य अर्थ होता है । परन्तु कानों को अच्छा न लगने के भय से पूर्ण व्याख्या ही करनी चाहिये, इसके बाद मुख्यार्थ समझना चाहिये । उनका मन्दिर—अर्थात् सुख पूर्वक रहने का स्थान—इसका मतलब हुआ कि हजार शिरवाले ही वहाँ बसते हैं क्योंकि आगे 'अशिरसैव सहस्रशिरसा' भाव यह है कि हजार शिरवाले अथवा बहुत शिरवालों को ही वहाँ प्रवेश तथा निवास का अधिकार है, अन्यों को नहीं । यहाँ जो अनेक शिर या बिना सिरपना वंणन किया गया है इससे कवि का यह अभिप्राय है कि उस (प्रेम तत्त्व) की आशावाले या निराशवान जन ही संसारी आशा से शून्य जन हैं । यह बात बहुत रूप से स्पष्ट हो चुकी है इस बात को मेरे छोटे भाई वल्लभ रसिक ने बताया है । टि (श्रीवल्लभ रसिकजी की वाणी से उद्धृत प्रमाण)—

सेली लयें चलें आसा ले आड बन्द नहिं षोलैं ।
बेसर करण फूल की बातें फिरि फिरि गढि गढि छोलैं ।।
दंपति संपति ही सो राते यातें करैं कलोलैं ।
वल्लभ रासक नेही गेही सम जोवन माते डोलैं ।।

( यह बेसर शब्द द्वै अर्थ में प्रयुक्त है एक शिर रहित दूसरा नाक की बेसर )

**श्लोकार्थ** - परम प्रेम ही दैव वश आकाश से भूमि पर आकर सुख से रहने के लिये बिना शिर वाले के मकान का पता शिरवाले से बार-बार पूछता है । पहले कहा ही गया है कि बिना शिरवालों का ही प्रेम नगर में प्रवेश है । उदाहरण में प्रेम शिरवाले का मकान पूछता है इस उलट फेर का अनुसन्धान नहीं करना चाहिये । क्योंकि बिना शिरवालों का ही प्रेम के साथ सम्बन्ध होता है औरों का नहीं, इतनी बात ही कहनी यहाँ अभीष्ट है । इसी विषय में और भी कहा है । श्लोकार्थ—हे मेरे मन ! तैंने सूर्य और चन्द्रमा के बीच बैठ के अमृत का पान नहीं किया, और बड़े दुख की बात है कि सीतारामजी के वन गमन

यथा वा— "दूरे लग्नं प्रेमफलं सर्वथैव यदीहसे । निधेहि रसिक स्वीयं शिरः स्वपदयोरधः ।।"
यथा वा—

"मा प्रेमपूरं विश वा शिरः स्वं दूरं निधायैव पदं निधेहि ।
व्यधायि धात्रैव गतोपरोधः प्रेमोत्तमाङ्गोत्तमयोर्विरोधः ।।" इत्यादि ।।

अत्र पुरञ्जनोपाख्यानादिवत् परोक्षत्वेन कथनं तु नववधूनामवगुण्ठनमिव निजोक्तीनां दर्शनोत्कलिकया चमत्कारविशेषार्थम्, तथा निजोपास्यस्य वस्तुनः संगोपनार्थम्, निजसंदर्भस्य भगवत्प्रियत्वापादनार्थं च । तथोक्तम्—"निजेष्टधनमन्त्रावमानानैव प्रकाशयेत्" । इति ।

पुनस्तदुक्तं श्रीमद्भागवते—"परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम्" इति ।
"यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान्भूतभावनः" इति च ।

तन्नगरं च लीलापरिकरात्मकनित्यसिद्धासक्तजननिवासस्थानं श्रीवृन्दावनान्तर्मण्डलमेव ।
यथोक्तं पञ्चरात्रे—

विष्वद्रीच्येव वाग्वेदा अद्रयः कनकाद्रयः । जलं ब्रह्मद्रवः साक्षात् द्रुमाः सर्वे सुरद्रुमाः ।।
जनाः परिजना यत्र धनेवः कामधेनवः । श्रीमद्वृन्दावनस्यान्तःप्रवेशो रतिराज्यभूः ।।

---

का विरोध भी नहीं किया । गंगा आदि पवित्र जल में गोता लगाकर पवित्र हुए अपने सिर को शिवजी को भी समर्पित नहीं किया, ऐसी परिस्थिति में तू व्यर्थ ही प्रेमी बनना चाहता है । (टि–'यथा वा' देकर जो पद यहाँ लिखे हैं वह सब ग्रन्थ कर्त्ता के ही है, जैसे और भी कहा गया है ।

(टि—श्रीवल्लभ रसिक का पद इसी श्लोक के अनुरूप दिया जाता है ।)

पंथ असाड़े कोई पैर न रक्खो असी लखीं लोग हँसाए ।
नेह नगर दे अन्दर नू असी शिर दे पैर चलाए ।।
मथ्थे बिन्दी हथ्थी मिहँदी अँखू वी कज्जल पाए ।
छके छबीले छैल सैल पर वल्लभ रसिक कहाए ।।२।। (सदा की मांझ से)

हे रसिक यदि तू बहुत ऊँचे लगे प्रेम फल को चाहता ही है तो पहले अपने सिर को अपने पाँव के नीचे रख तथा प्रेम चाहने वाले को अपने सिर तक की परवाह न करनी चाहिये । और भी कहा है जैसे—कि प्रेम करनेवालों को चाहिये वह पहले तो प्रेम के प्रवाह में प्रविष्ट न हों अथवा पहले अपने सिर को ही दूर रख आवें फिर आगे बढ़ें, बिधाता ने प्रेम और शिर का सुतरां विरोध स्थापित किया है । इत्यादि ।

यहाँ जो यह भगवान के पुरञ्जनोपाख्यान को परोक्ष रूप से वर्णन किया जा रहा है यह नवविवाहित स्त्रियों के घूंघट की तरह अपनी उक्तियों के देखने की उत्कण्ठा के लिये तथा चमत्कार विशेष के लिये ही है । तथा अपनी उपास्य वस्तु के छिपाने के लिये भी तथा अपने इस सन्दभ की भगवत् प्रीति आदि की प्राप्ति के लिये भी है । जैसा कि कहा गया है—कि अपने इष्ट धन और मन्त्र को प्रकाशित नहीं करना चाहिये क्योंकि वैसा होने से अपमान की आशंका होती है—यही बात श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण कहते हैं—ऋषि लोग कोई भी बात परोक्षवाद (अप्रत्यक्ष) रूप से कहते हैं—मुझे भी परोक्ष ही प्रिय है । तथा वही भगवान भूत भावन परोक्ष प्रिय हैं । इति ।। यह भी कहा गया है—

वह नगर लीला के परिकर नित्य सिद्ध प्रेमासक्त जनों का निवास स्थान श्रीवृन्दावन के मण्डल में ही है जैसा कि पंचरात्र में लिखा है । श्लोकार्थ—वहाँ की वाणी वेद है, पहाड़ सोने के है, अर्थात् सुमेरु है जल ब्रह्म द्रव है, समस्त वृक्ष साक्षात् कल्प वृक्ष हैं और जन परिजन-कुटुम्बी हैं, गैया कामधेनु हैं ऐसा श्रीवृन्दावन है और वहाँ प्रवेश मानो रति (राग) के राज में प्रवेश है । इति ।

यत्रावतारान्तरस्य प्रकाशान्तरस्य च परमप्रेमवश्यत्वं तत्र तत्कालावच्छेदेन मधुरमेचकस्यैवाविर्भावः । यत्र च तस्य निवासस्तत्प्रदेशस्य व्यापिवैकुण्ठवत्तन्नगरत्वमित्यवधेयम् ॥ ६ ॥

**यत्र वशीकृतदयिता पत्युर्दयिताऽतिगर्विता ।**

**सततं रतिरनुकूला महिषी मतिं कदर्थयामास ॥ ७ ॥**

यत्र वशीकृतदयितेति । वशीकृतदयिता तथा पत्युर्दयितेति गर्वे हेतुद्वयम्. अनयोस्तु परस्परं हेतुहेतुमद्भावः । महिषी पट्टराज्ञी । अनुकूला अर्थात् पत्युरेव । कदर्थयामासेति पूर्ववृत्तान्तकथने भूतप्रयोगः । यत्रेति सप्तम्यन्तानां पदानां तन्नगरं विलसतीति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥ ७ ॥

**पितृभवनमाधिशमनं विज्ञा विज्ञाय पत्तनं पत्युः ।**

**रत्यावमानिता स्त्रीजितेन तेनापि तत्याज ॥ ८ ॥**

पितृभवनमिति । आधिर्मनःपीडा तस्याः शमनमात्र न तु सर्वथा तन्नाशनं तत्र रतेरुद्भवस्य साक्षाद्दर्शनाभावात्, रत्या तथा तेन पत्या चावमानिता क्रिययैव न तु वचनादिना । तत्र पत्युर्हेतुगर्भविशेषणं स्त्रीजितेनेति । पत्युः पत्तनं नगरं तत्याज, यतो विज्ञा । अत्रापि तत्याजेति क्रियापदं पूर्ववद् भूतनिर्देशक बोध्यमिति ॥ ८ ॥

---

जहाँ दूसरे अवतार अथवा अन्य प्रकाश परम प्रेम के आधीन ही हो जाते हैं—अतएव वहाँ उतने समय के लिये मधुर-मेचक का ही प्राकट्य हो जाता है और जहाँ उनका निवास है, वह प्रदेश व्यापी वैकुण्ठ के समान होता है ऐसा समझना चाहिये । इति ॥ ६ ॥

**श्लोकार्थ ७**—जिस नगर में अपने प्रियतम को वश में रखनेवाली और स्वयं भी पति की वल्लभा (अर्थात् वश रहनेवाली) अतएव अत्यन्त गर्विता, तथा पति के सदा अनुकूल रहनेवाली पट्टमहिषी बनकर रति ने मति को (कदर्थित) अनेक प्रकार से सताना प्रारम्भ किया ॥ ७ ॥

**टीकानुवाद**—'वशीकृत दयिता' और 'पत्युर दयिता' यह दोनों विशेषण रति के गर्व में हेतु हैं । इन दोनों का परस्पर हेतु-हेतु मद्भाव है अर्थात् रति ने अपने पति मधुर मेचक को अपने वश में किया है, उसका वश में होना रति के अनुकूल होने पर निर्भर करता है और रति का उसके अनुकूल होना ही उसको रति के प्रति वल्लभ बनाना है यही हेतु-हेतु मद्भाव है। यहाँ 'महिषी' का भाव पट्टरानी है । 'अनुकूला' का अभिप्रेत्य है पति के ही अनुकूल होना—'कदर्थयामास' यह परोक्ष=भूत का प्रयोग पूर्व वृत्तान्त कथन से सम्बन्ध रखता है । इसमें जो 'पत्र' पद आया है इसके द्वारा 'सप्तमयन्त' पदों का 'तन्नगरं विलसति' के साथ पूर्व सम्बन्ध है ॥ ७ ॥

**श्लोकार्थ ८**—समझदार मति ने रति के द्वारा अवमानित होने पर अपने पिता के भवन को चित्त की शान्ति का उपाय निर्णय करके पति के नगर को छोड़ दिया तथा स्त्री के अधीन हुए राजा (पति) ने भी उसकी उपेक्षा कर दी । इति ॥ ८ ॥

**टीकानुवाद**—आधि—मन की पीड़ा को कहते हैं—मति का पिता के घर जाने से उसका शमन हो सकता है—जड़ मूल से वह नहीं मिट सकती । वहाँ रहने पर उसे (मति को) रति के अभाव का साक्षात्कार होने की संभावना ही नहीं रही । रति और पति के द्वारा जो मति का अवमानन हुआ वह केवल क्रिया मात्र से ही हुआ किन्हीं कटु वाक्यों से नहीं । यहाँ 'पत्युः' पद का स्त्रीजितेन (स्त्री के अधीन) यह विशेषण हेतु गर्भ है । अर्थात् रति के अधीन होने से ही उसने मति का अपमान किया । उसने पति के नगर को छोड़ दिया क्योंकि वह विज्ञा थी । यहाँ भी 'तत्याज' क्रिया पद पहले की तरह ही भूतकाल का निर्देशक हैं—ऐसा समझना चाहिये । इति ॥ ८ ॥

**प्रेक्षावतोऽखिलजनानिव शिक्षयन्ती लोकोत्तरं रतिपतेरुदयं विलोक्य ।**
**तातालयं पतिसुतादि विहाय सद्यो याता मतिस्तदिदमेव मतेर्मतित्वम् ॥ ९ ॥**

तस्या विज्ञात्वमेव विशदयति—प्रेक्षावत इति । प्रेक्षावतो बुद्धिमतः शिक्षयन्तीवेत्युत्प्रेक्षा । भाविनिजानादरं पूर्वमेव लक्षणैरनुमीय ततः पूर्वमेवान्यत्र गमनमेव मतेर्मतित्वम्; अनादरानन्तरं ततोऽन्यत्र-गमनं कुमतित्वम्, तदनन्तरमपि गृहधनादिकामनया तत्रैव निवासस्तु जड़त्वमेवेत्यर्थः । तदुक्तं श्रीबलदेवेन शिशुपालवधे—

"स्वस्थादेवापमानेपि देहिनस्तद्वरं रजः । पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति" ॥ इति ।

तस्मान्मतिरत्योर्नैकत्र संवास इति सिद्धान्तः ।

तदुक्तम्— सदा समासादितदक्षिणौका निजोदयध्वस्तसमस्तवृष्टिः ।
मनागपि प्रेमलवोपलब्धिः पिबत्यगस्त्योऽब्धिमिवोपलब्धिम् ॥

"प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संविद्" इत्यमरः ।

यथा च— "रतिमत्त्वमेव विरलं मतिमत्त्वं जगति दृश्यते सरलम् ।
अनयोरहह विरोधाद् रतिमतिमत्त्वं न कुत्रापि" ॥

---

**श्लोकार्थ ९**—रति-पति के लोकोत्तर उदय को देखकर समस्त बुद्धिमानों को मानो शिक्षा देती हुई मति, पति पुत्रों को तुरन्त त्याग कर अपने पिता के घर चली गई यही मति का मतिपना (अर्थात) बुद्धिमानी है । इति ॥ ९ ॥

**टीकानुवाद**—कवि इस ९ वें पद्य द्वारा मति की समझदारी का ही स्पष्टीकरण करते हैं, समस्त बुद्धिमानों को मानो शिक्षा देती हुई मति अपने पिता के घर चली गई । इस अंश में उत्प्रेक्षा नामक अर्थालङ्कार है । होनेवाले अपने अनादर को पहले ही लक्षणों से अनुमित करके उसके पहले ही दूसरे स्थान पर चले जाना यही मति का मतिपना है । अनादर होने के बाद दूसरे स्थान पर जाना यह तो कुमति है । एवं अनादर होने के बाद भी गृह धनादि की इच्छा से वहीं बने रहना तो स्पष्ट ही जड़ता ही है । मति ने जब रति पति के उस लोकात्तर उदय को देखा तो वह तुरत पति पुत्रादिकों को छोड़कर अपने पिता के घर चली गई । यहाँ उसकी बुद्धिमानी है । इसके समर्थन में 'शिशुपाल वध' काव्य में श्रीबलदेव की उक्ति है ।

**श्लोकार्थ**—(जो कवि की 'निबद्ध वक्त्री प्रौढोक्ति' कही जाती है) । देही की अपेक्षा तो उससे अच्छी धूलि है जो अपने ही रौंदनेवाले से अपमानित होने पर अर्थात पाद से आहत होने पर उड़ कर उसके मस्तक पर जा बैठती है । इति ॥

इसीलिये मति और रति इन दोनों का एक जगह निवास नहीं हो सकता जैसा कि कहा गया है । श्लोकार्थ—थोड़े से प्रेम का कण प्राप्त करके अगस्त मुनि सदा दक्षिण दिशा में ही रहते हैं । उनके उदय होने पर वर्षा रुक जाती है वे समुद्र के समान ज्ञान को भी पी जाते हैं । इसमें 'श्लेष' से यह बताया गया कि थोड़ा भी राग का प्रभाव ज्ञान (मति) को टिकने नहीं देता—

प्रेक्षा-उपलब्धि-चित्त-संवित-यह अमर कोष के अनुसार ज्ञान के पर्यायवाची शब्द हैं और भी कहा है कि—

**श्लोकार्थ**—रति-मत्व अर्थात् रागी होना संसार में बहुत कम पाया जाता है । अधिकतर सरल होने से मतिमत्व ही अधिक देखा जाता है । इन दोनों का विरोध होने से रतिमत्व और मतिमत्व अर्थात् प्रेम और विवेक एक जगह नहीं मिल सकते । इसका और भी उदाहरण है ।

तत्रोदाहरणं यथा—

"श्रुतिमुनिमतसत्यास्तत्त्ववाचो ममापि प्रियगिरमवमत्या हा हसन्त्या व्यधायि।
व्रजपतिवसुमत्यात्रापि रत्यानुमत्या नवयुवतिसमित्या हन्त मत्या विरोधः" ॥

वाक्यमिदं व्रजसुन्दरीणां प्रेमोक्तीः श्रुत्वा विस्मतस्योद्धवस्य। तथा—

"विद्रावयति ह निद्रां धुनोति धर्मं त्रपामपाकुरुते।
धृतिसहितां मतिमादौ लयं नयन्ती रतिर्मनो विशति" ॥ इति ॥ ९ ॥

**तस्याऽधनस्य जनकस्यागमसंज्ञस्य शासनादनिशम्।**
**अथ पितृशिक्षापटुभिर्वटुभिर्भिक्षां चिरादटति ॥ १० ॥**

रतिविरोधिन्या मतेर्दुरवस्था विशदयति— तस्येति। आगमसंज्ञस्य अर्थात् शास्त्रस्य। शास्त्रद्वारेण पण्डितमुखावेव श्रीकृष्णेनापि निजैश्वर्यं ज्ञातये? न स्वतः, [तस्य] सदा धीरललितत्वेन कुञ्जकेलिरतत्वात्।

तदुक्तं च—"अमुत्कंसरिपोनत्रं शास्त्रमेवार्थदृष्टये।
नेत्राम्बुज तु युवतीवृन्दोन्मादाय केवलम्" ॥ इति।

शास्त्रादेव मतिरुत्पद्यते इति प्रसिद्धेः शास्त्रस्य मतिजनकत्वम्। कथंभूतस्य—अधनस्य दरिद्रस्य, शास्त्रस्य अपत्यधनादिषु वैराग्यगर्भितत्वात्, तस्य शासनादाज्ञया, अथ तदनन्तरमेव तस्यैव पितुः शास्त्रस्य शिक्षा उपदेशस्तत्र पटुभिर्वटुभिः ब्रह्मचारिभिः, अर्थात् शास्त्राज्ञानुवर्त्तिभिः पण्डितैः सह चिराद्बहुकालतः भिक्षामटति। तेन रतिविरहितायाः मतेर्भिक्षोचितैवेति ध्वनिः। यत्र निरादरस्तान् बन्धूनपि विहाय

---

**श्लोकार्थ**—व्रज सुन्दरियों की प्रेम भरी बातें सुनकर आश्चर्य में पड़े उद्धव ने यह कहा—मेरी श्रुति स्मृति सम्मत प्रिय वाणी को सुनकर हाय! हँसते हुए इसने उसका अपमान कर दिया। देखो रति की सलाह में रहनेवाली इन नव युवतियों की सभा का मति से कितना विरोध है। और भी कहा है—

**श्लोकार्थ**—रति (अर्थात् राग) जब मन में प्रविष्ट होती है तो नींद को भगा देती है, धर्म को मिटा देती है, लज्जा को साफ कर देती है। धैर्य के समूह बुद्धि को पहले ही समाप्त कर देती है। इति ॥९॥

**श्लोकार्थ** १०—मति का पिता आगम (नाम का) है, वह निर्धन है, उसके शासन में रहनेवाले ब्रह्मचारियों से लाई गई भिक्षा पर वह (मति) अपना निर्वाह कर रही है। इति ॥ १० ॥

**टीकानुवाद**—आगे कवि 'तस्या ' इत्यादि द्वारा मति की दुरावस्था का वर्णन करते हैं। मति के पिता का नाम आगम और वह निर्धन है—उसके शासन में रहनेवाले शिक्षा चतुर ब्रह्मचारियों द्वारा लाई भिक्षा से वह अपना निर्वाह करती है और अपने उसी पिता के शासन में रहती है। आगम शास्त्र को कहते हैं—शास्त्र द्वारा पंडितों के मुख से ही श्रीकृष्ण ने भी अपना ऐश्वर्य बनाया अपने आप नहीं, क्योंकि श्रीकृष्ण सदा धीर ललित नामक होने के कारण सदा निकुञ्ज में ही केलिरत रहते हैं। जैसा कि कहा है—

**श्लोकार्थ**—उन कंस रिपु श्रीकृष्ण का अर्थ दृष्टि के लिये अर्थात् लोक व्यवहार के लिये शास्त्र ही नेत्र था उनका नेत्र कमल तो युवती-वृन्द को केवल उन्मद बनाने के लिये था।

शास्त्र से ही मति उत्पन्न होती है ऐसी प्रसिद्धि हैं इसलिये मति का पिता शास्त्री ही ठहरता है जो निर्धन है क्योंकि शास्त्र को पुत्र धनादि से वैराग्य होता है अर्थात् शास्त्र स्त्री पुत्र धन आदि के प्रति वैराग्य का उपदेश आदेश देता है। इसके बाद ही अपने प्रिता शास्त्र की शिक्षा में चतुर ब्रह्मचारियों द्वारा अर्थात् शास्त्र की आज्ञानुसार चलनेवाले पडितों के साथ रहकर वह मति भीख माँगती है। इससे यह ध्वनित है कि रति अर्थात् प्रेम से रहित मति के लिये भिक्षा ही उचित है इसके अतिरिक्त यह भी व्यञ्जना है कि यहाँ निरादर से उन कुटुम्बियों को त्यागकर भिक्षाटन ही श्रेष्ठ है। न कि अपमानित होकर

भिक्षाटनमेव वरं न तु तन्मुखावलोकनमिति च रतिविरोधिन्या एव मतेर्मतित्वमिति व्यञ्जितम्। यदि तस्यास्तन्नगरे कुत्रापि रतिलेशोऽप्यभविष्यत् तदा खिन्नाया अपि तस्या अन्यत्र गमनं नाभविष्यदेव।

तदुक्तम्—जेण विणा विजिज्जई अणुमिज्जई सो किआवराहोऽवि।
कएवि णअरआहे भण कस्स ण बल्लहो अग्गि इति॥ १०॥
(येन विना न विजीव्यतेऽनुनीयतेऽसौ कृतापराधोऽपि।
कृतेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभो अग्निरिति॥)
(आदर्श पुस्तके—'पतेवि' इति पाठोऽस्ति—'हाहे' इति पाठोऽस्ति।)

**सुमतिसुताऽतिविनीता शान्तस्वान्ताभिधेन परिणीता।**
**मातुर्वियोगवीता शान्तिः पत्या निजाश्रमं नीता॥ ११॥**

सुमतीति। शान्तस्वान्ताभिधेन अर्थात्—शान्तरसाभिज्ञेन केनापि मुनिनेत्यर्थः, शान्तेस्तन्निकट-निवासयोग्यत्वात्, रतिपतिनगरनिवासाऽयोग्यत्वाच्चेति भावः। परिणीता विवाहिता स्वीयत्वेनाङ्गी-कृतेत्यर्थः। सापत्या तेनैव निजाश्रमं नीता। तस्मिन्नगरे सुमतिसमुद्भवा शान्तिरपि न स्थितेत्यर्थः। रतेरन-नुकूलतयाऽत्यन्तानभीष्टत्वात्॥ ११॥

**गृहनगरादिसमस्तं न्यस्तं पत्या तदाधिपत्याय।**
**मतिकृतविधिविपरीतं रतिरतिविषयं विधिं विदधे॥ १२॥**

गृहेति। न्यस्तं समर्पितम्। मतिकृतविधिविपरीतमिति विधि विशेषणं क्रियाविशेषणं वा। रतिर्मत्या सपत्न्या कृतो यो गृहनगरादिविधिस्ततो विपरीतं विरुद्धं विधिं रचनाप्रकारं विदधे चकारेत्य-सूयाग्रस्तस्वभावत्वं स्त्रीणां व्यञ्जितम्॥ १२॥

---

भी उनका मुख देखते रहना। यही रति से विरोध रखनेवाली बुद्धि की बुद्धिमत्ता है। यदि मति का उस नगर में अल्प भी प्रेम होता तो खिन्न होने पर भी उसका अन्यत्र जाना सम्भव न होता। जैसा कि कहा है।

**श्लोकार्थ**—जिसके बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकता उसका अनुसरण किया ही जाता है, चाहे वह अपराधी ही क्यों न हो—अग्नि गाँव को यद्यपि जला देती है तथापि क्या किसी को अग्नि से प्रेम (अपेक्षा) नहीं होता॥ १०॥

**श्लोकार्थ ११**—मति की पुत्री जो अत्यन्त विनम्र थी जिसका नाम शान्ति था माता के वियोग में दुःखी होकर शान्त-स्वान्त नामवाले जन से विवाहित हो गई और उसका पति उसे अपने आश्रम में ले गया। इति॥ ११॥

**टीकानुवाद**—शान्तस्वान्त नामक अर्थात् शान्त रस को जाननेवाला कोई मुनि इससे ऐसा अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि शान्ति शान्त रसोपासक के पास ही रह सकती है। उसका रतिपति के नगर में निवास सम्भव नहीं है। परिणीता का अर्थ है विवाहित हुई अर्थात् अपनी बना ली गई। उसको उसका पति अपने आश्रम में ले गया। अभिप्राय यह हुआ कि उस नगर में सुमति से उत्पन्न होनेवाली शान्ति भी नहीं रही। क्योंकि उसका वहाँ रहना रति के प्रतिकूल होने से सर्वथा अभीष्ट नहीं था। इति॥ ११॥

**श्लोकार्थ १२**—प्रेम नगर के राजा (मधुर मेचक) ने परिवार सहित मति के चले जाने पर गृह नगर राज आदि सब व्यवस्था रति को समर्पित कर दी। रति ने मति द्वारा की गई समस्त व्यवस्थाओं को उलट करके सब व्यवस्था अपने अनुकूल बना दी। इति॥ १२॥

**टीकानुवाद**—'न्यस्तं' का अर्थ है समर्पितं। 'मति' ..... यह विधि का विशेषण है अथवा क्रिया विशेषण भी हो सकता है अथवा क्रिया विशेषण भी हो सकता है। रति ने अपनी सपत्नि मति के द्वारा

**यत्र नरपतिहितेहिताभिरतो भरतो नाम सचिवः कृतः ॥**

अथ रतिकृतं विपर्ययमेव विशेषतोऽनुवर्णयति—यत्रेति। नरपतेर्हितरूपं यदीहितं तत्राभिरतो भरतो नाम वस्तुतस्तु शृङ्गाररसोद्भवाभिरतो भरतो नाम मुनिरेव सचिवो मन्त्री कृतः। अर्थाद्रत्यैव मतिकृतः सचिवो नगरान्निष्काशित इति सर्वत्रानुसन्धेयम् ॥

**यत्र धर्मकर्मकलापमर्मकुशलः पुरोहितः स्मरसूत्रधारो नाम ॥**

यत्रेति। स्मरसूत्रधारो वात्स्यायनमुनिः पुरोहितो रत्या कृतः, इति पूर्वेणैव सर्वेषां सम्बन्धः। तदाज्ञयैव तत्रत्याः सर्वे सब पुष्पधनुर्यागादिकर्माऽनुतिष्ठन्तीत्यर्थः ॥

**यत्र राजनगरोपकरणप्रसाधनसाधनं शिल्पिप्रवरोऽद्भुतो नाम राज्ञा सत्कृत्य निजानुकूलाऽपूर्वनगरनिर्माणायाऽऽदिष्टस्तथैव तदनुकरोति स्म ॥**

यत्र राजनगरेति। राज्ञस्तथा तन्नगरस्य तन्निवासिजनानां तदुपकरणानां च प्रसाधनं शृङ्गारस्तस्यं साधनमद्भुतो नाम शिल्पिप्रवरः स च अर्थादद्भुतरस एव तं विना सर्वत्र शोभाविशेषानुदयात्। तदुक्तं साहित्यदर्पणे—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वात्सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥

सत्कृत्य वस्त्रादिभिरलंकृत्य आदिष्ट आज्ञप्तस्तदनु तदादेशानन्तरमेव तथैव करोति। स्मेति

---

की गई जो गृह नगर आदि में विधि व्यवस्था थी उसके विपरीत अर्थात् (सब प्रकार) विरुद्ध विधि—रचना—प्रकार बना दिया। यहाँ चकार क्रिया से यह अभिप्राय है कि स्त्रियें स्वभाव से ही असूयादि दोषों से युक्त होती हैं।

**गद्यानुवाद**—जहाँ राजा के हित में—सदा रहने वाला, भरत नाम का मन्त्री बना दिया गया।

अब रति के द्वारा उस नगर में किये गये उलट फेर का विशेष रूप से वर्णन किया जाता है। उस नगर में राजा के हित में सदा लगे रहनेवाले भरत को मन्त्री बना दिया गया वस्तुतः शृङ्गार रस के उत्पन्न करने में लगे रहनेवाले भरत नाम के मुनि ही मन्त्री बनाये गये अर्थात् रति ने भी मति द्वारा स्थापित मंत्रीको नगर से निकाल दिया, यह सर्वत्र समझ लेना चाहिये। (अर्थात् ग्रन्थ में भरत शब्द शृङ्गार का पर्याय है)।

**गद्यानुवाद**—जहाँ धर्म कर्म कलाप के मर्म में कुशल स्मर-सूत्र नाम का पुरोहित स्थापित किया गया।

**टीकानुवाद**—यह स्मर सूत्रधार वात्सायन मुनि ही हैं, उनकी आज्ञा से ही उस नगर में रहने वाले सब कर्म-यज्ञ आदि कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। इति ॥

**मूल व टीकानुवाद**—जहाँ अद्भुत नाम के चतुर कारीगर को सत्कार पूर्वक राजा ने निश्चित कर रखा है, जो राजा तथा उस नगर के निवासीजनों की सजावट की सामग्रियों को संग्रह करता रहता है। वैसे भी अद्भुत रस के बिना कहीं मुख्य रूप से शोभा का उदय नहीं होता, जैसा कि साहित्य दर्पण में कहा गया है।

**श्लोकानुवाद**—रस में चमत्कार ही सार है, वही सर्वत्र अनुभव का विषय बनता है और इसीलिये रस-मात्र के चमत्कार सार होने से सब जगह अद्भुत रस ही है।

शिल्पी के सत्कार से अभिप्राय है कि उसे वस्त्रादि से अलंकृत करके नगर की शोभा के लिये

विस्मये। सर्वदा राजनगरादिप्रसाधनं कुर्वन्नेव तिष्ठतीत्यर्थः।

**यत्र निगमेतिहासपुराणसंहितादिसुवर्णखचितोत्तमागमबहुवर्णकर्कशतर्करत्नसकलसन्दोहयत्नरचितो ललितोन्नतो विविधतत्तत्सिद्धान्तानलयन्त्रावलिवलितो दुर्जनाजितो विद्वज्जनसभाजितो विराजते सर्वतो नगरं सुपर्वपर्वतोपमाकारः प्राकारः।**

इदानीं नगरवर्णनेनैव तच्चातुर्यमनुवर्णयति—यत्र निगमेति। यत्र सर्वतो नगरं नगरस्य समन्तात् सुपर्वपर्वतोपमाकारः सुपर्वाणो देवाः। "सुपर्वाणः सुमनसः" इत्यमरः। तेषां पर्वतो मेरुस्तदुपमस्तत्सदृश आकारो यस्य स तथाभूतः प्राकारो वप्रपर्यायः विराजते विशेषेण शोभते इति वर्त्तमाननिर्देशः पूर्ववदिति सम्बन्धः। तमेव प्राकारं विशिनष्टि—निगमेति। निगमाश्चत्वारो वेदाः, एक एवेतिहासो महाभारताख्यः, पुराणानि सप्तदश, श्रीमद्भागवतं तु "यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति" "धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः" इत्यादिष्विव त्रिषट्संख्यापूरकमात्रं भगवतो वर्णमयं स्वरूपमेवेति कीरोक्तिविलासाभिधतया तन्नगरपालनकर्तृत्वेन वक्ष्यते। किञ्च (भा० ६-२-१४)—

"साङ्केत्यं परिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥"

इत्यादिषु सर्वपापहारिप्रायश्चित्तत्वेन निर्णीतस्यापि श्रीभगवन्नाम्नस्तत्स्वरूपादभिन्नत्वम्।

"नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥"

---

तत्पर किया गया गया और राजा की आज्ञा के अनुसार तुरन्त उसने नगर को वैसा ही सजा दिया। 'स्मः' का अर्थ आश्चर्य है, इस तरह वह शिल्पी सदा राजनगरादि की सजावट में लगा रहता है।

**मूल गद्यानुवाद**—जहाँ निगम, इतिहास, पुराण, संहिता आदि सुवर्ण खचित उत्तम आगम आदि बहुत वर्ण, कर्कश तर्क रत्न आदि द्वारा समस्त यत्नों से निर्मित सुन्दर उन्नत अनेक—उन-उन सिद्धान्तरूपी अनल यन्त्रों अर्थात् तोप आदि युद्ध यन्त्र समूह से युक्त दर्जनों से अजित विद्वानों द्वारा आदृत, उस नगर के चारों तरफ सुमेरु पर्वत के समान विशाल काय प्राकार (कोट) शोभित हो रहा है।

**टीकानुवाद**—अब नगर के वर्णन द्वारा ही उस शिल्पी की चतुराई भी वर्णन की जाती है। जिस नगर के चारों ओर देवताओं के पर्वत के आकार वाला अर्थात् सुमेरु पर्वत के सदृश्य बड़ा ऊँचा कोट खिचा हुआ शोभा देता है। उस कोट पर निगम इतिहास पुराण संहिता तर्क आदि विराजमान हैं। निगम अर्थात् चारों वेद, महाभारत नामक इतिहास और सत्रह पुराण वहाँ हैं यद्यपि पुराण अठारह हैं श्रीमद्भागवत् समेत (अठारह)—उसकी इनमें गणना इसलिये नहीं की गई है मीमाँसा के इस सिद्धान्त के अनुसार कि यजमान को मिलाकर पाँच व्यक्ति इड़ा अर्थात् पुड़ोडास का ग्रहण कर लेते हैं। और 'धनु .......' इत्यादि के समान पुराणों के बीच में ही भागवत् की गिनती हो जाती है। उपपुराणों की संख्या भी १८ हैं—दोनों मिलाकर ३६ संख्या की पूर्णता अर्थात् व्यंजन साहित्य भगवान् का वर्णमय स्वरूप ही है जिसका कीरोक्ति विलास नाम से उस नगर के पालन कर्त्ता का वर्णन किया जायेगा। और भी—

**श्लोकानुवाद**—(भा० ६-२-१४) बड़े बड़े महात्मा यह बात जानते हैं कि संकेत से (किसी दूसरे के अभिप्राय से) परिहास में, तान अलापने में अथवा किसी की अवहेलना करने में भी कोई भगवान् के नामों का उच्चारण करता है तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इत्यादि प्रसंगों में समस्त पापों को हरनेवाले प्रायश्चित्तों के निर्णीत हो जाने पर भी श्रीभगवान् के नाम की उनके स्वरूप में भिन्नता नहीं है। जैसा कि (अन्यत्र) कहा है—

इत्युक्तेः तथा च—(भा० १-३-२३)—

'एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।
रामकृष्णावितिभुवो भगवानहरद्भरम् ।।'

इति पद्ये ऽवतारत्वेन गणितस्याप्यस्मत्प्रभोः श्रीकृष्णचन्द्रस्यावतारित्वमेव ।

"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ।।" (भा० १-३-२८) इति

तत्रैवोक्तेः । तथा श्रीमद्भागवतस्य पुराणत्वेन ख्यातस्यापि संयोगपृथक्त्वेन भगवत्प्रकाशान्तरत्वमेव ।

"कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽद्युनोदितः ।।"

इति तत्रैवोक्तत्वात् । तथा—"जगद्गुरुं सात्वतशास्त्रविग्रहम्" इति षष्ठे श्रीमुनीन्द्रेणोक्तत्वादित्यलं पल्लवितेन । प्रकृतमनुसरामः । संहिताः प्रह्लादसनत्कुमारादिप्रोक्ताः, [निगमेतिहासपुराणसंहिता आदयो येषान्ते] तेषां निगमादीनां ये सुवर्णाः शोभनान्यक्षराणि, श्लेषेण सुवर्णं हेम तत्र खचितानि क्रोडीकृतानुरागात्युत्तमशास्त्राणां न तु तत्परिपन्थिनामसच्छास्त्राणां बहुवर्णानि सत्वरजस्तमोमयानि वादजल्पवितण्डादीनि । पक्षे स्पष्टम् । कर्कशानि तर्करत्नानि तर्कोत्तमाः, श्लेषेण तर्का एव रत्नानि तेषां शकलानि खण्डास्तेषां संदोहाः समूहास्तैर्यत्नेन परमप्रयासेन रचितो निर्मितस्तेनैवाद्भुतेन शिल्पिप्रवरेणेति प्रकरण-

---

**श्लोकानुवाद**—यह नाम चिन्तामणि चैतन्य रस देह धारी श्रीकृष्ण ही हैं और पूर्ण शुद्ध नित्य मुक्त है क्योंकि नाम और नामी का अभेद होता है। और भी भगवद् अवतारों में उन्नीसवाँ, बीसवाँ—भगवान का अवतार वृष्णि वंश में हुआ है जिन्होंने भूमि का भार हरण किया इस पद्य में अवतार रूप से गिने जाने पर भी हमारे प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र (स्वयं) अवतारी हैं। 'एते चांश कला' (भा० १-३-२८)—

**श्लोकानुवाद**—यह सब अवतार तो भगवान् के अंशावतार और कलावतार हैं परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् अवतारी ही हैं। जब लोग दैत्यों के अत्याचार से व्याकुल हो उठते हैं, तब युग-युग में अनेक रूप धारण करके भगवान् उनकी रक्षा करते हैं। इति ।।

जैसा कहा जाता है कि श्रीमद्भागवत की पुराण रूप से प्रसिद्धि होने पर भी संयोग—पृथकत्व न्याय से उसे भगवान् का दूसरा प्रकाश ही मानना चाहिये जैसा कि '१-३-४४ श्रीमद्भागवत में कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण से धर्म-ज्ञानादि के साथ अपने धाम में पधारने पर इस कलियुग में जो लोग अज्ञान रूपी अन्धकार से अन्धे हो रहे हैं, उनके लिये यह पुराण रूपी सूर्य इस समय प्रकट हुआ है। इति ।।

तथा 'जगद्गुरु ....' छटे स्कन्ध में इसी बात को मुनीन्द्र श्रीशुकदेवजी के द्वारा कहा गया है इसलिये अधिक विस्तार की इस विषय पर अपेक्षा नहीं—अब मूल प्रसंग पर विचार करते हैं। अब संहिता अर्थात् प्रह्लाद, सनत्कुमार आदि के द्वारा कहे गये संदर्भ विशेष को कहते हैं। "(निगम इतिहास पुराण संहिता आदि जिनके ऐसे वे) उन निगम आदि के जो सुन्दर अर्थात् शोभन अक्षर श्लेष से (अर्थालंकार) सुवर्ण हेम उभमें जड़े हुए अर्थात् उसके अंक में उत्तम शास्त्र ही स्थापित किये गये हैं। न कि उस प्रेम के विपरीत असत् शास्त्रों की, जो कि बहुत वर्णवाले तथा सत्व रज तमोमय एवं वाद जल्प वितण्डादि से युक्त हैं। दूसरे पक्ष के सम्बन्ध में बात सुस्पष्ट ही है।

कर्कश तर्क रत्न, अर्थात् उत्तम तर्क, अनुकूल तर्क उसमें स्थापित किये गये हैं। श्लेष से यह अभिप्राय निकला कि उस कोट में तर्क रूप रत्न ही जड़े हुए हैं। ऐसा रूपक समझना चाहिये। उन रत्नों

लब्धम् । तर्काणां कर्कशत्वन्तु—

"मिथ्यातर्कसुकर्कशेरितमहावादान्धकारान्तरभ्राम्यन्मन्दमते:" इति ।

तथा—'कर्कशतर्कविचारव्यग्र:' इत्यादिषु व्यक्तमेव । पुन: कथम्भूत: ललितोन्नत: [ललितश्चासावुन्नत इति] कर्मधारय: । एतेन विशेषणेन तस्य मनोहरत्वमनुल्लङ्घ्यत्वञ्चोक्तम् । पुन: कथंभूत:—विविधा नानाविधा निगमतर्कादीनाँ सम्बन्धिनो ये सिद्धान्तास्त एवानलयन्त्राणि प्रसिद्धानि तैर्वलित: संयुक्त: अत एव दुर्जनाजित: दुर्जनैरसारातिभिर्द्विविधमीमांसकादिभिरजितो जेतुमशक्य: । पुन: कथंभूत:—विद्वज्जनसभाजित: विद्वज्जनै: पाण्डित्याभिमानवद्भि: सभाजित: सत्कृत: । निगमाद्यर्थतर्कादिचातुर्य्यचाकचिक्यावलोकनेनैवानन्दितै: सिद्धान्तानलयन्त्रदर्शनेनैव तन्नगरमस्माभि: सम्यगवलोकितमिति तावतैव कृतकृत्यम्मन्यैस्तन्नगरं दूरादेव स्तुवद्भिर्विद्वद्वृन्दैर्वहिरेव स्थीयते न तु नगरान्तर्गन्तुं शक्यते इति भाव: । एवं प्रकारस्य निगमादिसुवर्णसच्छास्त्रतर्कादिरचितत्वेन तन्नगरस्य निगमाद्यन्तर्वर्तित्वम्, निगमादिरक्षितत्वञ्च व्यञ्जितम् । तत्र निगमाद्यन्तर्वर्तित्वे प्रमाणं श्रीभागवतवचनम्—

"भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेत् ।।" इति

तथा चतुर्थे पृथुं प्रत्याह सनत्कुमार:—

"शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां क्षेमस्य सध्य्रग्विमृशेषु हेतु: ।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्तमात्मनि दृढारतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ।।" इति

---

के खण्ड समूहों से अत्यन्त प्रयत्न और प्रयास पूर्वक उस नगर के कोट को अद्भुत शिल्पी ने निर्मित किया है । तर्कों की कर्कशता अन्यत्र बताई गई है "तर्कों की कठोरता से प्रवृत्त जो एक महावाद—उसके अन्धकार से भ्रान्त बुद्धिवाले का," तथा और भी कर्कश तर्क विचार व्यग्र अर्थात् कठोर तर्कों के विचारों से घबड़ाया हुआ इत्यादि, स्थलों में स्पष्ट है । वह कोट कैसा है "जो ललित होते हुए भी उन्नत है" ऐसा कर्मधारय समास इस पद में अपेक्षित है । इस विशेषण के द्वारा उस प्रेम नगर के कोट की सुन्दरता बताई गई, तथा उसका उल्लंघन न हो सकना बताया गया है । उस कोट पर कई प्रकार के युद्ध के यन्त्र स्थापित हैं जो निगम तर्क आदि से सम्बन्धित सिद्धान्त ही है । इसीलिये वह दुर्जनों से नहीं जीता जा सकता । वे दुर्जन रस के शत्रु-पूर्व मीमांसा—उत्तर मीमांसा आदि ही हैं ।

(टि—अलंकारिकों ने ऐसे लोगों की जडन्नैयायिका-जडन्नमीमांसिका आदि शब्दों से व्याख्या की है ।)

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।
निर्वासनास्तु रगान्त: काष्टकुड्यश्म सन्निभा: ।।

फिर उस कोट का, पांडित्य का अभिमान रखनेवाले विद्वानों द्वारा, आदर किया गया है । निगम आदि अर्थ और तर्क आदि चातुर्य के चाकचिक्य को देखने से हो प्रसन्न हुए तथा सिद्धान्त रूपी युद्ध यन्त्रों के देखने से ही अपने को कृतकृत्य माननेवाले विद्वानों द्वारा वह नगर प्रशंसित हुआ है । वे उसको देख-देखकर—"हमने इस नगर को भली प्रकार देखा" ऐसे कहते हुए उस नगर के बाहिर ही बैठे रहे भीतर नहीं जा पाये । यह भाव है ।

इस प्रकार निगर आदि सुवर्ण सत्शास्त्र आदि से निर्मित होने के कारण वह नगर निगम आदि सत् शास्त्रों के अन्तर ही है अर्थात् उनसे समर्थित ही है । तथा वेद आदि द्वारा वह सुरक्षित भी है यह व्यञ्जित होता है । वह नगर वेद आदि के अन्तर्वर्त्ति होने के समर्थन में श्रीमद्भागवत वचन प्रमाण है—

**श्लोकभावार्थ**—भगवान् ब्रह्मा ने एकाग्र चित्त से सारे वेदों का तीन बार अनुशीलन करके अपनी बुद्धि से यह निश्चय किया कि जिससे सर्वात्मा भगवान श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रीति हो वही सर्वश्रेष्ठ धर्म

निर्गुणे मायागुणातीते ब्रह्मणि परब्रह्मणि श्रीकृष्णे न तु निर्विशेषे, तद्रक्षकत्वे प्रमाणम्—"नैवाभ्यसेद्वहून् शास्त्रान् वाचो विग्लापनं हि तत्" । इति ।

तथा—"यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ।।" इति ।

तथा श्रीमद्गीतायाश्च—२-४५ "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो सवार्जुन" ! इति

ततो निगमादीनां प्राकाररूपकत्वं युक्तमेव । नगरस्य प्राकारान्तर्वतित्व तथा प्राकारस्य तद्रक्षकत्वं प्रसिद्धमेव ।।

**यत्र शिखिरमणिशकलकलितललितोन्नतशिखर (निकर) शेखरसहस्रसुन्दरं रुचिरारुणरुचितुन्दिलकुरुविन्दमणिमयमेकमेव रागानुगमनं नाम रागामरमहीरुहांकुरमिव गोपुरम् ।।**

यत्र शिखरमणीति । "दाडिमीबीजसंकाशं माणिक्यं शिखरं विदुः" इत्युक्तस्तद्रचितशिखरसमूहा एव शेखरसहस्राणि मुकुटवृन्दानि तैः सुन्दरम् । पुनः कथंभूतम्—रुचिराभिररुणरुचिभिः शोणितकान्तिभिस्तुन्दिलाः पुष्टाः कुरुविन्दाभिधा मणिविशेषास्तन्मयमेकमेव रागानुगमन नाम गोपुरं विराजते इति पूर्वणैव सम्बन्धः । एवमग्रेऽप्यनुसन्धेयम् । रागामरमहीरुहांकुरमिवेत्युत्प्रेक्षा । तत्रामरपदेन तस्य नित्यत्वे सर्वकामप्रदत्वं च ध्वनितम् । वस्तुतो रागानुगद्वारेणैव तत्र प्रवेशो नान्यथेति विवक्षितम् ।।

---

है । भा० २-२-३४ इति । तथा (भा० ४-२२-२१) में पृथु के प्रति सनद्कुमार की भी उक्ति है—

**श्लोकार्थ**—शास्त्र जीवों के कल्याण के लिये भली भाँति विचार करनेवाले हैं, उनमें आत्मा से भिन्न देहादि के प्रति वैराग्य तथा अपने आत्म स्वरूप में निर्गुण ब्रह्म में सुदृढ़ अनुराग होना—यही कल्याण का साधन निश्चित किया गया है ।

इस श्लोक में ब्रह्म का जो निर्गुण विशेषण आया है उसका अभिप्राय माया गुण से अतीत है और ब्रह्म का अभिप्राय परब्रह्म श्रीकृष्ण ही है । न कि अद्वैतसिद्धान्ताभिप्रेत निर्विशेष ब्रह्म ।

उस नगर का निगमादि रक्षितत्व जो व्यक्त हुआ है उसमें यह प्रमाण है—"बहुत से शास्त्रों का साधक को अभ्यास न करना चाहिये क्योंकि वह समस्त वाणी का विग्लापन (विकार) मात्र है" इति ।

तथा श्रीमद्भागवत् (४-२९-४६)—हृदय में बार-बार चिन्तन किये जाने पर भगवान् जिस समय जिस जीव पर कृपा करते हैं उसी समय वह लौकिक व्यवहार एवं वैदिक कर्म मार्ग की बद्धमूल आस्था से छुट्टि पा जाता है । इति ।

तथा गीता २-४५ हे अर्जुन ! वेद तीन गुणों का प्रतिपादन करनेवाले हैं तुम तीनों गुणों से रहित हो जाओ इति । इस दृष्टि से वेद आदियों का प्राकार (कोट) रूपक (आरोप) से युक्त वर्णन हुआ है । नगर कोट के भीतर होता है और कोट उसका रक्षक होता है यह बात प्रसिद्ध ही है ।

गोपुर का वर्णन—उस कोट में जो नगर का दरवाजा है वह बहुत विशाल है । उसका नाम रागानुगमन है । जिसमें माणिक्य जो दाडिम बीज जैसा लाल होता है, उसके खण्डों से निर्मित ललित उन्नत शिखरों का समूह हजारों की संख्या में विराजमान है शिखिर शब्द का अर्थ माणिक्य है इसमें कोष प्रमाण है । गोपुर का दूसरा विशेषण है—लाल वर्ण की अत्यन्त सुन्दर कान्तियों से सुशोभित और कुरविन्द नाम के मणि विशेषों से वह (गोपुर) युक्त है । मानो राग (प्रेम-रक्त वर्ण) से अमर बने हुए वृक्ष के अंकुर के समान वह है । इसमें उत्प्रेक्षालंकार है । अमर वृक्ष से यहाँ कल्प वृक्ष समझना चाहिये । इसमें अमर पद के द्वारा उसकी नित्यता तथा सर्वाभिलाष पूरकता ध्वनित की गई है । वस्तुत. उस नगर में प्रवेश रागानुग अर्थात् परम्परा से प्रेम पद्धति को प्राप्त करनेवाले जनों द्वारा ही सम्भव है अन्यथा नहीं यही भाव रागानुग पद से विवक्षित है ।

**यत्र परितः प्राकारमनल्पायामगम्भीरताविस्तारदुस्तरं प्रकटोपलक्षितान्तःस्थितसित-कठिनप्रस्तरं विमलसत्त्वाख्यं परिखावलयम् ॥**

यत्र परित इति । यत्र परितः प्राकार प्राकारस्य समन्ताद् विमलसत्त्वाख्यं विमलसत्त्वमित्याख्या-ऽभिधानं यस्य तथा । वस्तुतश्चेतसोऽतीवनिर्विकारत्वं नगरान्तः प्रवेशरोधकं परिखावलयम् । आयामो दैर्घ्यम्, गम्भीरताऽगाधत्वम्, विस्तारस्तिर्यग्दैर्घ्यम्, तैर्दुस्तरं तरीतुमशक्यम् । पुनः कथम्भूतम्—प्रकटोप-लक्षितान्तः स्थितसितकठिनप्रस्तरम्—प्रकटमुप समीप इव लक्षिता दृश्यमाना अन्तःस्थिताः सितकठिन-प्रस्तराः धवलकठोरपाषाणशकलानि यस्मिन्निति वचनविलोकनादिनैव अन्तःकरणस्थितं स्वच्छत्वं कठिनत्वञ्च लक्ष्यत इति भावः ।

तथा चोक्तम्—"बहिर्मुखानां सङ्गेन तच्छास्त्रश्रवणेन च ।
शास्त्राभ्यासेन बहुनाऽसजातीयातिसङ्गतः ॥
अपि सत्तीर्थशिष्याणां रुध्यते प्रेमपद्धतिः ।" इति ॥

**यत्र लौकिककवितालताप्रतानपरिरम्भितांकुरितकोरकितमुकुलितविकसितफलित-काव्यनाटकादितरुनिलयं विविधगन्धाधारमन्थरशीतलानिलमिलनलल्नवलकिसलयपरमा-भिराममारामकुलं सर्वतः परिखावलयम् ॥**

यत्र लौकिककवितेति । यत्र सर्वतः परिखावलयं परिखामण्डलस्य समन्ततः परमाभिरामं महा-मनोहरमारामकुलमुपवनवृन्दं तदेव विशिनष्टि—लौकिकेति । लौकिका नलदमयन्तीमालतीमाधवादिवर्ण-

---

'यत्र इति'—जहाँ उस कोट के चारों तरफ विमल सत्व नाम वाली परिखा (खाई) का घेरा है। वस्तुतः चित्त की अत्यन्त निर्विकारता उस नगर के प्रवेश में रोधक रुकावट है। वह परिखा बहुत लम्बी विस्तृत और गहरी है। इसलिये उसे पार करना कठिन है, उसमें स्पष्ट दीख रहे नीचे (तल में) बिछे हुए श्वेत वर्ण के दृढ पाषाण शोभित हो रहे हैं। यहाँ आयाम् शब्द से लम्बाई, गम्भीर शब्द से गहराई, और विस्तार शब्द से चौराई ली गई है, इनसे वह खाई अत्यन्त दुस्तर है। परिखा के प्रकटोपलक्षित विशेषण से यह भाव स्पष्ट होता है कि व्यक्तियों के बात-चीत करने और उनके देखने आदि से ही उनके अन्तःकरण की स्वच्छता और कठिनता लक्षित हो जाती है जैसा कि कहा भी गया है। —बहिर्मुख के संग से और वैसे ही शास्त्रों के श्रवण तथा अधिक अभ्यास से एवं विजातियों के अति संग से किंच अति विद्वानों के शिष्यों के सम्बन्ध से भी प्रेम पद्धति निरुद्ध हो जाती है।

उस परिखा के चारों तरफ सुन्दर बहुत से उपवन शोभित हो रहे हैं, उन उपवनों (बगीचों) की नाना प्रकार के सुन्दर वृक्ष और विविध लताएँ परस्पर लिपटी हुई शोभा बढ़ा रही हैं। कवि को यहाँ लौकिक कविताओं में लताओं का आरोप अभीष्ट है, जैसे मधुर रस मर्यादा में नायिका से परिरंभित जनों में अष्ट सात्विक भावात्मक रोमाञ्चादि भाव उत्पन्न हो जाते हैं वैसे ही लताओं से लिपटे हुए उन वृक्षों में अंकुरित कोरकित (कलियों का होना) तथा मुकुलित (बन्द) होना एवं खिलना (फलित) होना यह वृक्षों की स्वाभाविक स्थिति है। इसी प्रकार काव्य नाटक आदि रूप वृक्षों के निलय (समूह) को जिनमें नये नये पत्ते शोभित हो रहे हैं, अनेक सुगंधित स्थानों से गन्ध को लानेवाला अतएव मन्द तथा शीतल वायु अपने झौंकों से हिलाता रहता है।

टीका :—'यत्र लौकिक कवितेति'—लौकिक शब्द से नल-दमयन्ती, मालती-माधव आदि वर्णनात्मक कविताएँ हैं जिनमें उन-उन कवियों की रसात्मक उत्तम-उत्तम उक्तियें देखने को मिलती हैं,

नात्मिका या कविता: कविप्रौढोक्तिनिबद्धकवित्वपद्धतयस्ता एव लतास्ताभिर्नायिकाभिरिव प्रतानैः सूक्ष्म-सूत्रैरिव तासामवयवविशेषैः परिरम्भिता: संवलिता ये काव्यनाटकादितरव:—काव्यानि नैषधादीनि श्रव्यानि, नाटकानि मालतीमाधवादीनि दृश्यानि तान्येव तरवो द्रुमा:—तेषां नेतृणामिव निलयमास्पदम्। अत्र कविता एव लता: काव्यादय एव तरव इत्युभयत्रानुभयोक्तिरूपकम्। स्त्रीपुंव्यक्तिव्यञ्जकाभ्यां लतातरु-पदाभ्यां तयोर्नायिकत्वसूचनेनोपमालङ्कारो व्यञ्जित:। किञ्च, नलदमयन्तीवर्णनात्मिकानां कवितानाँ लौकिकत्वकथनेन भगवद्वर्णनात्मिकानां कवितानामलौकिकत्वं तेन परमपुरुषार्थरूपत्वं ध्वनितम्। ततः परिरम्भणादिवांकुरिता जातांकुरा:, कोरकिता जातकोरका:, मुकुलिता मनाग्विकसिता:, विकसिता: प्रफुल्ला:, फलिताश्चेति प्रतिविशेषणं कर्मधारय:। काव्यादिपक्षे समासान्तर्गतैरेभि: पञ्चभिर्विशेषणै क्रमेण युक्तिछन्दोरीत्यलङ्कारप्रसादाख्या: पञ्चगुणा: काव्यदीनामुक्ता:। नायका अपि नायिकाभिरालिङ्गिता रोमोद्गमसोत्कलिकत्वसर्वाङ्गप्रसत्तिमन:प्रमोदजन्मसाफल्यवन्तो भवन्त्येवेति च विवेचनीयम्। पुनः कथम्भूत-मारामकुलम्—विविधेति। पुष्पितोपवनविहारित्वाद् विविधानां नानाप्रकाराणां गन्धानामाधार आश्रयस्तत एव मन्थरो मन्दगति:, बहुभाराश्रयो मन्थरो भवत्येव। शीतलश्च योऽनिलो वायुस्तस्य मिलनं सम्बन्धः प्रतिविशेषणमत्रापि कर्मधारय:। तत्र पूर्वविशेषणद्वयेनास्य सौगन्ध्यं मान्द्यञ्च व्यञ्जितम्, शीतलत्वं तु प्रकट-

---

उनमें युक्त जो कवित्व पद्धतियाँ हैं वे ही यहाँ लता रूप से कही गई हैं—नैयायिकाओं के समान उनके प्रतान (विस्तार) सूक्ष्म सूत्रों से अर्थात् उनके अवयव विशेषों से लिपटे हुओं की तरह—यह काव्य नाटक आदि रूप वृक्ष हैं।

काव्य जैसे नैषधादि सुनने योग्य–नाटक जैसे मालती माधव आदि देखने योग्य अर्थात् रंग मंच पर खेले जानेवाले—वे ही यहाँ वृक्ष हैं। उनका अभिनेताओं के समान रहने का स्थान ऐसा वह आराम (बगीचा) है। यहाँ कविता से लता हैं और काव्यादि ही वृक्ष हैं। इस तरह उभयत्र (अनुभयोक्ति) नामक रूपकालंकार है। किंच स्त्री व्यक्ति और पुरुष व्यक्ति-व्यञ्जक लता तथा तरु पदों द्वारा उनका नायिकत्व सूचित होने से यहाँ उपमालंकार भी व्यञ्जित है अर्थात् शब्द की व्यञ्जना शक्ति के द्वारा अनुभूत होता है। तथा नल-दमयन्ती आदि के वर्णनवाली कविताओं का लौकिकत्व ही कहा है—अतएव भगवद्वर्णनात्मक जो कविता हैं वे सब अलौकिक मानी गई हैं इसीलिये उनकी परमपुरुषार्थ रूपता है यह बात भी इससे ध्वनित होती है। इसके अतिरिक्त मानो आलिंगत होने से ही अंकुरित भाव को प्राप्त हुए कोरकिता अर्थात् जिनमें छोटी-छोटी कली उत्पन्न हो गई हैं मुकुलितता से अभिप्राय कुछ खिले हुए और विकसिता माने खिले हुए हैं। ऐसे ही फलिता—जिनमें फल लगे हुए हैं। इन विशेषणों से प्रत्येक के साथ कर्मधारय समास है। यहाँ काव्यादियों के पक्ष में समास में आए हुए इन पाँच विशेषणों द्वारा क्रम से युक्ति, छंद, रीति अलंकार और प्रसाद नाम के काव्य आदियों के पांच गुण समझने चाहियें। लौकिक रसास्वाद प्रक्रिया में नायक भी नायिकाओं से आलिङ्गित होकर रोमाद्गम-उत्कलिकत्व-सर्वाङ्ग प्रसत्ति, मन: प्रमोद जन्म सफलता आदि को अनुभूत करते हैं यह बात यहाँ भी समझनी चाहिये।

उस आराम (बगीचा का एक विशेषण—'विविधेति' यह भी है—खिले हुए बगीचों में विहार करने के कारण अनेक तरह की सुगन्धियों का आधार होने से वहाँ चलनेवाला वायु मन्थर अर्थात् मन्द गति है, क्योंकि बहुत भारवाला मन्थर ही है। वह वायु शीतल भी है, उसके मिलने से वृक्षों के नवीन-नवीन पत्ते लगे हैं इत्यादि सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये, यह भी प्रत्येक विशेष के साथ कर्मधारय समास है। वायु के पहले दो विशेषणों से उसका सौगन्धिता और मन्दता व्यक्त होती है शीतलता तो स्पष्ट कह ही दी गई है इस प्रकार उस तीन तरह वायु के सम्बन्ध से उस बगीचे के वृक्षों में लगे नये-नये कोमल-कोमल पत्ते

मेवोक्तम् । एवं तस्य त्रिविधस्य वायोः सम्बन्धेन ललन्ति सचार्कचिक्यं चलन्ति यानि नवलानि नूतनानि सद्यो जातानि किसलयानि कोमलपल्लवा यस्मिन् । अत्रापि काव्यादिपक्षे व्यञ्जनाऽसमवेतानां पदाक्षराणां लालित्यं ध्वनितमिति सूक्ष्मदृशाऽवधेयम् । तदुक्तं प्राचीनैः—

प्रातः पङ्कजकुड्मलद्युतिपदं तत्केशरोल्लासवानर्थोऽभ्यन्तरसौरभप्रतिनिभं व्यङ्ग्यं चमत्कारि यत् । द्वित्रैर्यद्रसिकैश्चिरं सहृदयैर्भृङ्गैरिवास्वाद्यते तत्काव्यं न पुनः प्रमत्तकुकवेर्यत्किञ्चिदुज्जल्पितम्" ।।

एवं सत्कविनिबद्धलौकिककवितामयकाव्यनाटकादिरूपं परिखावलयापरतीरस्थमुपवनं गतानां तत्रैवातिप्रीतिमतां तन्माधुर्य्यानुभावेणैवानन्दितानां कृतकृत्यम्मन्यानां जनानां परिखाप्राकारादिदर्शनेऽप्यलब्धावसराणां नगरान्तर्गमने न विकाश इति किं वक्तव्यमिति विवक्षितम् ।।

**यत्रान्तर्नगरं यावककुसुम्भरससरसविमलहिंगुलसिन्दूरलेशतेशलपिच्छलकुङ्कुमपङ्काङ्गरागवतीव प्रकटपरमानुरागवतीव वसुमती भाति शोणितमणिमयी ।।**

एवं नगरबहिर्भागवर्णनं विधाय तन्मध्यभागमनुवर्णयति—यत्रान्तर्नगरमिति । नगरस्यान्त इति अन्तर्नगरं यावकादिखिररुणरसैः सरसा मृदुलीकृता ये निर्मला हिंगुलसिन्दूराद्यरुणपदार्थलेशास्तैः पेशलं सुन्दरं यत्कुंकुमपङ्कं तेनाङ्गरागवतीव वसुमती भूमिर्भाति । अन्यत् स्पष्टमेव ।।

**यत्रान्तर्बहिरन्तः पद्मरागशकलकलधौतकलितान्यतिललितानि सकलान्येव सद्मानि ।**

यत्रान्तर्बहिरन्तरिति । यत्रान्तर्यस्मिन्नगरमध्ये बहिरन्तः—बहिश्च अन्तश्च—पद्मरागाख्याः शोणमणयस्तेषां शकलानि खण्डाः कलधौतं सुवर्णञ्च, अर्थात् सुवर्णस्य पङ्कमित्यर्थस्तैः कलितानि रचितान्यत एव ललितान्यत्यन्तमनोहराणि सकलानि समस्तान्येव सद्मानि गृहाणि प्रासादा भवन्तीति क्रियापदमुपरितो योज्यमित्यलमधिकव्याख्यानेन ।।

---

चाकचिक्य (स्वच्छता) पूर्वक हिलते रहते हैं, यहाँ भी काव्य आदि पक्ष में व्यञ्जना से असमवेत (सम्बन्ध-रहित) पदों और अक्षरों का लालित्य ध्वनित होता है यह बात सूक्ष्म दृष्टि से जानने योग्य है । इसी को प्राचीन विद्वानों ने भी कहा है । श्लोकार्थ प्रातः इति—प्रातःकालीन कमल की कली की कान्ति के समान काव्य में पद होता है—और उसमें लहलहाती केसरों (तन्तुओं) के समान अर्थ होता है तथा और भी भीतर रहनेवाले सौगन्ध के समान चमत्कार पूर्ण व्यङ्ग्य (व्यञ्जना शक्ति द्वारा ज्ञात होना) होता है जिसका आस्वादन दो तीन (कुछ) रसिक ही भँवरों के समान दीर्घ काल तक करते हैं । वही काव्य है न कि मतवाले कुकवि का कुछ भी अनाप सनाप बोलते रहना । इति ।

इस प्रकार श्रेष्ठ कवि के द्वारा निर्मित लौकिक कवितामय काव्य नाटकादि, रूप परिखा वलय के दूसरे किनारे पर शोभित उपवन में गये हुए और वहीं प्रसन्नता को प्राप्त करके, वहीं के सौन्दर्य माधुर्य के अनुभव से आनन्दित हुए अतएव अपने को कृतकृत्य समझनेवाले जनों को, जिन्हें परिखा प्राकार आदि के दर्शन का भी समय नहीं मिलता, फिर उनका नगर में प्रवेश ही कैसे हो सकता है । इति । यही बात यहाँ विवक्षित है । इस प्राकार के बाहर का वर्णन करके अब उसके मध्य भाग का वर्णन करते हैं ।

जहाँ नगर के भीतर की भूमि लालवर्ण के मणियों से जटित है, यावक (महावर) कुसुम्भ के रस से सरस और स्वच्छ हिंगुल तथा सिन्दूर के अंश से सुन्दर एवं घने कुमकुम पंक के से निर्मित अङ्गराग वाली के सदृश है तथा परम अनुरागवती के समान प्रकट ही है । टीकानुवाद मूल के सदृश ही है ।

**मूल एवं टीकानुवाद**—जहाँ-उस नगर में बाहिर भीतर पद्मराग नाम की (लाल) मणियों के खण्डों से और मानो सुवर्ण के पंक से निर्मित ललित तथा, अत्यन्त मनोहर सभी भवन गृह एवं प्रासाद आदि शोभित हो रहे हैं ।

**यत्र विशालविद्रुमद्रुमशकलघटिता कलधौतकीलशृङ्खलादिजटिता सर्वत्रैव विकटा-कपाटपटली ॥**

यत्र विशालेति । यत्र विशालाः सपरिणाहा ये विद्रुमाणां प्रवालानां द्रुमास्तरवस्तेषाँ शकलैः खण्डैर्घटिता रचिता, कलधौतस्य सुवर्णस्य कीलाः शृङ्खलादयश्च तैर्जटिता खचिता, सर्वत्रैव सर्वसद्मसु विकटा धर्षयितुमक्षमा कपाटानाँ पटली समुदायः ॥

**यत्र सद्मशिखरोपरिसुवर्णकलशोपरिसुवर्णरसरञ्जितैव पताकावली ॥**

यत्र सद्मेति । स्पष्टार्थमेव

**मूलं मुदां रतिपतेर्मनसोऽनुकूलमाचूलमूलमरुणं धरणोगुणेन ।**
**नैश्रेयसाकरममन्दमरन्दसान्द्रं सन्ध्याघनोपमघनोपवनं विभाति ॥ १३ ॥**

मूलं मुदामिति । रतिपतेः सदयितस्य मधुरमेचकस्य मुदामानन्दानां मूलं तस्यैव राज्ञो मनसोऽनुकूलं परमप्रीतिप्रदं धरिण्या गुणेनारुणिमलक्षणेन आचूलमूलं चूलं चूड़ामूल तदभिव्याप्यारुणम् । नैश्रेयसाकरं-नैश्रेयसं नाम वैकुण्ठस्थितं वनं "यत्र यत्र भगवानवतरति तत्र तत्रांशेन पूर्णस्वरूपेण च वैकुण्ठमवतरति तत्र तद्वनं चायात्येव" इति शास्त्रे प्रसिद्धम् । तत्र वैकुण्ठस्थितस्य तथा श्वेतदीपादिवैकुण्ठांशस्थितस्य वनस्य च आकरं प्राकट्यनिदानमंशिरूपमित्यर्थः । अमन्दो मुहुर्यो मकरन्दस्तेन सान्द्रं निविडं सन्ध्याघनोपममरुणाभं घन सच्छायमुपवनमारामो विभाति शोभते ॥ १३ ॥

**यत्रानुरागरसरञ्जितमनसः कुसुम्भकुङ्कुमरसरञ्जितवाससः सर्व एव नगरनिवासिनः कृताः ॥**

---

जहाँ विशाल विद्रुम (मूँगा) के वृक्षों से निर्मित और सुवर्ण की कीलों तथा साँकलों से जड़े हुए महाम् होने के कारण किसी भी तरह न टूटनेवाले कपाटों के समूह सभी भवनों के दरवाजों पर लगे हुए हैं । इति । टीकानुवाद मूल अनुवाद सदृश ही है—

जहाँ भवनों के शिखरों पर लगे हुए कलशों के ऊपर पीले रंगवाली पताकाएँ लहरा रही हैं । ग्रन्थकार का पद्य है—

**श्लोकार्थ १३**—उस नगर के बीच में मधुरमेचक नाम रतिपति के निवास का उपवन शोभित हो रहा है जो प्रसन्नता का मूल है एवं मन के अनुकूल है और भूमि के गुण से ऊपर से नीचे तक अरुण है तथा सुखों का खजाना और बहुत अधिक पुष्प रसों से घना हो रहा है—अतएव जो सन्ध्याकालीन मेघों के सदृश है । इति । यहाँ "नैश्रेयसाकरं" नैश्रेयस नाम वैकुण्ठ के वन से अभिप्राय है—

क्योंकि जहाँ-जहाँ भगवान् अवतरित होते हैं वहाँ-वहाँ कहीं अंश से और कहीं पूर्ण स्वरूप से वैकुण्ठ भी अवतरित होता है और वहाँ उसका वन भी आता ही है यह बात शास्त्रों में प्रसिद्ध है । यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि वैकुण्ठस्थित तथा श्वेतद्वीप आदि वैकुण्ठ के अंश से स्थित जो वनों का समूह है वही प्राकट्य का निदान होने से अंशी रूप है—सन्ध्याकालीन घन के सदृश इस विशेषण से उस उपवन का अरुण कान्तिवाला एवं घन शब्द से छायावाला होना गृहीत होता है । इति ॥ १३ ॥

उस नगर के सभी निवासी रति की आज्ञा से अद्भुत शिल्पी के द्वारा अनुराग रस से रञ्जित चित्तवाले एवं कुसुम्भ व कुमकुम रस से रंगे हुए वस्त्रधारी बना दिये गये हैं ।

**टीकानुवाद**—इस वर्णन में गोपुर से लेकर नगर मध्यवर्त्ती उपवन पर्यन्त, सभी जगह समस्त वस्तुओं का अरुणमय वर्णन है एवं उस नगर का सूर्यादि लोकों के तेजोमयत्वादि के समान अनुरागमय व

यत्रानुरागेति । कृता: रतेराज्ञया तेनाद्भुतेनैव । यत्र गोपुरमारभ्य एतावत्पर्यन्तं सर्वत्रारुणमयत्व-कथनं तन्नगरस्य सूर्यादिलोकानां तेजोमयत्वादिवदनुरागमयत्वमेव विशदयति । अनुरागरसेन रञ्जितानि वासांसि येषाँ तादृशा: सर्वे नागरा: कृता इति भाव: ।।

**यत्र सर्वे पतत्रिणोऽप्यरुणा: । तत्र दिग्दर्शनाय हंसानामरुणत्वोदाहरणं यथा—**

**अहो महीयान् महिमाऽपरोक्षो राधापदाधारमहीतलस्य ।**
**पयोविवेकप्रचुरप्रशंसो हंसोऽपि यत्रारुणतां प्रयाति ।। १४ ।।**

यत्रेति स्पष्टार्थमेव ।। १४ ।।

**यत्र वीरद्वयहासविशदसंज्ञौ भूपोपमन्त्रिणौ रत्यैवाधिकृतौ ।**

पक्षे युद्धवीरधर्म्मवीरौ हासश्च नृपमित्रतया उपमन्त्रिण: उत्साहोपहासादिभिस्तत्पोषका: ।।

**यत्र सह:सहस्यसंज्ञावेवाद्वैतपरिनिष्ठितौ शङ्करशिष्यौ ।।**

यत्र सह इति । सह:सहस्यनामानौ सहा मार्गशीर्ष:, सहस्य: पौष: तावेवाद्वैतस्य द्वयोरैक्यस्य सम्पादकौ तत्र शीताधिक्याद् द्वयोरैक्यं भेदाभाव इव भवतीत्यर्थ: । "मार्गशीर्षे सहा मार्ग:" इति, "पौषे तैषसहस्यौ द्वौ" इति चामर:।।

**यत्राभिमताऽप्रचुरद्वचारमाध्वमता ऊष्मकभामादिदर्शननामानस्तदन्तेवासिन: ।।**

यत्राभिमतेति । अभिमत: सम्मतोऽप्रचुरप्रचार: माध्वमतो येषान्ते तथा ऊष्मकभामादिदर्शन-

---

का ही स्पष्टीकरण किया गया है । इति ।

जहाँ उड़नेवाले पक्षी तक भी सब अरुण ही हैं इसका दिग्दर्शन कराने के लिये हंसों की भी अरुणता के लिये निम्न उदाहरण हैं—

**श्लोकार्थ १४**—श्रीराधारानी के द्वारा अधिष्ठित भूतल की यह प्रत्यक्ष महान् महिमा है कि जहाँ दूध पानी के अलग करने की चतुराई के कारण ही अधिक प्रशंसा को प्राप्त करनेवाला श्वेत हंस भी अरुण बन गया । इति ।। १४ ।।

(टि—इस प्रसंग में कोट-नगर-उपवन, जन पक्षी आदि सभी का वर्णन अरुणतामय हुआ है जो राग शब्द से व्यवहित है इससे ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस प्रेम राज में जड़-जङ्गम सभी अनुराग-मय हैं ।) इति ।। १४ ।।

जहां युद्धवीर-धर्मवीर एवं हास-उपहास—यह राजा के मन्त्री हैं जिनको रति ने ही नियुक्त किया है । (टि—यहाँ शृङ्गार रज अङ्गी अर्थात् मुख्य रस हैं—वीर हास आदि उसके पोषक रस हैं । इति)

जहाँ मार्गशीर्ष और पौष शीतकाल के दो महीने ही इस नगर में सदा रहते हैं, इसलिये इनको अद्वैत कहा है क्योंकि यह दोनों ऐक्य भाव से रहते हैं । शीत की अधिकता से यह दोनों ऐक्य-भेदभाव से सदा वहाँ रहते हैं ।

(टि—क्योंकि मधुर रस में दो प्रेमियों का भिन्न निवास रस पोषक नहीं माना जाता, इसलिये संगमकारक शीतकाल का महत्व यहाँ अद्वैत रूप से कहा गया है । आचार्य श्री शंकर अद्वैत के पोषक हैं इसलिये इन दोनों महीनों को उनका शिष्य बताया गया है । संस्कृत में मार्गशीर्ष के तीन पर्यायवाची शब्द १-मार्गशीर्ष २-सहा ३-मार्ग: एवं पौष के दो—१-तैष २-सहस्य शब्द अमरकोष में आये हैं । इति—

जहाँ माध्व मत का अधिक प्रचार नहीं हैं । उष्मक—भाम आदि दर्शन नामवाले उनके शिष्य हैं । बात यह है कि उष्मक—ग्रीष्म को कहते हैं और भाम यह मान का नाम है । इनका दर्शन ही

नामानस्तदन्तेवासिनो माध्वशिष्या: । वस्तुतस्तु ऊष्मको ग्रीष्म:, भामो मान:, आदिदर्शनं पूर्वानुराग:, एतेषु किञ्चिद्वियोगोऽपि तत्रात्यन्तोष्मणा शुचिमानयो: पूर्वानुरागे तु संयोगाभावेन पूर्वं भेदोऽस्त्येव, तन्मतस्याऽप्रचुरप्रचारत्वात्, सर्वदाद्वैतमेवेति ध्वनि: ॥

**यत्र विशिष्टाद्वैतपरिनिष्ठिता: कुसुमसमयसदासारसोमप्रभनामानो रामानुजीया: ॥**

यत्रविशिष्टाद्वैतेति । द्वैतयुक्तमद्वैतं विशिष्टाद्वैतं तत्र परिनिष्ठिता: निबद्धश्रद्धा: कुसुमसमयसदासारसोमप्रभनामानो रामानुजीया: रामानुजशिष्या: । वस्तुतस्तु वसन्तवर्षासमयशरद: । "वसन्ते पुष्पसमय:" इत्यमर: । सदा आसारो वृष्टिर्यस्मिन्स वर्षासमय: । सोमस्य चन्द्रस्य प्रभा कान्तिर्यस्मिन् स शरदृतु: । एतेषु भेदाभेदौ मित्रतया स्त इति विशिष्टाद्वैतसिद्धि: ॥

**यत्र प्रेमभक्तिसिद्धान्तप्रवर्तक: कलिप्रियस्य शिष्यस्तपस्याख्य: ॥**

यत्र प्रेमेति । प्रेमभक्तिमार्गप्रवर्तक: कलिप्रियस्य नारदस्य शिष्यस्तपस्याख्य: । वस्तुतस्तु फाल्गुन:, कलिप्रियशब्दस्यान्वर्थतया कलहप्रवर्तकत्वमप्यायातम् । तेन फाल्गुनी होलिका क्रीडारूपं कलहकुलं भवत्येव प्रेमरसमयम् । "स्यात्तपस्य: फाल्गुनिक:" इत्यमर: ॥

**यत्र प्रेमप्रणयस्नेहमानरागानुरागमहाभावमोदनमादनमोहनाभिधा यथोत्तरं ज्येष्ठा रतिपतिप्रेष्ठा राजकुमारश्रेष्ठा: ॥**

यत्र प्रेमेति । यत्र प्रेमादयो दशराजकुमारश्रेष्ठा: । अत्र ज्येष्ठश्रेष्ठपदाभ्यामन्येऽपि निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिंशदष्टसात्विकाश्च रतिपतेरेव पुत्रा इति व्यञ्जितम् यथोत्तरं ज्येष्ठा इति वक्ष्यमाणं रतेर्विपरीतकर्त्रीत्वं

---

पूर्वानुराग है, इनमें कुछ वियोग भी है । शुचि—ज्येष्ठ मास और मान इन दोनों में अत्यन्त ऊष्मा रहती है, किन्तु पूर्वानुराग में तो संयोग के अभाव से पहले भेद रहता ही है । क्योंकि उनके (माध्व के) मत में द्वैत का इस रस में पूर्ण प्रचार नहीं है, अतएव यहाँ (प्रेम नगर में) सर्वदा अद्वैत ही रहता है यह ध्वनि है । इति

यहाँ यह विशिष्टाद्वैत अर्थात् द्वैत से युक्त अद्वैत भी रहता है । उसमें परिनिष्ठित और श्रद्धा रखने वाले १ कुसुम समय २ सदासार ३ सोमप्रभ नाम के श्रीरामानुज के तीन शिष्य निवास करते हैं । वस्तुतस्तु कुसुम समय-वसन्त, सदासार-वर्षा, सोमप्रभ-शरद यह तीन ऋतुएँ ही सदा वहाँ रहती हैं । अमरकोष के अनुसार कुसुम समय-बसन्त, सदासार-धारा सम्पात् वृष्टि जहाँ होती रहती है वही वर्षा समय है, सोमप्रभ-चन्द्रमा की कान्ति जिसमें सदा रहती है वही शरद ऋतु है । इनमें भेद और अभेद दोनों मैत्री से रहते हैं, इस प्रकार विशिष्टाद्वैत की सिद्धि होती है । इति ॥

(टि—इस प्रसङ्ग में रामानुज शब्द से "रमाओं का अनुगमन" यह भी ध्वनित होता है । इति)

जहाँ प्रेम भक्ति सिद्धान्त का प्रवर्तन करनेवाला कलियुग का प्रिय शिष्य फाल्गुन महीना भी रहता है । इति ।

यहाँ कलि प्रिय शब्द से नारदजी का ग्रहण हुआ है । कलि प्रिय शब्द से अनुरूप होने से फाल्गुन मास का कलह प्रवर्तकत्व (लड़ाई-झगड़ा लगाना आदि) भी अर्थ होता है, इसलिये फाल्गुन भी होली का क्रीड़ा रूप कलह का समूह ही होता है परन्तु ऐसा कलह भी प्रेम रसमय ही है । इति ॥

जहाँ दस प्रेमादि श्रेष्ठ राजकुमार हैं जिनके नाम हैं—१-प्रेम २-प्रणय ३-स्नेह ४-मान ५-राग ६-अनुराग ७-महाभाव ८-मोदन ९-मादन १०-मोहन इति ।

इनमें एक से एक आगे के ज्येष्ठ-बड़े है और रतिपति के बहुत ही प्रिय हैं इति ।

यहाँ ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पदों द्वारा यह बात व्यञ्जित की गई है कि इनके अतिरिक्त रति-पति के और भी पुत्र हैं जो निर्वेद आदि तैंतीस संचारी भाव तथा आठ सात्विक भाव माने जाते हैं । "यथोत्तरं

ज्येष्ठकनिष्ठवैपरीत्यकथनेनात्रापि दर्शितम् ।

किं वक्तव्यं पुत्रेषु, स्वयमपि रतिः कान्तविषयिकया कान्ताश्रयया वा रत्या कनिष्ठापि ज्येष्ठा जाता । तथोक्तं साहित्यदर्पणकृता—"कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वान्नायकप्रणयं प्रति" इति ।।

**यत्र भीरुभावरुद्रविधेयकरुणाकरकदर्य्याख्या भूपतिपरिपन्थिनो राजनिर्जिता नगरान्तिकमपि नायान्ति ।।**

यत्र भीरुभावेति । भीरुभावरुद्रविधेयकरुणाकरकदर्य्याख्याः वस्तुतस्तु प्राकृतभयानकरौद्रकरुणबीभत्साः, एतेषां शृङ्गाररसाऽमित्रतया परिपन्थित्वं युक्तमेव ।।

**यत्र पुरपरिपालकः स्थिरीकृतराजशासनः कीरोक्तिविलासो नाम ।।**

यत्र पुरेति । पुरपरिपालकः क्षत्ता कीरोक्तिविलासो नाम । वस्तुतस्तु श्रीभागवतमेव मर्यादामयतया राजशासनं स्थिरीकृत्य पुरं पालयति—दिवानिशं नानासिद्धान्तगोमुखध्वनिभिस्ततस्ततो राजाज्ञया भ्रमति—न तु तत्रत्यान् निग्रहीतुं प्रभवति, तत्रत्यानां सर्वेषां मधुरमेचकीयत्वात् । स्थिरीकृतं सम्यक् स्थापितं राज्ञो मधुरमेचकस्य शासनं येनेति बहुव्रीहिः ।।

**यत्र शूरत्वमात्राहृतो निरर्गलो राजसेवानभिज्ञोऽनत्यन्ताभीष्टो राज्ञा दुर्जननिर्जयाय**

---

ज्येष्ठा इति" यह आगे वर्णन किया जायेगा । रति का विपरीत कर्तृत्व (उलट फेर) ज्येष्ठ कनिष्ठ अर्थात् बड़े छोटे की विपरीतता के कथन द्वारा, यहाँ पर यह बताया गया है "अर्थात् इससे यह भाव प्रतीत होता है कि अनुराग की पराकाष्ठा दशा मोहन होने से वही ज्येष्ठ है जो प्रथम होनी चाहिये परन्तु अन्त में कही और अनुराग की प्रारम्भ दशा प्रेम है जो महान् नहीं कही जा सकती, इसलिये वह कनिष्ठ है परन्तु पहले कही, यही वैपरीत्य वर्णन हो सकता है इति ।)"

**टीकानुवाद**—पुत्रों के विषय में जेष्ठ कनिष्ट भाव की बात क्या कहनी है जब कि रति भी स्वयं कान्त विषया तथा कान्ताश्रया होने के कारण ज्येष्ठा और कनिष्ठा हो जाती है । जैसा कि साहित्य दर्पणकार ने भी कहा है " नायक के प्रेम के प्रति नायिका के कनिष्ट तथा ज्येष्ठ रूप होते हैं ।" इति

जहां प्राकृत भयानक रौद्र करुण और बीभत्स रस, शृङ्गार रस के सहायक न होने से उनको शत्रु मानना युक्त ही है, अतएव राजा से पराजित होकर वे नगर के भीतर की बात तो क्या कहैं समीप भी नहीं आते हैं । टीकानुवाद मूल समान हैं—

(टि—यद्यपि शृङ्गारविधया रसास्वाद पद्धति प्रकरण में "दन्तक्षत-रदक्षत आदि" का वर्णन उपलब्ध होता है, तथापि वे रस पोषक होने से यहाँ अप्राकृत रस प्रसङ्ग को लेकर वीभत्स आदि भाव को प्राप्त नहीं होते हैं ।)

जहां उस नगर का परिपालन करनेवाला—रक्षक कीरोक्ति-विलास नाम का है । जो राजा के शासन को स्थित करने में समर्थ है ।

**टीकानुवाद**—वास्तव में श्रीमद्भागवत ही मर्यादा से राजशासन को स्थिर करके उस पुर का पालन करता है । वह रात दिन अनेक सिद्धान्तरूपी गोमुख (दुन्दुभि) ध्वनियों को करता हुआ जहाँ-तहाँ राज की आज्ञा से भ्रमण करता रहता है किन्तु उस नगर के निवासी अर्थात् अनुरागियों का निग्रह करने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि वहाँ के सभी जन मधुर मेचक के ही अधीन रहते हैं । 'स्थिरी कृतं राजशासनः" इस पद में स्थिरीकृतं-सम्यक् स्थापितं राज्ञो मधुर मेचकस्य शासनं येन" इस प्रकार बहुव्रीहि समास करना चहिये । इति ।

जहाँ उस नगर के चारों तरफ अभ्यस्त शास्त्र नाम का सैनापति घूमता है, वह शूर वीर है

**निर्दिष्टो निरन्तरं परितो नगरमेव परिभ्रमति सेनापतिरभ्यस्तशास्त्रो नाम ।**

यत्र शूरत्वेति । अभ्यस्तशास्त्रो नाम सेनापतिः । वस्तुतः शास्त्रज्ञ एव । कथभूतः—राज्ञोनात्यन्ताभीष्टः, तत्र हेतुगर्भं विशेषणत्रयम्—निरर्गलो राजसेवानभिज्ञो धृष्टश्चेति; अनत्यन्ताभीष्टत्वेन किञ्चिदभीष्टत्वमायातम् । तद् व्यञ्जयितुं विशेषणान्तरं शूरत्वमात्राद्दत इति, शास्त्रीयकर्कशतर्कयुक्तिमयशस्त्रास्त्रवित्तया बहिर्मुखसंसत्समराङ्गणे तज्जयकुशलत्वेन राज्ञादृतः, अतो दुर्जनानां स्वविरोधिनां द्विविधमीमांसकादीनां निर्जयाय निर्दिष्टः परितो नगरमेव ससैन्यः परिभ्रमति । नगरान्तर्नायातीत्येव शब्दार्थः । तन्नगरे शास्त्रीयकर्कशवादवितण्डादीनां नावसर इति भावः ॥

**यत्र दृग्दर्शनवचनाभिज्ञसंज्ञावलक्षितहृदयवृत्तान्तविदौ परीक्षकौ ॥**

यत्र दृग्दर्शनेति दृग्दर्शनवचनाभिज्ञसंज्ञौ परीक्षकौ दर्शनश्रवणाभ्यामेवान्तःस्थितार्थाभिज्ञौ । वस्तुतस्तु दर्शनश्रवणाभ्यामेवान्तःस्थितं निभृतवृत्तान्तं तन्नगरे सद्यो ज्ञायत इति तत्रत्यानां चातुर्य्यं व्यञ्जितम् ॥ इति ॥

**यत्र दुरदृष्टदुराग्रहदुर्वैराग्यदुःसंज्ञादयः प्रबलप्रतीहारा गोपुरबहिःप्रदेशस्थाः परीक्षकद्वयपरीक्षितान् रतिपतिसुहृद एव नगरान्तर्गन्तुमादिशन्ति ॥**

---

इसलिये राजा के द्वारा उसे आदर प्राप्त है और स्वतन्त्र परन्तु राज सेवा में दक्ष नहीं है अतएव वह राजा को अत्यन्त अभीष्ट भी नहीं है । उसे केवल राजा ने दुर्जनों को जीतने के लिये नियुक्त कर रखा है ।

**टीकानुवाद**—वस्तुतः वह शास्त्रज्ञ ही है इसलिये राजा को ज्यादा पसन्द भी नहीं है । इस भाव को जताने के लिये उसके तीन विशेषण हैं १-निरर्गल २-राजसेवानभिज्ञ ३-धृष्ट । अत्यन्त अनभीष्ट इस विशेषण से यह बात पाई जाती है कि वह राजा को कुछ तो अभीष्ट (पसन्द) है ही—इसको व्यञ्जित करने के लिये यह दूसरा विशेषण हैं ('शूरत्वमात्राद्दत' इति) । अर्थात् शास्त्रीय कर्कश तर्क युक्तिपूर्ण शस्त्र अस्त्र विद्या में वह पण्डित है अतएव बहिर्मुखों की सभा से युद्ध करके उनको जीतने में वह बहुत कुशल है । यही कारण है कि राजा उसका बहुत आदर करता है, इसलिते दुर्जन और अपने विरोधी, जो धर्म-ब्रह्म विवेक—पूर्वोत्तर दोनों मीमांसा आदि में जो पंडित हैं, उनको जीतने के लिये नियुक्त किया हुआ वह सेनापति सेना के साथ नगर के चारों तरफ घूमता रहता है । शब्दार्थ यह हुआ कि वह नगर के भीतर भी नहीं आता है । क्योंकि उस नगर में शास्त्रार्थ कर्कश वाद-वितण्डा आदियों का अवसर ही नहीं है । इति ।

जहाँ (प्रेम नगर के दरवाजे पर) दो परीक्षक नियुक्त किये गये हैं जिनके नाम दृग्दर्शन और वचनाभिज्ञ हैं जो नगर में प्रवेश चाहनेवाले जनों के मन की बात को बिना कहे ही जान लेते हैं ।

**टीकानुवाद**—दृग्दर्शन-वचनाभिज्ञ संज्ञक दो परीक्षक हैं जो दर्शन तथा बात-चीत के सुनने मात्र से दूसरे के अन्तःकरण की बात को जान जाते हैं । वास्तव में उस नगर में दर्शन मात्र से अन्तःस्थित गुप्त वृत्तान्त को जान लिया जाता है यही वहाँ का चातुर्य है । यह बात इन प्रसङ्गों से व्यञ्जित होती है ।

(टि—यदि यहाँ दृग्दर्शन-चेष्टाभिज्ञौ ऐसा होता तो इस विषय का एक पद्य मिलता है ।) यथा—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च । नेत्र वक्त्र विकारैश्च लक्ष्यतेन्तरगतं मनः ॥

अर्थात् आकार, इङ्गित (इशारा), गति, चेष्टा, भाषण, नेत्र और मुख के विकारों से मनुष्य का भीतरी भाव व्यक्त हो जाता है । इति ।

जहाँ उस नगर के दरवाजे के बाहिर चार शक्तिशाली पहरेदार हैं । जिनके नाम हैं—१-दुरदृष्ट २-दुराग्रह ३-दुरवैराग्य ४-दुःसंज्ञ इति ।

पूर्वोक्त दोनों परीक्षकों के द्वारा परीक्षित एवं रतिपति के मित्रों ही को उस नगर में जाने

यत्र दुरदृष्टेति। यत्र दुरदृष्टादिसंज्ञा: प्रबला रोद्धं समर्था: प्रतीहारा द्वारपाला:। वस्तुतो दुरदृष्टादयश्चत्वारस्तन्नगरान्त: प्रवेशरोधका गोपुरबहि:प्रदेशस्था नत्वन्त: प्रविशन्ति:। तत्र दुर्भाग्याद्याश्रय: कोऽपि नास्तीति भाव:। किन्तु नृपसुहृद: सहस्रशिरस एवान्तर्गन्तुमादिशन्ति, न तु एकशिरस इत्येव शब्दार्थ:। अथ तत्र के तै: प्रवेशिता:, क च न प्रवेशिता इत्यपेक्षायामन्वयव्यतिरेकाभ्यां तान् प्राक्तनाधुनिक-विभागेन निर्दिशति। एते पुरा यदवधि सुराऽसुराणामनुग्रहनिग्रहाद्यर्थमाविष्कृत।ऽप्राकृतातिबन्धुरविग्रहं परमानुग्रहामृतसिन्धुं दीनानामेकबन्धुं सुबन्धुं कमलबन्धुकुलकमलकाननकमलबन्धुं गतिगञ्जितमुदसिन्धुरं निजासनान्तिकमकस्मादागतं रघुकुलतिलकं जानकीजानिं श्रीरामचन्द्रं सादरमवलोकितवन्त:, तदवधि तद्युगललावण्यामृतसेकादिव सत्वरोदित्वरकिसलयदलादिभिरुपचितनिजेष्टदेवयुगलसेवनमयमनोरथांकुरैरा-क्रान्तमनोरथा: तत एव सततानुगतनिजेष्टप्रियसहचरीवर्गाश्चिरमभीप्सिताऽनवाप्तिसम्प्राप्तसन्तापोष्मपरि-पाकगाढतरभावा: परमानुरागरसरञ्जितस्वभावा: प्रकटं सहस्रशिरस इति दूरादेव दृग्दर्शनपरीक्षिता:, दुर्दृष्टादिभिर्नमस्कृता: संस्तुताश्च, सत्कृता नगरनिवासिभि:. अन्त:प्रवेशिता: सतताद्भुतरूपवेषपेशलमूर्तय: पत्तनालङ्कृतय: परमहसप्रशंसितगतय: सुखं विहरन्ति मुनय: सहस्रशो दण्डकाटवीनिवासिन: प्राचीना:।

---

देते है। इति।

**टीकानुवाद**—दुरदृष्टादि—उन पहरेदारों की संज्ञा है, प्रबल शब्द का भाव है—जो आगन्तुकों के निरोध (रोकने) में समर्थ है। वास्तव में वे चारों उस नगर के अन्त: प्रवेश के निरोधक हैं और दरवाजे के बहिर ही खड़े रहते हैं भीतर प्रवृष्ट नहीं होते। इसका यह भाव है कि कोई भी हतभाग्य जन वहां प्रवेश नहीं प्राप्त कर सकता।

किन्तु उस राजा के मित्र हजार शिरवाले ही वहाँ प्रवेश पाते हैं। न कि एक शिरवाले यह शब्दार्थ है। अब यह विचार है कि उनके द्वारा कौन प्रवृष्ट किये जाते हैं और कौन नहीं? इस अपेक्षा से अन्वय व्यतिरेक से प्राक्तन (पुराने) और आधुनिक (नवीन) विभाग करके उनका निर्देश किया जाता है।

(टि—अन्वय व्यतिरेक-नैयायिकों के मत में यह दो व्याप्ति गिनाई गई हैं—१-अन्वय व्याप्ति २-व्यतिरेक व्याप्ति जिसके होने पर जो हो वह अन्वय-जिसके रहने पर जो न हो वह व्यतिरेक। यहाँ इस प्रसङ्ग में विधि-आदि विवर्जित—ऐसे जनों का इस नगर में प्रवेश होता है यह अन्वय हुआ और जिनके गाढ़ानुराग में कुछ भी न्यूनता है उनका नहीं होता इसे व्यतिरेक कहते हैं।)

जिन लोगों ने, पहले जिस (किसी) समय से लेकर देवता और असुरों पर अनुग्रह तथा निग्रह करने के लिये प्रकट हुए, जिनका देह अप्राकृत (स्वभाव) सुन्दर है, जो परम अनुग्रह रूपी अमृत के तो समुद्र ही हैं दीनों के ही एक मात्र बन्धु हैं, सुन्दर सुहृद हैं, सूर्य कुल रूप कमलवन के भानु अर्थात् प्रकाशक हैं, अपगी गति से मतवाले हाथी की गति को भी मात कर देते हैं, उन रघुकुलतिलक जानकी नायक श्रीरामचन्द्र को अपने आश्रम पर अकस्मात् आया जानकर आदरपूर्वक दर्शन किया—तब से उस युगल छवि के लावण्यामृत के स्नान से मानो शीघ्र ही उद्गत होते हुए वृक्ष के नवीन पत्रादिकों से सम्पादित, अपने दोनों इष्टदेव (सीताराम) के सेवनमय मनोरथ के अंकुरों से उत्कृष्ट अभिलाषावाले और तब से सदा अपने इष्ट के जो प्रिय सहचरी वर्ग है उनका अनुगत्य करनेवाले, एवं विशेष लम्बे समय से अभिलाषा की अप्राप्ति के कारण वियोग ताप से ऊष्मा के परिपाक से जिनका भाव गाढतर हो गया था, अतएव परमानुराग रूप रस से रंजित स्वभाववाले (ऐसे लोग) ही सहस्र शिरवाले माने गये हैं। उनको (प्रेमनगर में) दृग्दर्शन नाम के पहरेदार ने दूर से ही परीक्षित कर लिया और दुरदृष्टादि ने उनको नमस्कार किया स्तुति की एवं (प्रेम) नगर के निवासियों द्वारा सत्कृत होकर नगर में प्रविष्ट हुए। वे अपने अद्भुत सुन्दर रूप वेष से सर्वथा

तदुक्तम् पद्मपुराण—

पुरा महर्षय: सर्वे दण्डकारण्यवासिन: । रामं दृष्ट्वा हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम् ॥
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्ना: समुद्भूताश्च गोकुले । हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात् ॥ इति ।

तथा महाविद्यामहासिद्धयोरुपदेशादङ्गीकृतश्रीवृन्दावनवसतयो निरन्तरं तन्नगरनिवासिजनानुगतयो विशुद्धानुरागामृतसंभृतमतयो नैकशिरस इति परीक्षकद्वयपरीक्षितरतयो द्वारपालै रचितोचितनतयो नगर-परिकरकृतसत्कृतयोऽद्भुतहासविलासमाधुर्य्यादिसमुन्नतयोऽलङ्कृत्यलङ्कृतयो विलसन्ति यत्र श्रुतयोऽनन्ता: प्राचीना: ।

तदुक्तं श्रुतिभिरेव निजस्तुतौ दशमे—१०-८७-२३

"निभृतमरुन्मनोक्षेत्यारभ्य वयवपि ते समा: समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधा" इति । इदानीमिदानीन्तना यत्र गुरुतरगुरूपदेशपरवशतया बहिरीषद्विधिविनयादिवीता अपि अन्तर्नितान्तनिपीतानुरागासवविवशासव: सहस्रशिरस एवेति दृग्दर्शनवचनाभिज्ञनिर्णीता: प्रतिहारैर्नुतानता: प्रवेशिता अपि भीता इव शिथिलपद-

---

सुसज्जित थे—किंच नगर की एक प्रकार की शोभा थे । उनकी गति विधियों का परम हंसों द्वारा प्रशंसन हो रहा था । इस प्रकार हजारों दण्डकारण्य निवासी प्राचीन मुनि वहाँ (प्रेम नगर में) विहार करते हैं जैसा कि कहा गया है ।

**श्लोकार्थ**—पद्मपुराण में – पहले दण्डकारण्य निवासी मुनियों ने अत्यन्त मनोरम विग्रह श्रीराम-रूप हरि का दर्शन करके उनसे विहार करने की इच्छा की, वे ही सब स्त्रि-भाव को प्राप्त होकर गोकुल में प्रकट हुए, और फिर काम (भाव) द्वारा श्रीहरि की प्राप्ति करके संसार सागर से मुक्त हो गये । इति ।

तथा कुछ सज्जन महाविद्या और महासिद्धि के उपदेश से नियत रूप से श्रीवृन्दावन में बसने लगे । वे निरन्तर उस नगर के निवासीजनों के अनुगत हुए और उसी महिमा से विशुद्ध अनुराग रूप अमृत से उनकी बुद्धियाँ परिपूर्ण हो गई । वे ही अनेक शिरवाले, उन दो (दृग्दर्शन और वचनाभिज्ञ) परीक्षकों के द्वारा अनुराग परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर और दुरदृष्ट आदि द्वारपालों द्वारा विधिवत् नमस्कृत होकर नगर निवासियों से सत्कार को प्राप्त हुए और अद्भुत हास विलास माधुर्य आदि की उन्नति उन्हें प्राप्त हुई—वे शोभा की भी शोभा थे । इस रूप में वे वहाँ निवास करने लगे जहाँ अनन्त प्राचीन श्रुतियाँ विलास करती हैं । श्रीमद्भागवत १०-८७-२३ में भी श्रुतियों ने इस श्लोक द्वारा स्तुति की है । श्लोकार्थ एवं मूल श्लोक

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययु: स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समा: समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधा: ॥

प्रभो ! बड़े-बड़े विचारशील योगी-यति अपने प्राण मन और इन्द्रियों को वश में करके दृढ़ योगाभ्यास के द्वारा हृदय में आपकी उपासना करते हैं परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्हें जिस पद की प्राप्ति होती है, उसी की प्राप्ति उन शत्रुओं को भी हो जाती है जो आप से वैरभाव रखते हैं । क्योंकि स्मरण तो वे भी करते ही हैं । कहाँ तक कहें, भगवन् ! वे स्त्रियाँ जो अज्ञानवश आपको परिछिन्न मानती हैं और आपकी शेष नाग के समान मोटी, लम्बी तथा सुकुमार भुजाओं के प्रति काम भाव से आसक्त रहती हैं—जिस परम पद को प्राप्त करती हैं वही पद हम श्रुतियों को भी प्राप्त होता है—यद्यपि हम आपको सदा सर्वदा एक रस अनुभव करती हैं । क्यों न हो आप समदर्शी जो हैं । आपकी दृष्टि में उपासक के परिच्छिन्न या अपरिछिन्न भाव में कोई अन्तर नहीं ॥ अब आज कल के जन जहाँ गुरुओं के गुरुतर उपदेश के अधीन रहकर बाहिर से विधि एवं विनय आदि से युक्त रहते हुए भी, जो हृदय में अतिशय अनुराग रूप आसव के पान करने से पराधीन चित्त रहते हैं, अतएव प्रेम दशा में सदा विभोर रहते हैं ।

सत्वरगता विनीतास्तदाननमवलोकयन्तः ससंभ्रममन्तर्गताः पुरजनादृताः कीरोक्तिविलासानुगृहीताः सहाद्भुत-सौन्दर्यमाधुर्यौदार्यगुणगाङ्गेयगुणमयवसनमणिगणखचितरशनादिविभूषिता विभूषितविभूषणाः प्रायोगत-दूषणाः प्रियजनपरिषदं रतेराज्ञया हंसकमनीयगमनैरलं शोभयन्ति कियन्तः साम्प्रदायिकाः रसिकनायका भागवता महानुभावाः प्राचोनेतरा ये श्रीरूपगोस्वामिचरणैर्धुर्य्यनामानो लिखिताः। यथा तल्लक्षणमुदा-हरणञ्च रसामृतसिन्धौ—प० वि० द्वि० ल० ६३५—

"कृष्णस्य प्रेयसीवर्गे दासादौ च यथायथम्। यः प्रीतिं तनुते भक्तः स धुर्य्य इति कथ्यते॥"

यथा—"देव सेव्यतया यथा स्फुरति मे देव्यस्तथाऽस्य प्रियाः
सर्वः प्राणसमानतां प्रचिनुते तद्भक्तिभाजां गणः।
स्मृत्वा साहसिकं बिभेमि तदहं भक्ताभिमानोन्नतम्,
प्रीतिं तत्प्रणते खरेप्यविदधद् यः स्वास्थ्यमालम्बते॥" इति।

तथा—एतेऽनन्याश्रयतापरमाश्रया सरला बहिरन्तरेकरसमधुरिमरसपरिप्लुताः विप्लुताश्च विधि-निषेधसीमानम्, परमरूढ़भावदशापरवशाः, असात्विका अपि सततोदितसात्विकाः, अराजसा अपि समयोदित-राजसाः, अतमसोपि मनसि मित्रतमसः, निर्गुणा अप्यनुगतानेककल्याणगुणाः, सहस्रशिरस एवेति संस्तुता दूरा-

---

वे भी हजार शिरवाले ही हैं। दृग्दर्शन वचनाभिज्ञ द्वारा निर्णीत होकर एवं पहरेदारों से नमस्कृत होकर वे भीतर प्रविष्ट किये गये। तो भी भयभीत के समान मन्दगति से औतुर और विनीत भाव से भगवद्-मुखारविन्द का दर्शन करके अत्यन्त सम्भ्रम से प्रविष्ट हुए। पुरजनों ने उनका बड़ा आदर किया। कीरोक्ति विलास (श्रीमद्भागवत्) द्वारा अनुग्रहीत भी हुए। एकाएक अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य-औदार्य आदि गुण रूप स्वच्छ शुभ्र वस्त्र और मणिगण से खचित कौंधनी आदि आभूषणों से विभूषित हुए। वे (इस प्रकार) स्वयं भूषणों को भी भूषित करनेवाले थे। उनमें प्रायः कोई भी दूषण नहीं था। वे रति की आज्ञा से प्रिय जनों की सभा में हंसों के समान सुन्दर गति से प्रवेश कर उसे अत्यन्त शोभित करने लगे। यह कुछ जन वे ही साम्प्रदायिक रसिक नायक भगवद् भक्त महापुरुष हैं जो प्राचीनों से अतिरिक्त अर्थात् नवीन श्रीरूप-गोस्वामी चरण द्वारा 'धुर्य' नाम से लिखे गये हैं। उनका लक्षण लक्षण और उदाहरण भक्ति रसामृत सिंधु में है। भ० र० सि० प० वि० २० ल० का २६ श्लोक ६३५—

**श्लोकार्थ**—पारिषद तथा अनुग (ये दो दास भेद) इनके भी फिर ३ भेद हैं—१–धुर्य २–धीर ३–वीर, इनमें से धुर्य का वर्णन तथा उदाहरण—जो भक्त (रक्तः) कृष्ण के प्रति, उनके प्रेयसी वर्ग और उनके दासादि के प्रति वास्तविक प्रेम रखता है वह धुर्य कहलाता है॥ २६॥

देव (कृष्ण) जिस प्रकार मुझे सेव्य प्रतीत होते हैं—इसी प्रकार उनकी प्रिय देवियाँ भी (सेवा के योग्य प्रतीत होती हैं) और उनके प्रति भक्त रखनेवाले सभी का समुदाय अपने प्राणों के समान प्रतीत होता है। इसलिये भक्त होने के अभिमान से गर्वित उस साहसिक का स्मरण करके मुझे भय लगता है जो उन कृष्ण के प्रति प्रणत गर्दभ के साथ भी प्रेम न रखकर भी स्वस्थ रहता है। इति॥

यह एक और अनन्य आश्रयता को ही परम आश्रय देनेवाले सरल बाहिर और भीतर से मधुरिम रस से डूबे हुए – विधि निषेध की सीमा को पार कर गये, परम रूढ भाव दशा के अधीन, असात्विक होते हुए भी जिनमें मन में सदा सात्विकता उदित हुई—अराजस (रजोगुण रहित) होते हुए भी समयानुसार राजस, तमोगुण से रहित होते हुए भी जिनके मन में मैत्री की गाढ़ता है—सगुण होते हुए भी अनुगतों के अनेक कल्याण गुण गणों से युक्त हैं—अथवा अपने पीछे चलनेवाले अनेक कल्याण गुण गणों से युक्त हैं—वे ही सहस्र शिर हैं।

देव दृग्दर्शनवचनाभिज्ञाभ्याम्, निपीता: प्रणयमाध्वीकमदेन, नमस्कृता: प्रतीहारचतुष्टयेन प्रवेशिताश्च सादरं तदभिवीक्षणेप्यलब्धक्षणा, मदमन्थरगतय: कथमपि शनैरन्तर्गता: क्षणस्तम्भिता निरंकुशभावविशेषोदयांकुशेन परिरम्भिता:, पुरपरिजनैरालिङ्गिता: सत्वरं कौशलसौशील्यसौकुमार्य्यसौस्वर्यादिक्रियाकलापै:, परिवीता दृष्टिभियैव तूर्णं लोकोत्तरगन्धद्वयवासितै: सुवर्णै: सुवर्णसूत्रकलितललितचतुरस्त्रलैर्मृदुलचीननवीनैर्वर्णरोचिरुचितवर्णै: सिचयनिचयै: अवनता हारवलयभारेणेव. प्रायो भूषिता: सुरभिकोमलकुसुमविभूषणैरेव, नीता मैत्रीवेत्रवत्या, कुरुविन्दमणिमयमहामन्दिरसभाजिता:, सविध सखीभिरनुरञ्जिता:, सस्मितवीक्षणैर्निजराजसुतयाधिनिवेशिता निजप्रियसखीनामधिसंसत्, तत्रापि निजकरकलितललितकनकमालतीमञ्जुलमालिकया मुहुरवनतशिरसो मरकतमणिमयमञ्जुलमूर्तिकामपि नगराधिदेवीं संभूष्य तयोर्मिथ: शोभाविशेषोदयं निभृतमुदीक्षितुकामा: परमाभिरामा बामा ललितानुरागा लाक्षारसारुणतरैर्निजचरणकमलैरलंकुर्वन्ति रतिमन्दिरं कियन्तो विरला: परमानिर्वचनीयचरिता रसिकशेखरशिखामणय इदानीन्तना अत एव प्रायो रूपगोस्वामिचरणैर्धीरनामानो निर्णीता: । यथा तल्लक्षणमुदाहरणञ्च भक्ति रसामृतसिन्धौ—

---

जिनको दूर के ही दृगदर्शन और वचनाभिज्ञ ने स्तुत किया। प्रेम की 'माध्वीक (मदिरा विशेष) के मद में जो अधीन हैं—दुरदृष्ट आदि चारों पहिरेदारों द्वारा नमस्कृत होते हुए प्रवृष्ट किये गये । आदर पूर्वक भीतर प्रवृष्ट होकर भी उत्सुकतावश जो भगवद्दर्शन करने में असमर्थ प्राय: रहे। मदवश जिनकी गति मन्द होने स किसी भी प्रकार धीरे-धीरे भीतर गये, क्षण भर स्तब्ध हुए, स्वतन्त्रता से भाव-विशेष के उदय रूप अंकुश से मानो आलिगित हुए—अर्थात् उनके हृदय में एक स्वतन्त्र भाव की स्फूर्ति हुई—पुर के परिजनों से वे आलिगित हुए अर्थात् वहाँ के जनों ने बहुत शीघ्र कुशलता, सुशीलता, सुकुमारता, सुस्वरता आदि क्रिया कलाप से उनका स्वागत विशेष किया वे दृष्टि के भय से मानो परिग्रही किये गये। दो प्रकार (गुलाब आदि अरक और इत्र) की सुगन्धियों से सुगन्धित किये गये, उत्तम वर्ण के, जरी के तारों वाले, अत्यन्त सुन्दर-चतुष्कोण, मृदुल चीन देश क नवीन, चमत्कृत कान्ति से युक्त ऐसे मनोहर वस्त्र से वे सुसज्जित किये गये। अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि प्रेमियों को कहीं दृष्टि (नजर) न लग जाय इसलिये उत्तम वस्त्रों से उनको आच्छादित कर दिया गया। गले में हार आदि और भुजाओं में कंकण आदि धारण कराये गये जिससे ऐसा मालूम पड़ता कि अपनी अंग कोमलता वश उस भार से मानो झुके जा रहे थे, फिर सुगन्धित कोमल पुष्पों के भूषणों से वे विभूषित थे, मैत्री नामक वेत्रवती (मुख्य दासी) के द्वारा आगे ले जाये गये। कुरविन्द नामक महा मणियों से निर्मित महामन्दिर में उन्हें सभाजित (स्वागत) किया गया। समीप उपस्थित सखी मण्डल द्वारा वे अनुरजित किये गये और स्मितपूवक (वीक्षण) दर्शन से अपनी राजकुमारी (श्रीराधा) द्वारा अपनी प्रिय सखियों की गोष्ठी में सम्मिलित किया गया।

वहाँ भी (उन्होंने, अपने हाथों से बनाई गई अति सुन्दर सुवर्ण मालती की ललित माला से, मरकत मणिमय सुन्दर मूर्तिमति, नगर की अधिष्ठात्री देवी को बारम्बार शीष झुकाते हुए सम्भूषित किया और उन दोनों की परस्पर शोभा विशेष के उदय को अत्यन्त विश्रब्ल भाव से निहारने की इच्छा उनके मन में प्रबल हो गई। ललित प्रेम संयुक्त वे परम सुन्दरी वामा लाक्षारस (महावर) से भी अधिक रक्त वर्ण के अपने चरण कमलों से, उस रति मन्दिर को अलकृत करने लगीं। ऐसे कितने हो—किन्तु विरल एवं परम अनिर्वचनीय चरित्रवाले रसिक शेखर—शिखामणि आधुनिक अनुरागी जन, जिनका इस प्रसङ्ग में वर्णन हुआ है—उस रति मन्दिर को अलंकृत करते रहते हैं। इसीलिये प्राय: श्रीरूपगोस्वामी चरणों ने उनका धीर नाम निर्णीत किया है जैसा कि उनका लक्षण तथा उदाहरण भक्ति रसामृत सिन्धु में कहा गया है। प० वि० द्वि० ल० २७-६८६

"आश्रित्य प्रेयसीमस्य नातिसेवापरोऽपि यः । तस्य प्रसादपात्रः स्यान्मुख्यो धीरः स उच्यते ।।"

उदाहरणं यथा—

"किमपि पृथगनुच्चैर्नाचरामि प्रयत्नं यदुकुलकमलार्क त्वत्प्रसादाश्रयेऽपि ।
समजनि ननु देव्याः पारिजातार्चितायाः परिजनलिखनान्तःपातिनी मे यदाख्या" ।।इति।।६६६।।

अथ व्यतिरेकः—पुराग्निकुमाराः सुतपसौ मधुरिमरसमयप्रेमामृतसम्भृतमनसोरागानुगमनाभिमुखमागता अपि विधिबन्धुकामनागन्धवत्तया सैकशिरस इति परीक्षिताः परीक्षकद्वयेन, दूरादेव निवारिताः प्रतीहारैः, तत्रैव स्थिता मुहुरवनता विज्ञापिता राज्ञे, तदाज्ञया करुणावेत्रवत्या द्वारकान्तःपुरान्तः प्रवेशिताः । तदुक्तं पुराणान्तरे—महाकौर्मे—

"अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे । भर्त्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम् ।।"

तथैव सिद्धान्तितं श्रीरूपगोस्वामिचरणैः—भ० र० सिं० पू० द्वि० १०४-२०६—

"रिरंसां सुष्ठु कुर्वन् यो विधिमार्गेण सेवते । केवलेनैव स तदा महिषीत्वमीयात्पुरे ।।"

तथा पुनर्मथुरायाम्—सैरन्ध्री त्रिवक्रा नाम परमरागार्पिताङ्गरागा श्रीकृष्णकरकमलसंसर्गप्रभाव-

---

**श्लोकार्थ**—(धीर परिषद तथा अनुग का लक्षण) विशेष सेवा परायण होने पर भी इन (कृष्ण) की प्रेयसी वर्ग का आश्रय लेकर जो (कृष्ण की) कृपा का पात्र बनता है यह मुख्य रूप से 'धीर' (पारिषद या अनुग कहलाता है) ।। २७ ।। इति ।

हे यदुकुल कमल ! यद्यपि मैं आपकी कृपा प्राप्ति के लिये भी अलग से तनिक सा प्रयत्न नहीं करता हूँ क्योंकि पारिजात से अर्चित (अर्थात् जिसके लिये आपने पारिजात वृक्ष लाकर उनके महल में लगाया है उन आपकी प्रियतमा सत्यभामा) के सेवकों की सूची में मेरा नाम आ गया है अतएव अब मैं आपकी कृपा की प्राप्ति के लिए भी अलग से तनिक भी प्रयत्न नहीं करता । इति ।

अब व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा उन प्रेमीजनों का वर्णन करते हैं जिनके विधि आदि निष्ठा टूटी नहीं अतएव अनुराग में कुछ शिथिलता थी । पहले इतिहास में अग्निकुमार नामक तपस्वी जन मधुर रसमय प्रेमामृत पूर्ण चित्तवाले थे, और राग के साथ उस नगर में प्रविष्ट होने को आए, किन्तु दोनों परीक्षिकों ने देखा कि इनमें विधिबन्धु की कामना का गन्ध है इसलिये यह एक शिरवाले हैं (अनेक शिर-वाले नहीं) अतः ऐसे परीक्षित होने पर प्रतिहारों के द्वारा दूर से ही निवारण कर दिये गए । वे लोग बार-बार प्रणाम आदि द्वारा अवनत हुए और बैठे रहे । तब महाराज को यह बात विज्ञापित हुई तब उन (महाराज) की आज्ञा से करुणा नाम की पुर की द्वारपालिका द्वारा (वे लोग) द्वारिकापुरी के अन्तःपुर में प्रविष्ट कराए गये । यह बात (महाकूर्म) पुराणान्तर में कही गई है ।

**श्लोकार्थ**—महात्मा अग्नि पुत्र ने तपस्या से, जगत के उत्पत्ति कारण भगवान अज-वासुदेव विभु को पति रूप में प्राप्त करने के लिये स्त्रि भाव को प्राप्त किया । तथा श्रीरूपगोस्वामी चरणों ने भी यह सिद्धान्त स्थिर किया है ।

**श्लोकार्थ**—जो प्रभु के साथ रमण की इच्छा रखता है परन्तु केवल विधि मार्ग से उनका सेवन करता है वह (व्रजवासित्वादि सम्बन्ध बिना) केवल राजमहिषी भाव को प्राप्त करके द्वारिका पुरी में प्रवृष्ट होता है । (टि—भं० र० सिन्धु का १०४-२०८ में से उद्धृत है पूर्व द्वितीया साधन लहरी ।)

ऐसे ही मथुरा का भी प्रसङ्ग है—त्रिवक्रा (कुब्जा) नाम की सैरन्ध्री ने बड़े प्रेम से भगवान् श्रीकृष्ण को चन्दन आदि अंगराग समर्पित किया फलतः श्रीकृष्ण के करकमल के संसर्ग प्रभाव से उसकी वक्रता दूर हो गई तत्काल परम सुन्दरी हो गई। स्वभाव की धृष्टतावश उसने भी रागानुगमन किया

गतवक्रभावा धृष्टस्वभावा रागानुगमनान्त:पदचतुष्टयं प्रविष्टापि दृष्टा कामवासनासंकुचितनासापुटाभ्यां परीक्षकाभ्याम्, सशीर्षेयमिति निर्दिष्टा, सत्वरं दुरदृष्टादिभि: बहिष्कृता, तत्रैव स्थिता, कालयवनागमने मथुरापुरजनै: सह द्वारवतीं नीता।

तच्च "दुर्भगेदमयाचतेति, तत्र योगप्रभावेणेत्यादि" श्रीभागवते १०-४८-८ स्पष्टमेव। तथा प्राग् गिरिधराभिधानहरिप्रतिकृतौ कृताऽप्राकृतातिप्रीतिप्रतीतिर्गतापि रागानुगमनान्तिकमीषदीषिताऽज्ञानांशसशल्याशया सकल्याणशिरस्केति दृष्टा ताभ्यां दरभुग्नभृकुटितटाभ्याम्, बुद्धा प्रतीहारैर्निषिद्धा निरुद्धा च, प्रेमपाशनिबद्धा नयनघनीररचितासारा हृदयोदितविविधविप्रतीसारा गतधैर्यसारा सा राज्ञे विज्ञाय विज्ञापिता, कृपावेत्रवत्या द्वारावत्यामन्त:पुरं प्रवेशिता। अधुनातनास्तत्रैतिह्यमेव प्रमाणम्, एवं बहव: प्राक्तना इदानीन्तनाश्चेत्यलं पल्लवितेन। प्रकृतमनुसराम:

---

भीतर चार पग गई थी। परन्तु उन परीक्षकों की दृष्टि में आते ही उन्होंने उसके अन्दर काम भाव को जान लिया और घृणावश उनका नासिका पुट संकुचित हो गया, उन्होंने कहा यह तो शिरवाली है। इसके बाद तुरन्त ही दुरदृष्ट आदि पहरेदारों से बाहिर हटा दी गई परन्तु वह वहीं बैठी रही तब काल यवन के आगमन प्रसङ्ग में मथुरा पुरवासी जनों के साथ द्वारिका भेज दी गई। यह प्रसङ्ग 'दुर्भगामयाचत इति' द्वारा श्रीमद्भागवत १०-४८-८—

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्। अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत्॥

**श्लोकार्थ**—परीक्षित! कुब्जा ने केवल अङ्गराग समर्पित किया था। उतने ही से ही उसे उन सर्वशक्तिमान् भगवान् की प्राप्ति हुई, जो कैवल्य मोक्ष के अधीश्वर हैं और जिनकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। परन्तु उस दुर्भगा ने उन्हें प्राप्त करके भी व्रजगोपियों की भाँति सेवा न माँगकर यही माँगा।

तथा पहले भी एक व्यक्ति ने गिरधर संज्ञक श्रीहरि के स्वरूप में अप्राकृत उत्कृष्ट प्रीति की, उसी के विश्वास से राग का अनुगमन करके कुछ आगे बढ़ी, परन्तु उसमें परीक्षक द्वारा अज्ञान के अंश का शल्य (कान्टा) ज्ञात हुआ अतएव परीक्षकों ने उसे कल्याण शिरवाली समझा और उन दोनों की भृकुटी कुछ मुर गई। इस भाव को जानकर दुरदृष्ट आदि पहरेदारों ने उसे भीतर जाने से रोक दिया। परन्तु वह प्रेम पाश में बद्ध थीं, उसकी आँखों से बादल के जल के समान अश्रु बह चले—तथा हृदय में नाना प्रकार के चिन्ता के प्रतीसार (परदा जैसे) उत्पन्न होने लगे, उसका धैर्य टूट गया। महाराज के पास यह सूचना भिजवाई गई, उन्होंने अन्तपुर की कृपा (नामक) वेत्रवती (द्वारपालिका) के द्वारा द्वारिका के अन्त:पुर में प्रवेश करा दिया।

यही आधुनिक जन हैं, इसमें इतिहास ही प्रमाण है, इस प्रकार बहुत से प्राचीन और नवीन (आज कल के) प्रेमीजन गिने जाते हैं, अतएव इसका अधिक विस्तार क्या करें। अब मूल प्रसंग का अनुसरण करें।

टि—(इस प्रसंग में प्राचीन और नवीन प्रेमियों के सम्बन्ध में रागानुगमन आदि पद का प्रयोग हुआ है। आशय यह है कि जो शुद्ध राग को ही लेकर मधुर रस के माध्यम से भगवद् भक्ति में प्रवृत्त हुए वे तो वृन्दावन की निकुञ्ज लीला में निर्विरोध (बे खटके) प्रवृष्ट हुए किन्तु जो रागानुगा के उपासक के उपासक होते हुए भी विधि कैंकर्य से मुक्त नहीं हुए—वे द्वारिका लीला में प्रवृष्ट कराए गये। इसके अतिरिक्त राग के साथ जिनमें स्वसुखित्व रूप काम का गन्ध रहा वे भी कृपावश द्वारिका लीला में ही प्रवृष्ट हुए। इति॥

अब रति के द्वारा किये गये वैपरीत्य (उलट फेर) का विशेष रूप से वर्णन किया जाता है।

**यत्राधर्म एव धर्म स्थापितः ।।**

इदानीं रतिकृतं वैपरीत्यं विशेषतो दर्शयति—यत्राधर्म इति । यत्र नगरे स्थापितः स्थिरीकृतो रत्यैवेति सर्वत्रानुसन्धेयम् ।।

**तदुक्तं श्रीभगवतैव गीतायाम्— १८-६६**

**"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।"**

तत्रोदाहरणे धर्मत्यागस्य शरणगमनं प्रति कारणता दृश्यते परित्यज्येति ल्यप्प्रत्ययस्यानन्तर्य्यार्थत्वात् तत्पूर्वकमेव तत्सिद्धेः । अन्यथा मामेकं शरणं याहि सर्वधर्मान्परित्यज्येत्येवावक्ष्यत् । अतो भगवदभिमुखानां सर्वधर्मपरित्यागलक्षणोऽधर्म एव धर्मः, स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठेत्युक्तेः किं पुनस्तन्नगरस्थानामिति कैमुत्यम् ।।

**तथैवोक्तं प्रथमे— १-५-१७**

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्ववाऽभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तो भजतां स्वधर्मतः ।।

त्यक्त्वेति । अत्रापि पूर्ववदेवार्थः ।।

---

जहाँ अधर्म को ही धर्म रूप में स्थापित किया गया।

जिस नगर में अधर्म ही धर्म रूप से रति के द्वारा स्थिर किया गया—आगे सभी स्थलों में यही बात ध्यान में रखनी चाहिये ।

**टीकानुवाद**—जैसा कि गीता में भगवान् ने कहा है ।

**श्लोकार्थ**—(गीता १८-६६) (हे अर्जुन !) सब धर्मों का परित्याग करके मुझ एक की शरण ग्रहण कर, मैं तुझे समस्त पापों से छुड़ा दूँगा शोक मतकर । यहाँ इस उदाहरण में शरण गमन के प्रति धर्म त्याग की कारणता दीख रही है, क्योंकि 'परित्यज्य' यह पद 'ल्यप् प्रत्ययान्त' है जिसका आनन्तर्य्य अर्थ होता है अभिप्राय यह है कि परित्याग पूर्वक ही शरण ग्रहण संभव है । यदि ऐसा अभिप्राय न होता तो भगवान् 'मुझ एक की शरण ग्रहण कर और सब धर्मो का परित्याग कर' ऐसा बोलते । इसलिये प्रकृत में भगवद् अभिमुख होनेवाले भक्तों का सर्व धर्म परित्याग लक्षण रूपी अधर्म ही धर्म ठहरा । क्योंकि श्रीभागवत् ११-२१-२) में—

**स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः । विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः । इति ।**

**श्लोकार्थ**—अपने अपने अधिकार के अनुसार धर्म में दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण कहा गया है। और इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना दोष है। तात्पर्य यह, कि गुण और दोष दोनों की व्यवस्था अधिकार के अनुसार की जाती है किसी वस्तु के अनुसार नहीं । इति ।

फिर 'कैमुत्य न्याय' से उस नगर निवासियों के लिये तो धर्म त्याग की बात कहना ही क्या है। इस प्रकार श्री भागवत् के प्रथम स्कन्घ—५-१७ में भी कहा गया है ।

**श्लोकार्थ**—जो मनुष्य अपने धर्म को छोड़कर भगवान् के चरणकमलों का भजन सेवन करता है—भजन परिपक्व हो जाने पर तो कहना ही क्या है—यदि इससे पूर्व ही उसका भजन छूट जाय तो क्या कहीं भी उसका अमंगल हो सकता है ? परन्तु जो भगवान् का भजन नहीं करते और केवल स्वधर्म का पालन करते हैं, उन्हें कौन सा लाभ मिलता है । इति—यहाँ भी पूर्ववत् अर्थ है । इसी बात को भा० एकादश-५-४१ में कहा है—

**तथैवोक्तमेकादशे—५-४१**

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम् ॥

देवर्षिभूति। अत्रापि तथैवार्थः।

**तदुक्तं दशमे उद्धवेन—४७-६१**

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

आसामिति। अत्रार्यपथपदस्य धर्ममार्गमिति तैर्व्याख्यातत्वादधर्मः स्फुट एव ॥

**तथैवोक्तं सतीसमूहसेवितपदाब्जरजोभिः श्रीव्रजसीमन्तिनीभिः—भा० १०-२९-३२**

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥

यत्पत्यपत्येति। अस्य पद्यस्य लोकविख्यातस्वामिपादप्रभृतिभिर्व्याख्यातृभिर्विविधव्याख्यानैरेतदेवाभिप्रेतम्—'पत्युः शुश्रूषणम्' १०-२९-२४ इत्यादिभिः पत्यादिसेवनलक्षणो धर्मस्त्वयोक्तः स सर्वत्यागपूर्वकं

---

**श्लोकार्थ**—राजन्! जो मनुष्य 'यह करना बाकी—यह आवश्यक है' इत्यादि कर्म वासनाओं अथवा भेद बुद्धि का परित्याग करके सर्वात्मभाव से शरणागत वत्सल—प्रेम के वरदानी भगवान् मुकुन्द की शरण में आ गया है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों-प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियों के ऋण से उऋण हो जाता है, वह किसी के अधीन, किसी का सेवक, किसी के बन्धन में नहीं रहता। इति। यहाँ भी पूर्ववत अभिप्राय है (अर्थात् अधर्म ही धर्म है)।

फिर दशम स्कन्ध में श्रीउद्धव के वचन हैं—१०-४७-६१

**श्लोकार्थ**—मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी, कि मैं इस वृन्दावन धाम में कोई झाड़ी लता, अथवा औषधि ही बन जाऊँ। अहा! यदि ऐसा बन जाऊँगा तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओं की चरण धूलि निरन्तर सेवन करने के लिये मिलती रहेगी। इनकी चरण रज में स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं यह गोपी—देखो—जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है—उन स्वजनों तथा लोक वेद की आर्य मर्यादा का परित्याग करके इन्होंने भगवान् की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—औरों की तो बात ही क्या—भगवद्वाणी, उनकी निश्वास रूप समस्त श्रुतियाँ—उपनिषद भी अब तक भगवान् के परम प्रेममय स्वरूप को ढूँढती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं ॥ इति।

यहाँ 'आर्य पथ' पद का धर्म मार्ग यह अर्थ उन्होंने व्याख्यात किया है, अतएव जिसका अर्थ अधर्म स्फुट ही है। वे गोपी, जिनका चरण धूलि का समस्त सति समूह सेवन करता है, उन गोपाङ्गनाओं ने भी कहा है।

**श्लोकार्थ**—१०-२९-३२ प्यारे श्यामसुन्दर! तुम सब धर्मों का रहस्य जानते हो। तुम्हारा यह कहना कि 'अपने पति, पुत्र और भाई बन्धुओं की सेवा करना ही स्त्रियों का स्वधर्म है'—अक्षरशः ठीक है। परन्तु इस उपदेश के अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये, क्योंकि तुम्हीं सब उपदेशों के चरम लक्ष्य हो, साक्षात् भगवान् हो। तुम्हीं समस्त शरीर धारियों के सुहृद हो, आत्मा हो, और परम प्रियतम हो। इति। इस पद्य का लोक विख्यात (श्रीधर) स्वामी पाद प्रभृति व्याख्याताओं की अनेक व्याख्याओं से यही अभिप्रेत है—तथा 'पत्युः शुश्रूषणम्' भा० १०-२९-२४—

**श्लोकार्थ**—कल्याणी गोपियो! स्त्रियों का परम धर्म यही है कि वे पति और उसके भाई-बन्धुओं

त्वदभिमुखमागतानां न, किञ्च 'श्रवणाद्' भा० १०-२९-२७ इति पद्येन यद्गृहे एव मम श्रवणादिकं कर्त्तव्य-मित्युक्तं सोऽपि दर्शने निमेषप्रत्यूहमसहमानानां न धर्मः. उभयोः क्रमाद् वैमुख्यान्तररूपत्वात् । किन्तु परपुरुषस्य तव चरणपरिचरणमेव धर्मः, अत्रैवाधिकारात् । तदुक्तं गीतायाम्—३-३५—

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" ।। इति ।

व्याख्यातञ्चैतत्पद्यं श्रीवल्लभाचार्य्यैः । अत्र स्वधर्मो जीवस्य सहजदासत्वाद् हरिसेवालक्षणः, परधर्मः शरीरधर्मो ब्राह्मणादिवर्णधर्म इति ।।

**तथा पुनस्ताभिरेवोक्तम्—१०-२९-३६**

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग स्थातुं त्वयाभिरमिता वत पारयामः ।।

यर्ह्यम्बुजाक्षेति । अत्र त्वच्चरणं यर्हि अस्प्राक्ष्म प्रतप्रभृति अन्यस्य पत्यादेरग्रे स्थातुमपि न पार-

---

की निष्कपट भाव से सेवा करें और सन्तान का पालन पोषण करें । इति । इन उक्तियों से पति आदि की सेवा करना रूप धर्म जो (आप) भगवान् ने बताया है वह धर्म सर्वस्व त्यागकर आपके समीप आनेवालों का नहीं है और 'श्रवणात्' भा० १०-२९-२७ में इस पद्य में यह बताया—

**श्लोकार्थ**—१०-२९-२७—गोपियो ! मेरीलीला और गुणों के श्रवण से, रूप दर्शन से, उन सबके कीर्त्तन और ध्यान से मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेम की प्राप्ति होती है, वैसे प्रेम की प्राप्ति पास रहने से नहीं होती । इसलिये तुम अदने अपने घर अभी लौट जाओ । इति । यह भी भगवान् के समीप आनेवालों का धर्म नहीं है । जिनको आपके दर्शन में एक निमेष पात के अन्तर का विघ्न भी सहन नहीं है । टि—(भा० गोपी गीत १०-३१-१५ में निमेषपात की असह्यता के सम्बन्ध में गोपियों का वचन है 'जड़ उदीक्षतां·······

**श्लोकार्थ**—प्यारे ! दिन के समय जब तुम वन में विहार करने के लिये चले जाते हो, तब तुम्हें देखे विना हमारे लिये एक एक क्षण युग समान हो जाता है और जब तुम सन्ध्या समय लौटते हो तथा घुँघराली अलकों से युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द हम देखती हैं, तब पलकों का गिरना हमारे लिये भार हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रों की पलकें बनानेवाला विधाता मूर्ख है । इति ।) क्योंकि दोनों का ही क्रम (हमारे लिये) 'वैमुख्यान्तर' रूपता अर्थात् दोनों ही आपसे विमुख करने वाले हैं । किन्तु परम पुरुष जो आप हैं उनका सेवन ही धर्म है और इसी का प्रेमी भक्तों को अधिकार है। जैसा कि गीता ३-३५ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—हे अर्जुन ! अविहित पराये धर्म का भली प्रकार आचरण करने की अपेक्षा अपने विहित धर्म का चाहे, वह अल्प गुण वाला प्रतीत होता हो, अनुष्ठान करना श्रेयस्कर माना गया है । कारण यह है कि धर्म पालन में सद्गति अवश्य मिलती है और पराया धर्म अविहित होने से परिणाम में भय का हेतु होता है । इति । 'श्रेयान्' इस पद्य की आचार्य श्रीमन्महाप्रभु बल्लभजी ने व्याख्या की है कि इस पद्य में स्वधर्म पद से जीव का स्वभावतः दास होने के कारण—हरि सेवा सम्पादन ही सर्वोत्तम मुख्य धर्म है । इति । उन गोपियों ने और भी कहा है—भा० १०-२९-३६ ।

**श्लोकार्थ**—प्यारे कमल नयन ! तुम वनवासियों के प्यारे हो और वे भी तुमसे बहुत प्रेम करते हैं । इससे प्रायः तुम उन्हीं के पास रहते हो । यहाँ तक कि तुम्हारे जिन चरण कमलों की सेवा का अवसर स्वयं लक्ष्मी को भी कभी कभी ही मिलता है, उन्हीं चरणों का स्पर्श हमें प्राप्त हुआ । जिस दिन यह सौभाग्य हमें मिला और तुमने हमें स्वीकार करके आनन्दित किया, उसी दिन से हम और किसी के सामने एक क्षण के लिये भी ठहरने में असमर्थ हो गई है—पति पुत्रादिकों की सेवा तो दूर रही । इति ।

याम इति स्फुट एव मधुररतिकृतोऽयं विपर्ययः ।।

**पुनरपि ताभिरेवोक्तम्—१०-२६-४०**

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन संमोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ।।

का स्त्र्यङ्गत इति । अत्राप्यार्यपथाद् धर्ममार्गादित्येव तैर्व्याख्यातत्वादधर्मः स्फुट एव । प्रस्तुतं समर्थयद्भिरेतैरार्षैरुदाहरणैः पूर्वोक्तं नगरस्यास्य पुराणशास्त्रादिमयप्राकारान्तर्वर्तित्वमपि स्फुटीकृतम् ।।

**तथोक्तं श्रीमन्महाप्रभुपादैः—**

**"नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा ।**
**किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धेर्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ।।" इति ।**

नाहमिति । अत्र निरन्तरमधुरतरभावविशेषाविर्भावाभिभुतान्यसमस्तस्मृतेरपि साक्षाद्भगवतः श्रीमहाप्रभोर्मानसिकोऽपि सर्वधर्मत्यागः प्रीतिभक्त्यादिरसास्वादलुब्धमनसां साधकभक्तानां तद्रसद्वारप्रवेश-प्रकाशनार्थं वचसः प्रादुर्भूतः, अथवा दैन्यलक्षणात् प्रेमानुभावान्निःसृत इत्यनुसन्धेयम् । गोपीभर्तुः शृङ्गार-रससर्वस्वस्य श्रीनन्दनन्दनस्येति भजनीयविशेषोक्तिः । दास्यरतिकृतोऽयं सर्वधर्मत्यागलक्षणोऽधर्मः स्फुट एव ।।

---

इस पद्य में भी—जब से आपके चरणों का स्पर्श हमें मिला, तब से अन्य पति आदि के सन्मुख उपस्थित होने में हम लोग समर्थ नहीं हैं । इस प्रकार मधुर रति द्वारा सम्पादित यह विपर्यय स्पष्ट ही है । फिर भी उन्होंने कहा है—भा० १०-२६-४० ।

**श्लोकार्थ** - प्यारे श्यामसुन्दर ! तीनों लोकों में भी ऐसी कौन सी स्त्री है, जो मधुर-मधुर पद और आरोह अवरोह क्रम से अनेक मूर्च्छनाओं से युक्त तुम्हारी वंशी की तान सुनकर तथा त्रिलोक सुन्दर मोहिनी मूर्ति को—जो अपनी एक छटा से त्रिलोकी को सौन्दर्य का दान करती है एवं जिसे देखकर गौ, पक्षी, वृक्ष और हिरन भी रोमाञ्चित, पुलकित हो जाते हैं—अपने नेत्रों से निहार कर आर्य मर्यादा से विचलित न हो जाय, कुल कान लोक-लाज को त्याग कर तुम में अनुरक्त न हो जाय । इति । यहाँ भी 'आर्यपथाद्' से 'धर्ममार्गाद्' धर्म मर्यादा यही श्रीधर स्वामी प्रभृति व्याख्याकारों ने अर्थ किया है । यों धर्म मार्ग से विचलित होना अधर्म स्पष्ट ही हुआ । अतएव प्रस्तुत विषय का समर्थन करनेवाले इन आर्ष उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि यह नगर पुराण शास्त्रादिमय प्राकार (कोट) के भीतर ही है जैसे पहले स्पष्ट कहा गया है । इति । श्रीमन्महाप्रभु पाद (चैतन्यदेव) ने यह भी कहा है—

**श्लोकार्थ**—मैं न ब्राह्मण हूँ, न राजा (क्षत्री), न वैश्य, न शूद्र, न ब्रह्मचारी, न गृही, न वानप्रस्थ और न ही सन्यासी किन्तु जिनमें समस्त परमानन्द से परिपूर्ण अमृत समुद्र तरंगित हो रहा है, उन गोपी पति (श्रीकृष्ण) के चरण कमलों के दासों के दासों का भी दास हूँ । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ परम मधुर भाव विशेष प्रकट होने से समस्त स्मृतियों के ढक जाने पर भी साक्षात् भगवान् श्रीमन् महाप्रभु का सर्व धर्म त्याग यद्यपि मानसिक था तथापि प्रीति भक्ति आदि के रसास्वाद के लोभी साधक भक्तों के (मधुर) रस द्वार में प्रवेश को बताने के लिये श्रीमहाप्रभु की वाणी से यह (अनायास) उच्चारित हुआ । अथवा दीनता लक्षण, प्रेम के प्रभाव बश निकल पड़ा । ऐसा भी समझा जा सकता है (टि—इसी प्रकार के भाव प्रथम दो श्लोक श्रीशङ्कराचार्य भगवान् के भी हैं) । 'गोपी भर्तुः' पद से यह बात बताई कि शृङ्गार रस के सर्वस्व श्रीनन्दनन्दन ही हैं और वे ही भजनीय विशेष हैं । इस प्रसङ्ग में ऐसा ही श्रीगोस्वामीपाद हरिवंश महानुभाव ने (श्रीराधा सुधा निधि ८० में कहा है)—

**तथैवोक्तं श्रीगोस्वामिश्रीहरिवंशमहानुभावैः—रा० सु० नि० ८०**

**"कैशोराद्भुतमाधुरीभरधुरीणाङ्गच्छविं राधिकां—प्रेमोल्लासभराधिकां निरवधि ध्यायन्ति ये तद्धियः। त्यक्ताः कर्मभिरात्मनैव भगवद्धर्मेऽप्यहो निर्ममाः—सर्वाश्चर्यगतिं गता रसमयीं तेभ्यो महद्भ्यो नमः॥" इति।**

कैशोराद्भुतमाधुरीति। कर्मभिः समस्तैरात्मना स्वत एव त्यक्ता न तु ते स्वतः कर्माणि संत्यजन्तीति भावः। भगवद्धर्मेऽपि श्रीभागवतोक्तेऽपि "ये वा भगवता प्रोक्ताः" भा० ११-२-३४ इत्यादौ तत्रापि निर्ममाः-नैते धर्मा मामकीना इति तस्मिन्नपि निर्ममाः। स्पष्टमन्यत्॥

**तथोक्तं तैरेव—रा० सु० नि० ८१—**

**"लिखन्ति भुजमूलयोर्न खलु शङ्खचक्रादिकम्, विचित्रहरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले। लसत्तुलसिमालिकां दधति कण्ठपीठे न वा, गुरोर्भजनविक्रमात् क इह ते महाबुद्धयः॥" इति।**

लिखन्तीति। स्पष्टार्थमेव। एतत्पद्यद्वयमेवंविधमन्यदपि पद्यवृन्दं तेषां महानुभावानां भावारुण-

---

**श्लोकार्थ**—जो व्यक्ति उन (श्रीराधाजी) में मन बुद्धि लगाकर किशोरावस्था की विचित्र आस्वाद्य मिठास की अधिकता से भरपूर अंग कान्तिमयी एवं प्रेमोत्कर्ष के गौरव से परिपूर्ण श्रीराधिकाजी का निरन्तर ध्यान करते हैं वे कर्मों द्वारा अपने आप छोड़ दिये जाते हैं और भी (यह एक) आश्चर्य है कि भागवत् धर्मों से भी वे ममता हीन होकर रस से सनी सर्वश्रेष्ठ विस्मय अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं, उन महापुरुषों को हमारा नमस्कार है। इति। इसमें यह भाव है कि समस्त कर्मों ने उन्हें (रागानुग भक्तों को) स्वतः ही छोड़ दिया न कि उन्होंने कर्मों को छोड़ा। श्रीमद्भागवत् ११-२-३४ में बताये गये भागवद् धर्म में भी 'ये वै.......' इत्यादि।

**श्लोक एवं अनुवाद**—११-२-३४—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्म लब्धये। अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥

भगवान् ने भोले-भाले अज्ञानी पुरुषों को भी सुगमता से साक्षात् अपनी प्राप्ति के लिये जो उपाय स्वयं श्रीमुख से बतलाये हैं, उन्हें ही 'भागवत धर्म' समझो। इति। इत्यादि प्रसङ्ग में ऐसा ही कहा गया है। उन भागवत धर्मों में भी वे निर्मम हैं। 'निर्ममः' अर्थात् यह धर्म मेरे लिये नहीं है इस प्रकार उन (धर्मों) में भी वे रागानुग जन निर्मम हैं। उन्हीं (गोस्वामीपाद) ने भागवत् धर्मों के विषय में और भी (स्पष्ट) कहा है। (रा० सु० नि० श्लोक ८१ में)—

**श्लोकार्थ**—प्रगाढ़ या गुरुनिष्ठा भजन बल के आधार पर जो लोग भली भाँति भुजाओं पर शंख चक्रादिकों के चिह्न नही बनाते हैं ललाट पर सुन्द-सुन्दर तिलकादि की रचना नहीं करते हैं, ग्रीवा में सुन्दर तुलसी की कण्ठी माला भी धारण नहीं करते हैं इस लोक में वे महामति कौन हैं? अर्थात् विरले ही हैं। इति। श्लोक ८० ८१ के छन्द—

अद्भुत प्रवाह माधुरी छटा से अंग अंग। सर्वाग्रगण्य है प्रभाव प्रेम भी अभंग॥
उल्लास युक्त करते सदा ध्यान बुद्धिमान्। छोड़ें न कर्म स्वयं उन्हें छोड़ दें महान्॥
ममता उदात्त भगवत् धर्मों की धर किनारे। रसमय गति को प्राप्त महत् वन्द्य हैं हमारे॥८०॥
भुज मूल पै रचें न शंख चक्र के निशान। सुन्दर तिलक श्रीहरि के नहीं भाल पै महान्॥
तुलसी की माल-कण्ठ में धारण नहीं करें। विरले श्रीगुरु निष्ठ बुद्धिमान वन फिरें॥८१॥

**टीकानुवाद**—यह दो पद्य (इस धर्म विपर्यय प्रसंग में) स्पष्ट ही है। ऐसे और भी बहुत से पद्य

रञ्जितविमलविशालाशयाकाशप्रकाशमानस्य प्रणयप्रभाकरस्य प्रभावनिरस्तमर्यादातमसां परमानुरागासव-सम्भूतं पारवश्यं व्यञ्जयत्तस्या अवस्थायाः परमपुरुषार्थत्वम्, तदवस्थावस्थितानां वैरल्य तथा सर्वधर्मान् परित्यज्येत्यत्र सर्वशब्दस्याप्यर्थं बोधयति ।

**तथोक्तं श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्तिमहाशयैः कानकेलिकौमुदीटीकायाम्—**

**"दानकेलिकलौ लुप्तधर्म्ममर्य्यादयोर्भजे । राधामाधवयोः कामलोभदम्भमदानृतम् ॥" इति ।**

दानकेलीति । अत्रलुप्तधर्म्ममर्यादयोरिति मधुररतिकृतः, तथा "कामलोभदम्भमदानृतं भजे" इत्यत्र दास्यरतिकृतस्तयो विपर्य्ययः स्फुट एव, कामादीनामधर्मरूपत्वात् ॥

**तथोक्तं श्रीप्रबोधानन्दसरस्वतीपादैः—वृ० म० १७-४९**

**"कुरु सकलमधर्मं मुञ्च सर्वं च धर्मं त्यज गुरुमपि वृन्दारण्यवासानुरोधात् ।**

**स तव परमधर्मः सा च भक्तिर्गुरूणां सकलकलुषराशिर्यद्धि वासान्तरायः ॥" इति ।**

कुरु सकलमिति । अत्र भगवतः प्रकाशविशेषे श्रीवृन्दावने रतिसामान्यकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः, "वनं मे देहरूपकम्" इत्युक्तत्वात् । एवंविधानि वचनानि श्रीवृन्दावनशतके शतशः सन्ति कियन्ति लेखनीयानि ॥

---

उन महानुभावों के विषय में हैं—जिनके हृदय भाव की अरुणिमा से अनुरंजित हैं, और जिनके स्वच्छ एवं विशाल चित रूप आकाश में प्रकाशमान प्रम रूप सूर्य के प्रभाव से मर्यादा रूप अन्धकार दूर हो गया है। परम अनुराग रूप आसव को व्यक्त करती हुई एवं ऐसे महानुभावों की प्रेमासक्ति से उत्पन्न पराधीनता की स्थिति ही परम पुरुषार्थ है परन्तु ऐसी दशा में पहुँचनेवाले अनुरागीजन विरले ही हैं। तथा 'सर्व-धर्मान्........' इस प्रसंग में सर्व शब्द 'अपि' भी अर्थ का बोधक होता है अर्थात् धर्मों को भी छोड़कर (यह अर्थ कवि को अभीष्ट है, क्योंकि सर्व धर्मों को छोड़नेवाले विरले होते हैं। इति।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ति महाशय ने दान केलि कौमुदी (श्रीरूप गोस्वामिपाद कृत) की टीका में लिखा है—

**श्लोकार्थ**—दान क्रीड़ा के प्रसंग में जो कलह, उसमें मग्न, अतएव जिनकी धर्म और (लोक) मर्यादा लुप्त हो गई है—उन श्रीराधा-माधव के काम, लोभ, दम्भ, मद और अनृत (मिथ्या) का मैं भजन करता हूँ॥

**टीकानुवाद**—यहाँ लुप्त हो गई धर्म और मर्यादा जिनमें, यह जो कहा गया है, यह मधुर रति कृत विपर्यय है, और काम, लोभ, दम्भ, मद, अनृत का भजन (सेवन) करता हूँ—इस प्रसङ्ग में दास्य रति द्वारा किया गया उनका विपर्यय स्पष्ट है क्योंकि काम आदि अधर्म रूप ही है।

(टि—इस प्रसङ्ग में जहाँ तहाँ रति शब्द प्रयुक्त हुआ है वहाँ प्रकृत में मधुर मेचक राजा की पत्नि रति ही अभिप्रेत है—मधुर अर्थात् श्रृङ्गार रस का स्थायी भाव रति कहाता है, एवं रति शब्द का अर्थ अनुराग भी है—जहाँ तहाँ विभिन्न प्रसंगों में रति शब्द का अर्थ जोड़ लेना चाहिये। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती पाद ने शतक १७-४९ में कहा है।

**श्लोकार्थ**—श्रीवृन्दावन निवास आग्रह निमित्त भले ही समस्त अधर्मों को करो और समस्त धर्मों को छोड़ दो, यहाँ तक कि भले ही गुरु भी छूट जाएँ वही तुम्हारा परम धर्म है और वही गुरुओं की भक्ति है और जो, वृन्दावन वास में विघ्न बने वह सब पाप समूह है॥

**टीकानुवाद**—यहाँ भगवान् का प्रकाश विशेष ही श्रीवृन्दावन माना गया है इसमें सामान्य रति द्वारा किया गया उन दोनों का विपर्यय है, क्योंकि अन्यत्र कहा गया है यह वन मेरा देह रूपी ही है इस

**तथा स्कान्दे—"धर्मोभवत्यधर्मोऽपि कृतो भक्तैस्तवाच्युत ।**
**पापं भवति धर्मोपि तवाभक्तैः कृतो हरे ॥" इति ।**

तथा रेवाखण्डे स्कान्दे—धर्मो भवतीति स्पष्टार्थमेव ॥

**तथा पुराणान्तरे—"यदि मधुमथन ! त्वदङ्घ्रिसेवां हृदि विदधाति जहाति वा विवेकी ।**
**तदखिलमपि दुष्कृतं त्रिलोके कृतमकृतं न कृतं कृतञ्च सर्वं ॥" इति ।**

यदीति । अत्र विवेकी बुद्धिमान् पक्षेऽविवेकोति च्छेदः । स्पष्टमन्यत् । पद्यद्वयमिदमन्वयव्यतिरेकात्मकत्वात् प्रकरणान्ते लिखितम् । द्वयादस्यिरतिकृतो विपर्य्ययः ॥

**तथोक्तं श्रीरूपगोस्वामिचरणैः—"वनमालां भजमानैर्गुरुरपि पोष्टापि दानपूरेण ।**
**अलिभिरमोचि करीन्द्रो हरिसेवा धर्मतो हि वरा ॥ इति ।**

वनमालामिति । पोष्टा दानपूरेणेत्यत्र श्लेषेष वितरणप्रवाहेण, पक्षे मदोदकेन षोषणकर्त्तापि । शेषं स्पष्टमेव ॥

**यथाह गोवर्द्धनः—"आक्षेपचरणलङ्घनकेशग्रहकेलिकुतुकतरलेन ।**
**स्त्रीणां पतिरपि हरिरिति धर्मो न श्रावितः सुतनु ॥" इति ।**

---

प्रकार के वचन श्रीवृन्दावन शतकों में सैकड़ों हैं । कहाँ तक लिखें । जैसे—

(टि—वृन्दावन की वाणी के वचन—प्रिया शक्ति आह्लादिनि पिय यानन्द स्वरूप । तन वृन्दावन जगमगै इच्छा सखि अनूप ॥ रेवाखण्ड स्कन्द पुराण में भी कहा गया है—

**श्लोकानुवाद**—हे अच्युत ! तुम्हारे भक्तों के द्वारा किया गया अधर्म भी धर्म होता है और हे हरे ! अभक्तों के द्वारा किया गया धर्म भी पाप होता है । अर्थ स्पष्ट है । किसी अन्य पुराण में भी आया है-

**श्लोकानुवाद**—हे मधुमथन ! यदि विवेकी पुरुष (अनुराग बिना) तुम्हारे चरण कमलों की सेवा हृदय में करता है अथवा अविवेकी (अज्ञानी) उसे छोड़े हुए हैं—त्रिलोकी में यह सब सुकृत ही है क्योंकि अनुराग रहित किया गया (कर्म) न किये के तुल्य ही है, और अनुरागी के द्वारा कुछ भी न किया गया सब कुछ किये गये के बराबर है ।

**टीकानुवाद**—यहाँ विवेकी—बुद्धिमान दूसरे पक्ष में 'वाविवेकी' ऐसे पदच्छेद द्वारा अविवेकी अर्थ करना चाहिये । और सब स्पष्ट ही है । यह दोनों पद्य अन्वय-व्यतिरेकातमक हैं—इसलिये प्रकरण के अन्त में लिख दिये गये हैं—इन दोनों में दास्य रति द्वारा किया गया विपर्यय स्पष्ट ही है ।

श्रीरूप गोस्वामीपाद की भी एक उक्ति है—

**श्लोकार्थ**—हाथी शरीर से भारी होता है और उसके गण्डस्थल से मद चुचाता रहता है । भँवरे उस मद का आस्वादन करने के लिये मण्डराते रहते हैं, परन्तु वनमाला अर्थात् वनों में विकसित पुष्पों के मकरन्द का पान करने के लोभ से उस गजेन्द्र को छोड़कर वहाँ चले जाते हैं । इति ।

(टि—जिससे अपने को पोषण (रक्षण) मिलता है उसका त्याग धर्म नहीं है । परन्तु भ्रमरों के द्वारा (भक्तों द्वारा) भगवान् की वनमाला का सेवन करने के लोभ से उस (धर्म) का त्याग कर दिया गया, क्योंकि धर्म से भी बढ़कर श्रीहरि की सेवा होती है । इति । इस अंश में अर्थान्तर न्यास अलंकार है । इति ।

**टीकानुवाद**—इस अंश में श्लेष के द्वारा वितरण प्रवाह अर्थात् दान की अधिकता, दूसरे पक्ष में मद जल से पोषण करना भी अर्थ है शेष स्पष्ट है ।

जैसा कि आचार्य श्री गोवर्धन ने वर्णन किया है ।

अत्र धर्मो न श्रावित इत्यत्र तथा केलिषु तथाविधोऽधर्म एव धर्म इत्यभिप्रायो वेदनीयः। मधुर-रतिकृतोऽयं विपर्य्ययः प्रकट एव ॥

**यथा वा—हृष्यच्चकोरनयनस्य हसन्मुखस्य नृत्यद्भ्रुवो नवरसज्ञ ! विना रसज्ञाम्।**
**माधुर्यरङ्गमिदमङ्ग तवाङ्गमङ्गमन्तर्मुहुर्वदति धर्ममधर्ममेव ॥१५॥**

हृष्यदिति। वंशीस्वनश्रवणात्यन्तविवशतया समागतानां प्रियस्य रूक्षतया मनाग्विमनस्कानां तासां मध्ये काचित्प्रखरा ललितादितदिङ्गितज्ञा निजागमनप्रसन्नं तमाह—हृष्यदिति। अङ्ग हे, एकांरसज्ञां विना तव अङ्गमङ्गमधर्ममेव धर्मं वदतीति सम्बन्धः। नवरसज्ञेति सोल्लुण्ठनं सम्बोधनं विपरीतलक्षणया तत्प्रतियोगिनमेवार्थं व्यञ्जयति। कथंभूतस्य तव—हृष्यच्चकोरनयनस्य हृष्यन्ती चकोराविव नयने यस्य अर्थादस्मदवलोकनेनैव। अत्र नयनयोश्चकोररूपकेणात्मवदनस्य चन्द्रत्वारोपः। पुनः कथंभूतस्य—हसन्मुखस्य हसत् मुखं यस्य, अत्र मुखशब्देन निजोक्तीनां रूक्षार्थज्ञानेन तासां हृदि वैमनस्यं स्यादिति शङ्कया मुखमेव हसति न तु हृदयमिति ध्वनितम्। पुनः कीदृशस्य—नृत्यद्भ्रुवो नृत्यन्त्याविव भ्रुवौ यस्येति निशि निर्जनेऽस्मदागमनं विलोक्येत्यर्थः। आनन्दाधिक्येन भ्रुवोश्चाञ्चल्यं नृत्यत्वेनोत्प्रेक्षितम्। कथम्भूतमङ्गम्—

---

**श्लोकार्थ**—स्त्रियों के लिये पति हरि ही होते हैं, परन्तु उनके द्वारा सुरत क्रीड़ा प्रसंग में, आक्षेप चरण लंघन, केश ग्रह—केलि-कुतुक आदि होता है इसको किसी ने धर्म नहीं बताया है। इति।

**टीकानुवाद**—यहाँ 'धर्मो न श्रावित' इस स्थल में और रति क्रीड़ा में अधर्म ही धर्म होता है यह अभिप्राय समझना चाहिये। यह मधुर रति द्वारा किया गया विपर्यय स्पष्ट ही है। इति।

ग्रन्थकार का अपना इसी प्रसंग में निज का एक पद्य है।

**श्लोकार्थ**—हे नव रसज्ञ ! हे प्यारे ! आपकी एक जिह्वा को छोड़कर, चकोर के समान प्रसन्न नेत्र, हँसता हुआ मुख, नृत्य करती भ्रूभंगी, मधुर रस की रंग स्थली आपका प्रत्येक अङ्ग अन्तर भाव से बार-बार अधर्म को ही धर्म बता रहा है ॥ १५ ॥ इति।

**टीकानुवाद**—वंशी के शब्द को श्रवण करके अत्यन्त विवश होकर आईं हुई, परन्तु प्रीतम की रूक्षता से कुछ विमन (खिन्न चित्त) हुई, उन गोपाङ्गनाओं में कोई एक उग्र (गर्वीले) स्वभाव वाली, ललितादिकों में से कोई—जो उनकी चेष्टा को भली भाँति जानती हैं—अपने आगम से प्रसन्न हुए श्रीकृष्ण (प्रियतम) के प्रति बोली—

प्यारे ! एक जिह्वा को छोड़कर आपका अंग-अंग अधर्म को धर्म बता रहा है यह सम्बन्ध हुआ। नव रसज्ञ ! यह सम्बोधन उपहास पूर्वक किया गया है जो विपरीत लक्षण द्वारा उसके विपरीत अर्थ को व्यञ्जित करता है अर्थात् तुम रसज्ञता से सर्वथा अनभिज्ञ हो—नौ प्रकार के रस ही क्या, एक के भी ज्ञाता नहीं हो अथवा रस की नवीनता से भी नितान्त अनभिज्ञ हो। तुम बाहिर से तो यह कह रहे हो कि 'प्रतियात व्रजनेहस्थेयम्' चली जाओ, यहाँ मत ठहरो, परन्तु दो चकोरों के समान हर्ष को प्रकट करते हुए ये आपके नेत्र हमारे दर्शन करने से प्रसन्नता को व्यक्त कर रहे हैं। यहाँ नेत्रों को चकोर रूपक से अपने मुख में चन्द्रत्व का आरोप किया गया है। भाव यह है जैसे चन्द्र को देखकर चकोर प्रसन्न होता है ऐसे ही चन्द्रमुखी हमें देखकर आप प्रसन्न प्रतीत होते हो।

दूसरा विशेषण है हँसते हुए मुखवाले—यहाँ मुख शब्द से यह अभिप्राय है कि भगवान् ने (मन ही मन) सोचा कि यह गोपाङ्गनाएँ मेरी इन रूखी-रूखी बातों से कहीं दुखी न हो जाएँ, इस शंका से उनका मुख ही हँसा न कि हृदय भी, इस विशेषण से यह बात ध्वनित हो रही है। यहाँ 'नृत्यद्भ्रुवो' आदि विशेषण भी बहुत चमत्कार पूर्ण है—नाचती हुई हैं भ्रुवें जिनकी, अर्थात् रात्रि में निर्जन वन में हमारा

माधुर्यरङ्गं माधुर्यस्य लावण्यविशेषस्य रङ्गस्थलम्। अन्ये माधुर्य्येणानन्दिता भवन्ति, अत्राङ्गं माधुर्यमपि परमानन्देन नृत्यतीति ध्वनितम्, तेन चाङ्गानां परमरमणीयत्वमित्यनुध्वनिः। भूषणभूषणाङ्गमितिवत्—भा० ३-२-१२ बहिस्तव रसनैव 'भर्तुः शुश्रूषणम्' भा० १०-२९-२४ इत्यादि धर्मं वदति। तव अङ्गमङ्गं तु हर्षादिभिरनुभावैरत्रावस्थानलक्षणमधर्ममेव वदति। अत्र रसज्ञापदेन, परिकराँकुरेण बहिर्नीरसार्थाभिर्वाऽपि अन्तः सरसार्थमयत्वं व्यज्यते, तस्या रसज्ञात्वात्। बही रूक्षार्थमयीनामपि तदुक्तीनां रसिकैः रसमयप्रार्थनारूपत्वेनैव व्याख्यातत्वात्। यद्वा, द्वाभ्यामेव रसज्ञपदाभ्यां धर्मोपदेशपूर्वकं "प्रतियात ततो गृहान्" इत्यादि रूक्षमयं वचनं नर्मणैवेति व्यज्यते। यतो नर्मणैव रसज्ञात्वसिद्धिः। तदुक्तं श्रीभगवतैव नर्मोक्तिमसहमानां श्रीरुक्मिणीं प्रति—भा० १०-६०-२९-३०

"त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने। मुखञ्च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितम्॥
कटाक्षेपारुणापाङ्गसुन्दरभ्रुकुटीतटम्।" इति। तथैवात्रापि सिद्धान्त रहस्यम्॥ १५॥

---

आगमन देखकर आनन्द की अधिकता से भ्रुवें मानो नाचने लगीं। यहाँ भ्रुवों की चंचलता में नृत्य की उत्प्रेक्षा की गई है। अब आगे 'अङ्ग' का विशेषण है 'माधुर्यरङ्गम्'—माधुर्य्य का अर्थात् लावण्य विशेष का वह रंगस्थल है। दूसरे लोग माधुर्य से आनन्दित होते हैं परन्तु यहाँ अङ्ग में माधुर्य्य भी परमानन्द के अनुभव से नाचता हुआ प्रतीत हो रहा है यह अर्थ इससे ध्वनित होता है। इस बात से यह एक और अनुध्वनि भी है, कि उनके अङ्ग-अङ्ग की परम रमणीयता है। भागवत् के ३-२-१२ में कहा कि जिनके अङ्ग भूषणों के भी भूषण हैं, ऐसा समझना चाहिये।

टि—(शब्द की तीन वृत्तियाँ बताई गई हैं—उनका नाम है—'अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना', व्यञ्जना से रस का बोध होता है। अतएव रस व्यङ्ग है। व्यञ्जना का मूल अनुरणन् माना गया है। जैसे घंटा नाद के पीछे कुछ समय तक उसकी ध्वनि फैलती रहती है। ऐसे ही देश काल-वक्ता श्रोता आदि के प्रसङ्ग से श्रूयमान वाक्य के अनेक अर्थों का बोध होता है–वे ही ध्वनि-अनुध्वनि, प्रत्यनुध्वनि आदि रूप से कवियों को इष्ट है)। इति। अब कवि की निबद्धप्रौढोक्ति द्वारा ललितादि कह रही हैं—बाहिर से तो आपकी जिह्वा ही भा० १०-२९-२४ 'भर्तुः शुश्रूषणम्' पति आदि की सेवा करना इत्यादि धर्म का उपदेश दे रही है, किन्तु आपका अङ्ग-अङ्ग तो हर्ष आदि अनुभावों द्वारा यहीं अवस्थित रहना रूप अधर्म को ही व्यक्त कर रहा है।

टि—(रस निषपति में अनुभावों का दूसरा स्थान है, वे बहुत प्रकार के माने गए हैं। जो नायक नायिका के विशेष प्रकार से अङ्ग संचालनों द्वारा व्यक्त होते हैं)।

यहाँ रसज्ञा पद से किसी अभिप्राय को लेकर,जो विशेष्य होने से, परिकरांकुर नामक अर्थालंकार का बीज है—यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण बाहिर से नीरस अर्थों को प्रकट करने पर भी भीतर से अत्यन्त सरसतामय ही हैं। क्योंकि वह रसज्ञा हैं। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप मोहक है वैसे ही उनकी वाणी भी है। उनकी उक्तियें बाहिर से बहुत रूखी प्रतीत होती हैं परन्तु रसिकों द्वारा उनका रसमय प्रार्थना रूप से ही व्याख्यान किया गया है। अथवा (मूल श्लोक के) दोनों रसज्ञा पदों से धर्मोपदेश पूर्वक 'प्रतियात........' आदि रूखे वचनों का कहना केवल उपहास मात्र ही व्यक्त होता है। क्योंकि नर्म-उपहास से ही रसज्ञापने की सिद्धि होती है। इसी बात को स्वयं भगवान् ने ही अपनी उपहासोक्ति को सहन करने में असमर्थ श्रीरुक्मिणीजी के प्रति कहा भी है। भा० १०-६०-२९।३०—

**श्लोकार्थ**—मेरी प्रिय सहचरी ! तुम्हारी प्रेम भरी बात सुनने के लिये ही मैंने हँसी-हँसी में यह छलना की थी। मैं देखना चाहता था कि मेरे यों कहने पर तुम्हारे लाल-लाल होंठ प्रणय कोप से किस प्रकार फड़कने लगते हैं। तुम्हारे कटाक्ष पूर्वक देखने से नेत्रों में कैसी लाली छा जाती है और भौंहें चढ़

तदुक्तं श्रीगदाधर भट्टचरणैः—

"अधर्मधर्मादि चतुर्मुखोदितं मातःकथंःसम्प्रनि सत्कृतं भवेत्।
कष्टं मुखैरष्टभिरन्यथैव यत् कंसद्विषः शंसति वंशनिःस्वनः ॥" इति।

वंशस्वनश्रवणसञ्जातोत्कलिका काचित्कृष्णानुरक्ता धर्ममुपदिशन्तीं कामपि सोपपत्तिकमाह—अधर्मधर्मादीति। चतुर्मुखोदितं मुखचतुष्टयालंकृतेन ब्रह्मणेति परिकरांकुरः। उदितमुक्तं वेदपुराणादि-द्वारेण कथितम्।

"ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः। ...... ....... ससृजे प्रियदर्शनः॥" भा० ३-१२-३७

इति भावतोक्तेः। हे मातः कष्टं सम्प्रति इदानीं सत्कृतमादरणीयं कथं भवेत्, यद् यस्मात् कंस-द्विषः श्रीकृष्णस्य वंशीनिस्वनो मुरलीरवोऽन्यथैव तदुक्तधर्माधर्मयोर्विपर्ययं शंसति सश्लाघं कथयति। लोके बहुमुखोद्गीतं वचः प्रमाणं भवतीति सिद्धमयमष्टभिर्मुखैस्तथा कथयन् चतुर्मुखोदितं प्रसिद्धं धर्माधर्मादि-निश्चयं व्यर्थयतीत्यर्थः। अतस्त्वया बहुशो निरूपितमपि तत्कथं करोमीति ध्वनिः। तदुक्तमपास्य वेणूक्तमेव करिष्यामीत्यर्थः॥

---

जाने से तुम्हारा मुख कैसा सुन्दर लगता है। इस प्रकार यहाँ भी सिद्धान्त रहस्य है। इसी बात को—कि अधर्म ही धर्म होता है—श्रीगदाधर भट्टपाद ने भी कहा है—

**श्लोकार्थ**—हे माता! बड़े कष्ट की बात है कि चार मुखवाले ब्रह्मा के द्वारा बताई गई अधर्म धर्म आदि की व्याख्या कैसे मानी जाए, जब कि कंस के शत्रु श्रीकृष्ण की यह वंशी ध्वनि निनाद अपने आठ मुखों (रंध्रों) से उसके विरुद्ध बोल रही है।

टि—(इस भाव का एक पद आस्वादनार्थ (लेखक का)—

वंशी! उलटि विरंचि कि सृष्टी।
जे जे धर्म-अधर्म चतुर्मुख गाये रही न दृष्टी॥
अष्ट मुखनि तू उचरि विरोधनि तौऊ लागति मिष्टी।
निज हित मुखर करत मनमानी, जड़ चेतन आकृष्टी॥ इति।

**टीकानुवाद**—वंशी निनाद को सुनकर उत्कण्ठित हुई, कृष्णानुरागिणी एक गोपी, धर्म का उपदेश देनेवाली किसी दूसरी गोपी से युक्ति पूर्वक कहती है। अधम ही धर्म है जहाँ। इति। 'चतुर्मुखोदितम्' पद से यह अभिप्राय है,—चार मुखों से सुशोभित ब्रह्मा ने कहा है। यहाँ परिकरांकुर नामक अर्थालङ्कार है। 'उदितम्' का अर्थ है—वेद पुराण आदि द्वारा कहा गया। भागवत् ३-१२-३७।३९ में भी कहा है।

**श्लोकार्थ**—श्रीमैत्रेयजी ने कहा—विदुरजी! ब्रह्मा ने अपने पूर्व दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के मुख से क्रमशः ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेदों को रचा, तथा इसी क्रम से (होता का कर्म) शास्त्र, इज्या (अध्वर्यु का कर्म) स्तुतिस्तोम (उद्गाता का कर्म) और प्रायश्चित (ब्रह्मा का कर्म) इन चारों की रचना की इत्यादि।

हे मातः। बड़े कष्ट की बात है, अब तुम ही बताओ। उनकी (ब्रह्मा की) यह बात हम कैसे मान लें, जब कि कंस के वैरी, श्रीकृष्ण की यह मुरली ध्वनि उसके विपरीत अर्थात् ब्रह्मा के द्वारा प्रति-पादित धर्म और अधर्म के विपर्यय (उलट फेर) को बड़ी प्रशंसा के साथ बखान कर रही है। लोक में यह देखा जाता है कि जो वस्तु अधिक (मुखों) जनों से कही जाती है वही प्रामागिक समझी जाती है यह सिद्ध है। इसलिये यह मुरली (अपने) आठ मुखों से वैसा वर्णन करती हुई, ब्रह्मा के (चार मुखों द्वारा) कहे गये प्रसिद्ध धर्माधर्म निश्चय को व्यर्थ बता रही है। ऐसी परिस्थिति में, 'तुम्हारे द्वारा बहुत बार निरूपित किये

**यथा वा—वेण एव समभूदथवेणुर्यो बलाद्वदति धर्ममधर्मम् ।**
**व्रीडयेव विदिताऽसदुदन्तः स्वाभिधानमपिधातुमुदन्तः ॥१६॥**

वंशीस्वनश्रवणनिरस्तधैर्या कापि गोपसती स्वसखीं प्रत्याह—वेण एवेति । वेणो नाम अङ्गतनयो राजा धर्मलोपकृत् प्रसिद्धः पूर्वमासीत्, स एव सम्प्रति वेणुनामा समभूदिति गम्योत्प्रेक्षा । ननु वेणवेण्वोरकारोकारकृतो महान् भेदस्तत्राह—लोकेपि विदितो विख्यातोऽसन् निन्दित उदन्तः पूर्ववृत्तं यस्य सः, अत एव व्रीडया लज्जयेवेत्युत्प्रेक्षा । स्वाभिधानं निजं नाम अपिधातुमाच्छादयितुमुदन्त उकारान्तो बभूवेति शेषः । अत इदानीमत्र वेणो राज्यमतस्तदुक्तमेव करणीयमिति ध्वनिः । तदर्थं यत्नमाचरेत्यनुध्वनिः । "वार्ता प्रवृतिर्वृत्तान्तः उदन्तः" इत्यमरः । एवमत्र पद्यत्रये मधुररतिकृतोऽयं धर्माधर्मयोर्विपर्ययः स्फुट एव ॥१६॥

**यथा वा—मातर्मम कुमारोऽयं सुकुमारो दुराग्रहः ।**
**वैरिणा शिक्षितः केन कर्तुमेकादशीव्रतम् ॥ १७ ॥**

पुत्रेऽतिवत्सला व्रजेश्वरी गोकुले सर्वानेव व्रतपरानवलोक्यशैशवेनैकादशीव्रताय कृतपरमाग्रहं सुतं शिक्षयन्ती कामपि समानवयसमकस्मादागतां तत्र साक्रोशमाह—मातरिति । स्पष्टमन्यत् ॥ १७ ॥

---

गये भी, उस धर्म को मैं कैसे अनुष्ठान करूँ" यह इसमें ध्वनि है । इसीलिये ब्रह्मा की आज्ञा का उल्लंघन करके मैं तो वेणु की आज्ञा का ही पालन करूँगी ।

**श्लोकार्थ १६**—अब ग्रन्थकार स्वयं करते हैं । यह वेन राजा ही (मानो) वेणु बन गया और अब जबरदस्ती अधर्म को धर्म बता रहा है, और लज्जा के कारण उसने अपने नाम के आगे उकार जोड़ दिया है अर्थात् 'णत्व उत्व' की ओढ़नी ओढे यह वेन ही अब अधर्म का प्रचार करने के लिये फिर आया है । इति ।

**टीकानुवाद**—वंशी के निनाद के सुनने से, जिसका धैर्य्य टूट गया, ऐसी एक कोई सती गोपी अपनी सखी के प्रति कहती है । वेन नाम का एक प्रसिद्ध राजा पहले हो चुका है । वह अङ्ग नाम के राजा का पुत्र था । उसने अपने जीवन में खूब धर्म के विरुद्ध आचरण किया । वही इस समय वेणु नाम धर कर उत्पन्न हुआ है । इसमें 'गम्योत्प्रेक्षा' नाम का अर्थालङ्कार है । जिज्ञासा हो सकती है कि वेन और वेणु—इनमें अकार-उकार का महान भेद प्रतीत होता है । इस अंश में समाधान यों है । वह राजा लोक में विख्यात होते हुए भी निन्दित आचरण का था । यहाँ उदन्त शब्द से श्लेष है जिसके दो अर्थ हैं । एक है उदन्त=वृत्तान्त, दूसरा है उ-है अन्त में जिसके अमर कोष में 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः' यह एक दूसरे का पर्यायवाची है । इसलिये यहाँ इस प्रसङ्ग में 'लज्जया इव' यह उत्प्रेक्षा वर्णन की गई है । अपने नाम को छिपाने के लिये ही वह उकारान्त बन गया । अतः इस समय यहाँ वेणु का राज्य है अतएव उसी की आज्ञा माननी चाहिये । यह ध्वनि निकलती है और उसी के लिये प्रयत्न करना चाहिये यह अनुध्वनि है । इसी प्रकार पीछे के इन दोनों पद्यों में मधुर रति द्वारा किया गया धर्म और अधर्म का विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ १६ ॥ ग्रन्थकार पुनः कहते हैं—

**श्लोकार्थ १७**—माता यशोदा अपनी किसी सहेली से कहती हैं, मेरा यह अत्यन्त सुकुमार पुत्र एकादशी व्रत करने का दुराग्रह कर रहा है अतएव किसी शत्रु द्वारा बहकाया (सिखाया) गया है—पुत्र में अत्यन्त स्नेहवती व्रजेश्वरी (यशोदा) गोकुल में सबको एकादशी व्रत करते देखकर, श्रीकृष्ण को भी व्रत करने का हठ पकड़े देखकर शिक्षा देने की दृष्टि से किसी समान अवस्थावाली जो अचानक वहाँ आ पहुंची, उसको रोष के आवेग में उपरोक्त बात कह रही है ॥ इति ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण को अपने मित्रों के साथ जमुना स्नान का वड़ा शौक था परन्तु स्नेहमयी अत्यन्त वत्सला श्रीयशोदा मैया अनिष्टाशंका वश उनको वहाँ जाने से बार-बार रोकती रहती इसलिये

**यथा वा—सुगन्धतैलतप्तोदैः कुरु स्नानं गृहे सुखम् ।**
**बकोटसङ्कटं कृष्ण मा याहि यमुनातटम् ॥ १८ ॥**

(बकाः कह्वाख्याः पक्षिणः, उटानि तृणानि तैः संङ्कटं सबाधम् । यद्वा, बकाः कुसुमतरुविशेषास्तेषामुटानि पर्णानि तैः सङ्कटं व्याप्तम् ।)

सखीभिः सह श्रीयमुनायां विहरिष्यन्तं दुराग्रहं स्वसुतवत्सलरसाक्रान्तमानसा व्रजेश्वरी तमेव साम्ना समुपदिशति—सुगन्धतैलतप्तोदैरिति । स्पष्टमन्यत् । एव पद्यद्वयेऽपि वत्सलरतिकृतोऽयं तयोर्विर्ययः स्फुट एव । अत्रोदाहरणान्तरापेक्षा चेद्दशमे श्रीरासपञ्चाध्याय्यां व्रजसुन्दरीः प्रति भगवद्वचनेषु 'भर्तुः शुश्रूषणम्' इत्यादि पद्यानां श्रीवैष्णवतोषिण्यां श्लेषार्थोऽनुसन्धेयः ॥ १८ ॥

**यत्रासत्यमेव सत्यम् । तदुक्तं श्रीगर्गेण—भा० १०-८-१४**
**"प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः । वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः संप्रचक्षते" ॥ इति**
**तथा—भा० १०-८-१९—"तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः ।**
**श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः" ॥ इति ।**

प्रागिति । अत्रेश्वरत्वेन वसुदेवात्मजत्वेन च जानतोऽतो मुनेर्गर्गस्य 'प्राग्' इति, 'तवात्मज' इति, 'तस्मान्नन्दात्मजोऽयन्ते' इति, 'गुणैर्नारायणसमः, किन्तु नारायणो नेत्यर्थः' इति, 'गोपायस्व समाहितः' इत्युक्तयः सत्येतरा एव । अत्र निदानं कृष्णविषयकं प्रेमैवेति ॥

---

उनको प्रेम से समझा बुझाकर घर में नहाने के लिये आग्रह करती कहती है—

**श्लोकार्थ** १८—प्यारे पुत्र ! यहाँ घर में सुख पूर्वक स्नान करो देखो मैंने तुम्हारे हित के लिये, यह सुगन्धित तैल और उष्ण जल तैयार कर रखा है, यमुना किनारे कदापि मत जाओ, क्योंकि वहाँ बकादि पक्षियों की भीर लगी रहती है । अथवा यमुनातट बहुत से झाड़ झंखार, सूखे पत्तों से अटा रहता है ।

**टीकानुवाद**—इस प्रकार इन दोनों पद्यों में 'वत्सलोद्योत्य' (प्रकाशित) यह धर्माधर्म का विपर्यय स्फुट ही है । यदि इस प्रसङ्ग में और भी उदाहरण जानने की इच्छा हो तो श्रीभागवत् के दशम की रासपञ्चाध्यायी में व्रज सुन्दरियों के प्रति कहे गये भगवान् के वचनों में 'भर्तुः शुश्रूषणम्' इत्यादि पद्यों को (श्रीसनातन गोस्वामिपाद) श्रीवैष्णवतोषणी टीका में जानना चाहिये ॥ १८ ॥

**मूलानुवाद**—इस प्रेमपत्तन नगर में रति के द्वारा असत्य को ही सत्य स्थान दिया गया । इति ॥ जैसा कि श्रीगर्गाचार्य ने भागवत १०-८-१४ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—नन्दजी ! यह तुम्हारा पुत्र पहले कभी वसुदेवजी के घर भी पैदा हुआ था, इस रहस्य को जाननेवाले लोग इसे 'श्रीमान् वासुदेव' भी कहते हैं ॥ इति ।

**तथा—श्लोकार्थ**—१०-८-१९—नन्दजी ! चाहे जिस दृष्टि से देखें—गुण में, सम्पति और सौन्दर्य में कान्ति और प्रभाव में तुम्हारा यह बालक साक्षात् भगवान् नारायण के समान है । तुम बड़ी सावधानी और तत्परता से इसकी रक्षा करो । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ यह बात जानने योग्य है कि श्रीगर्गाचार्यजी भगवान् को ईश्वर रूप से और वासुदेव के पुत्र रूप से जानते हुए भी पूर्व वर्णित भागवत वचनों से नारायण के समान किन्तु नारायण नहीं इत्यादि उनकी यह उक्तियाँ असत्य ही तो हैं । इसमें मूल कारण कृष्ण विषयक प्रेम ही है ॥ इति ॥

**श्लोकार्थ**—भा० १०-२-४—कुछ लोग ऊपर ऊपर से उस (कंस के) मन के अनुसार काम करते

**तथा श्रीशुकः–भा० १०-२-४–"एके तमनुरन्धाना ज्ञातयः पर्य्युपासते" । इति ।**

एक इति । एके मुख्या अक्रूरादयः कृष्णभक्ता इति सनातनचरणैर्व्याख्यातत्वादत्र कृष्णभक्तस्याक्रूरस्य कंससेवकस्य कपटकृतत्वेनासत्यत्वमेव । तच्च कृष्णविषयकप्रेमकृतम् । अन्यथेतरयादवानामिव तस्याप्यन्यत्र गमने भगवत्प्रादुर्भावसुखश्रवणं तदानीमेव न स्यादिति प्रस्फुटमेव ।।

**तदुक्तं भगवता व्रजेश्वरीं प्रति––भा० १०-८-३५**

**"नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः ।**
**यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ।। इति ।**

नाहमिति । अत्र कृतमृद्भक्षणस्य श्रीकृष्णस्य मातरं प्रति वाक्यं नाहमित्युक्तिरसत्यैव । सा च मातृविषयकसंभ्रमप्रीतिकृता । यदि च सखाय एवाकृतमृद्भलक्षणेऽपि कृष्णे मिथ्याभिशापमर्पयितुमुद्यतास्तथाऽब्रुवन् तर्हि तेषां तदसत्यवचनं सख्यरतिकृतमेवेत्युभयथा असत्यमेव सत्यम ।।

**तथा व्रजकन्यकाः प्रति–भा० १०-२१-११–**

**"न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः । एकैकशः प्रतीक्षध्वं सहैवोत सुमध्यमाः ।।" इति ।**

---

हुए उसकी सेवा में लगे रहे इत्यादि ।

**टीकानुवाद**—'एके' का अर्थ है मुख्या-अक्रूर आदि कृष्ण भक्त ऐसा श्रीसनातन गोस्वामीपाद ने व्याख्यात किया है । यहाँ श्रीकृष्ण के भक्त अक्रूर का कंस का सेवक बने रहने का कपट करना असत्य ही तो है । तथा ऐसा श्रीकृष्ण विषयक प्रेम के कारण हुआ । यदि वह ऐसा न करता और अन्य यादवों की तरह दूसरी जगह (भागकर) चला गया होता, तो भगवान् के मथुरा जन्मादि सुख-संवादों को उसी समय न सुन पाता यह स्पष्ट ही है । भगवान् ने भी यशोदा मैया को कहा—भा० १०-८-३५ । इति ।

**श्लोकार्थ**—मा ! मैंने मिट्टी नहीं खायी । ये सब झूठ बक रहे हैं । यदि तुम इन्हीं की बात सच मानती हो—तो मेरा मुँह तुम्हारे सामने ही है, तुम अपनी आँखों से देख लो । इति ।

इस प्रसंग में श्रीकृष्ण ने मृतिका भक्षण तो किया है परन्तु माता से झूठ बोले 'मैंने मिट्टी नहीं खायी' यह स्पष्ट असत्य ही तो है । श्रीकृष्ण की यह असत्योक्ति मातृ सम्बन्धी भय मिश्रित प्रीति के कारण कही गई है । यदि उनके सखाओं ने मृतिका भक्षण न करने पर भी झूठ-मूठ लड़ाई लगाने के लिये ऐसा कहा, इस प्रकार मानने पर भी उनका यह असत्य वचन सख्य रस वश ही हुआ । दोनों ही तरह असत्य को ही सत्य कहा गया है । ऐसे ही श्रीकृष्ण ने व्रज कुमारिकाओं के प्रति भी कहा—भा० १०-२२-११

**श्लोकार्थ**—यह मेरे सखा ग्वाल-बाल जानते हैं कि मैंने कभी कोई झूठी बात नहीं कही है । सुन्दरियो ! तुम्हारी इच्छा हो तो अलग अलग आकर अपने-अपने वस्त्र ले लो या सब एक साथ ही आओ, मुझे इसमें कोई आपत्ति नही है ।

**टीकानुवाद**—इस प्रसंग में वे एक बार लौटा दो गईं तथा फिर आई हुई उनको देखकर वस्त्र देने की प्रतिज्ञा भी कर ली, परन्तु वस्त्र आदि नहीं दिये और कहने लगे ।

**श्लोकार्थ**—भा० १०-२२-१९—अरी गोपियो ! तुमने जो व्रत लिया था, उसे अच्छी तरह निभाया है—इसमें सन्देह नहीं । परन्तु इस अवस्था में वस्त्रहीन होकर तुमने जल में स्नान किया है—इससे तो जल के अधिष्ठातृ देवता वरुण का तथा यमुनाजी का अपराध हुआ है । अतः अब इस दोष की शान्ति के लिये तुम अपने हाथ जोड़कर सिर से लगाओ और उन्हें झुककर प्रणाम करो, तदनन्तर अपने-अपने वस्त्र ले जाओ । इति । इस तरह श्रीकृष्ण का उनको वस्त्र न देकर पूर्वोक्ति कहना असत्य ही जताता है ।

न मयोदितेति। अत्र मुक्तास्तास्तथैवागता वीक्ष्य दातुं प्रतिज्ञातं वस्त्राद्यदत्वैव पुनः "यूयं विवस्त्रा" भा० १०-२२-१९ इत्याद्युक्त्या पूर्ववाक्यस्यासत्यत्वमेव। एतच्च कृष्णस्य तद्विषयकरतिकृतम् ॥

**तथा व्रजसुन्दरीः प्रति—भा० १०-२९-१८—**

**स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः। व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ॥**

स्वागतमिति। "स्वागतं वो" इत्यारभ्य "प्रतियात ततो गृहान्" भा० १०-२९-२७ इत्यन्तेन ग्रन्थेन तासां ससंरम्भमुखनिरीक्षणाद्यर्थं कृष्णेनानृतमेवोक्तम्। तद्ग्रन्थसामान्यव्याख्याने शृङ्गाररस-गलच्छेदापत्तिः, तस्माच्छृङ्गाररससर्वस्वस्य तस्य रूक्षतयोक्तिर्विपरीतलक्षणया रसपोषिका, अतोऽनृतमेवेति ॥

**तथैवोक्तं ताभिः—भा० १०-२९ ३२—**

**मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलम्।**
**भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥**

व्रजसुन्दरीणामपि मैवं विभोऽर्हतीत्याद्युक्तयोऽपि तथैव। साहजिकोऽर्थस्तु रसाभासापादकतया रसिकैर्नाङ्गीकृतः। रसपोषकतयैव तैर्बहुधा आख्यातत्वात्।

तथैवोक्तम्—'दैन्यं यदि प्रेयसि सुन्दरीणां धिग् जीवितं तत् कुसुमायुधस्यः।" इति ॥

---

श्रीकृष्ण का ऐसा प्रसंग उनके प्रति प्रेम के कारण ही है। और भी उन्होंने व्रज सुन्दरियों के प्रति भा० १०-२९-१८ श्लोक में कहा है।

**टीकानुवाद**—श्लोक भा १०-२९-१८ से २७ तक के प्रसंग से उन (व्रज सुन्दरियों) के कोप मुद्रा विलसित मुख दर्शन के निमित्त श्रीकृष्ण के द्वारा असत्य ही कहा गया। यदि इस प्रसग का साधारण ही व्याख्यान किया जाए, तो शृङ्गार रस का गला ही कट जायेगा। इसलिये साक्षात् शृङ्गार रस स्वरूप श्रीकृष्ण की पूर्वोक्त रूखी उक्तियों का विपरीत लक्षणा से रस पोषण ही अर्थ होता है, इस प्रकार वे सब उक्तियें असत्य ही हैं। विपरीत लक्षणा—जिसका मुख्य अर्थ तात्पर्य न होते हुए उसके विपरीत (उलटा) अर्थ हो। इसी प्रकार गोपाङ्गनाओं ने भी कहा है। भा० १०-२९-३१—

**श्लोकानुवाद**—प्यारे श्रीकृष्ण ! तुम घट-घट व्यापी हो। हमारे हृदय की जानते हो। तुम्हें इस प्रकार निष्ठुरता भरे वचन नहीं कहने चाहिये। हम सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारे चरणों में ही प्रेम करती हैं। इसमें सन्देश नहीं कि तुम स्वतन्त्र हठीले हो। तुम पर हमारा कोई वश नहीं है। फिर भी तुम अपनी ओर से, जैसे आदि पुरुष भगवान् नारायण कृपा करके अपने मुमुक्षु भक्तों से प्रेम करते हैं—वैसे ही हमें स्वीकार कर लो, हमारा त्याग मत करो। इति।

**टीकानुवाद**—व्रज-सुन्दरियों को पूर्वोक्त उक्तियें वैसी ही हैं क्योंकि इनका स्वाभाविक अर्थ, रसाभास का उपस्थापक होने से रसिकों ने स्वीकार नहीं किया किन्तु रस पोषक रूप से ही उनके द्वारा बहुत प्रकार से व्याख्यात हुआ है। इसके समर्थन में अन्यत्र कहा भी गया है।

**श्लोकार्थ**—यदि विलासवती स्त्रियों का अपने प्रियतम के प्रति दैन्य भाव उत्पन्न हो जाए तो कामदेव के जीवन को ही धिक्कार है। इति।

श्रीनन्दबाबा जब वार्षिक कर देने के लिये मथुरा गये तब लौटते समय उनसे श्रीवसुदेव मिले और कहा—

**श्लोकार्थ**—भा० १०-५-२३ भाई ! तुम्हारी अवस्था ढल चली थी और अब तक तुम्हें कोई सन्तान नहीं हुई थी। यहाँ तक कि अब तुम्हें सन्तान की कोई आशा भी न थी। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि अब तुम्हें सन्तान प्राप्त हो गयी। इति।

**तथोक्तं श्रीवसुदेवेन नन्दं प्रति भा० १०-५-२३—**

**दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते । प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यत ।। इति ।**

दिष्ट्येति । अत्र प्रवयसस्ते प्रजा समपद्यतेति दिष्ट्या भद्रं जातमित्युक्तिः सत्यप्रतियोगिन्येव, प्रसक्तधीः स्वात्मजयोः" भा० १०-५-२२ इति पूर्वं शुकोक्तेः ।।

**पुनस्तेनैवोक्तं कंसं प्रति—भा० १०-१-४५—**

**"पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमागमतम् ।" इति ।**

पुत्रानिति । अत्र वसुदेवेन "सुता मे यदि जायेरन्" भा० १०-१-४९ इत्यादि विचार्य 'पुत्रान् समर्पयिष्ये' इत्याद्यनृतमेवोक्तम्, कंसेप्सितपुत्रस्यादानात् ।

**तथैव श्रीदेवक्योक्तम्—भा० १०-४-६**

**"नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो ।**
**दातुमर्हसि मन्दाया अङ्ग मां चरमां प्रजाम् ।।" इति ।**

नन्वहमिति । स्पष्टम् । पद्यत्रयेऽपि वत्सलरतिकृतोऽयं व्यत्ययः ।।

---

**टीकानुवाद**—यहाँ बहुत ही अच्छा हुआ कि बुढापे में तुम्हारी सन्तान हुई यह बड़ी प्रसन्नता की बात है । यह उनका कहना सर्वथा असत्य ही तो है । क्योंकि इस विषय में श्रीशुक मुनि ने पहले ही भा० १०-५-२२ श्लोक में कहा भी है ।

**श्लोकार्थ**—परीक्षित ! नन्द बाबा ने वसुदेवजी का बड़ा स्वागत सत्कार किया । वे आदरपूर्वक आराम से बैठ गये । उस समय उनका चित्त अपने पुत्रों में लग रहा था । वे नन्दबाबा से कुशल मंगल पूछकर कहने लगे । इति । अर्थात् अपने पुत्रों में आसक्ति रखनेवाले वसुदेवजी ने ऐसा कहा ।

वसुदेवजी ने कंस के खर्ग से देवकी को छुड़ाने के लिये (भी) कहा—भा० १०-१-५४—

**श्लोकार्थ**—वसुदेवजी ने कहा—सौम्य ! आपको देवकी से तो कोई भय है नहीं, जैसा कि आकाशवाणी ने कहा है । भय है पुत्रों से, सो इसके पुत्र मैं आपको लाकर सौंप दूँगा ।

**टीकानुवाद**—यहां भा० १०-१-४९ में वसुदेवजी ने विचार किया—

**श्लोकार्थ**—इसलिये इस मृत्यु रूप कंस को अपने पुत्र दे देने की प्रतिज्ञा करके मैं इस दीन देवकी को बचा लूं । यदि मेरे लड़के होंगे और तब तक यह कंस स्वयं न मर गया, तब क्या होगा ? इति ।

इस प्रकार विचार कर 'मैं तुम्हें पुत्रों को सौंप दूँगा' इत्यादि झूठ ही तो कहा । क्योंकि कंस जिस पुत्र को चाहता था उसे तो उन्होंने (समय पर) दिया नहीं ।

टि—('यतस्ते भय भागम्' यहाँ विद्वान लोग वसुदेवजी की सत्य-वादित्व का समर्थन करने के लिये उकार का श्लेष करते हैं अर्थात् जिन पुत्रों से तुम्हें कोई भय नहीं है उन्हें मैं तुमको दे दूंगा। अर्थात् जिस (आठवें) से भय है उसे नहीं दूँगा ।)

ऐसे ही श्रीदेवकी ने भी कहा है—भा० १०-४-६—

**श्लोकार्थ**—अवश्य ही मैं तुम्हारी छोटी बहन हूँ । मेरे बहुत से बच्चे मर गये हैं, इसलिये मैं अत्यन्त दीन हूँ । मेरे प्यारे और समर्थ भाई ! तुम मुझ मन्द भागिनी को यह अन्तिम सन्तान तो अवश्य दे दो । इति । इन (पूर्व वर्णित) तीन पद्यों में वत्सल रति कृत्य विपर्यय (स्पष्ट) ही है ।

ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं—

**मूल श्लोकानुवाद**—क्रूर कंस को स्वयं अपने पुत्रों को देकर कृष्णानुरागी वसुदेवजी ने जो सत्य

**यथा वा—दत्वा विदित्वा स्वसुतानपि स्वयं नृशंसकंसाय पुरा यदर्जितम् ।**
**कृष्णानुरक्तानकदुन्दुभेरहो बभूव सत्यं तदसत्यसाधनम् ॥ १६ ॥**

दत्वेति । अत्र कृष्णानुरक्तस्यानकदुन्दुभेः स्वजन्मनि देवैर्वादितानकदुन्दुभित्वेनात्मनो भाविभगवदवतारं विदित्वा हिंसकाय कंसाय सुतान् दत्वापि यत्सत्यमर्जितं तदुक्तम्—"सोऽनृतादति विह्वलः" भा० १०-१-५७ इति । तद्वक्या अष्टमगर्भजन्मनि पूर्वमेव स्वकर्तव्यतया विचारितं कृष्णगोपनादिलक्षणं यदसत्यं तस्य साधनं बभूव, तेन तत्साधयामासेत्यर्थः । तत्र हेतुः कृष्णानुरक्त इति ॥ १६ ॥

**यथा वा—राधे मैं हूँ मोहिता पोहि सूत्रे जो मैं दीनी तोहि सा मौक्तिकस्रक् ।**
**स्पृष्टा दीसी मञ्जुमूंगामयीसी दृष्टा गुञ्जामालसी लालसीति ॥ २० ॥**

वाग्विदग्धा काचित् सहचरी कान्तप्रेषितां वियोगिनो जीवनकर्पूरशालिकां गुञ्जामालिकां कान्ताकरेऽर्पयन्ती तत्समकालमकस्मादापतितां विपक्षासखीं वञ्चयन्ती स्वप्रियसखीं प्रत्याह—राधे इति । मैं अहमपीत्यर्थः । अन्या काचिदीदृगद्भुतं दृष्ट्वा मोहिता भवेदित्यपिशब्दार्थः । स्पष्टमन्यत् । देवमानुषभाषाशाबल्यमत्र चित्रम् । तन्मधुररतिगर्भितस्य सख्यरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्यः ॥ २० ॥

**यथा वा—स्नेहाम्बुधीनां सुषमानिधीनां विहाय गेहं विनयावधीनाम् ।**

---

संग्रह किया, आश्चर्य है कि वह मब सत्य साधन असत्य ही बन गया ॥ १६ ॥

**टीकानुवाद**—यहाँ श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्त वसुदेव, जिसके जन्म के समय देवताओं ने नगाड़े बजाये थे । उसने अपने यहाँ होनेवाले भगवदवतार को जानकर हिंसक कंस के लिये पुत्रों को देकर भी जिस सत्य का संग्रह किया था जैसा कि भा० १०-१-५७ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—पहले पुत्र का नाम था कीर्तिमान् ! वसुदेवजी ने लाकर कंस को दे दिया । ऐसे करते समय उन्हें कष्ट तो अवश्य हुआ, परन्तु उससे बड़ा कष्ट उन्हें इस बात का था, कि कहीं मेरे वचन झूठे न हो जाँय । इति । वसुदेवजी असत्य से घबड़ा गये । वही देवकी के आठवें गर्भ से पहले ही अपने कर्तव्य रूप में श्रीकृष्ण का गुप्त रूप से रक्षण जो विचारा था वह असत्य उसका साधन बन गया । अर्थात् उसने कृष्ण रक्षण रूप अपनी अभिलाषा को पूण कर लिया । इस विषय में श्रीकृष्ण विषयक अनुराग ही मुख्य है ।

ग्रन्थकार मिश्रित भाषा श्लोक में स्वयं कहते हैं—

**श्लोकार्थ** २०—राधे ! मैं मुग्ध हूँ । मैंने तुमको सूत्र में पिरोई हुई मोतियों की माला दी है । वह तुम्हारे स्पर्श से सुन्दर मूँगे की माला सी दीखती है । और रक्त वर्ण की गुञ्जा माला सी दीखती है । इति ।

**टीकानुवाद**—बोलने में बड़ी चतुर कोई सखी, प्रीतम के द्वारा भेजी गई—जो वियोगिनी के लिये जीवन के लिये कर्पूर की शलाका के समान है—ऐसी गुञ्जा माला को प्रियतमा को दे रही थी । उस समय अकस्मात् दूसरे पक्ष की कोई सखी आ गई । वह इस रहस्य को जान न ले, उसकी वञ्चना करती हुई अपनी प्रिय सखी के प्रति कहती है । 'राधे' इत्यादि—यह 'अपि' शब्द का अर्थ है । कोई दूसरी भी ऐसे अद्भुत कार्य को देखकर मुग्ध हो सकती है, और स्पष्ट है । यहाँ देव भाषा और मनुष्य की (बोल चाल) भाषा का मिश्रण हुआ है । इसलिये यहाँ चित्र काव्य है और यहां मधुर रति से युक्त सख्य रति द्वारा किया गया इन दोनों का (सत्य-असत्य का) विपर्यय है ।

ग्रन्थकार का कहना है—**श्लोकार्थ** २१—जो स्नेह के समुद्र हैं । शोभा का खजाना है और विनय की सीमा है । उनके घर को छोड़कर हे चन्द्रमुखी ! खेद की बात है कि मानवती, मैं तुम्हारे घर नहीं आऊँगा । इति ।

**सुधाकरास्ये बत मानवत्या नैवोपयास्ये भवनं भवत्याः ॥ २१ ॥**

स्नेहाम्बुधीनामिति । अत्र स्नेहाम्बुधीनामित्यादिविशेषणैः स्तुतिव्याजेन निन्दां विधाय, "मानवत्या" इति मानस्य स्नेहोत्तरकालोत्पन्नतया फलरूपत्वात् निन्दाव्याजेन स्तुतिं विधाय, "सुधाकरास्ये" इति सम्बोधनेन तन्मुखस्य स्वजीवनप्रदत्वमभिव्यज्य, "भवत्याः" इत्यादरविशेषमभिव्यज्य, भवनमुप समीपमपि नैव यास्ये इत्यत्रोपैवशब्दावधारणाभ्यां पूर्वोक्त लक्षणानां तासां गृहं विहाय तवैव भवनं यास्ये इति रसिकजनमनः प्रमोदपोषिकया विपरीतलक्षणया व्यञ्जितम् । अन्यथा मुख्यार्थकथने पद्यस्य नीरसत्वापत्तिः । पद्येऽस्मिन् मधुररतिकृतो विपर्ययः ॥ २१ ॥

**यथा वा—कान्तः कान्त्यैव कुरुते मदीयं हृदयं हरित् ।**

**कृष्णः किं नहि कण्ठस्थो महेन्द्रमणि नायकः ॥ २२ ॥**

कान्त इति । स्पष्टार्थमेव । मधुररतिकृतोऽत्रापि विपर्ययः । एवमेवाभिप्रेत्य प्रायो बह्वृचःश्रुत्या सत्यानृतव्यवस्थायां "पराग्वैतद्रिक्तमक्षरम्" इत्यादिना संस्तुतमनृतम्, निन्दितं सत्यम्, तथा तदर्थानुसारिणा भगवतोशनसा शिष्यसाम्राज्ये ममैवेदं सर्वमिति ममिमत्ता अतएव तत्र रतिमत्ता [दर्शिता, तथा ?] अष्टमस्कन्धे भागवते वामनाय वसुमतीं वितरितुमुद्यतं वैरोचनं प्रत्युपदिष्टम् । यथा—

"सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य जीवतः । वृक्षेऽजीवति तन्न स्यादनृतं मूलमात्मनः ॥" ८-१९-३९

---

**टीकानुवाद**—यहां 'स्नेह ' आदि विशेषणों से स्तुति के बहाने निन्दा करके और मान-स्नेह के अनन्तर फल रूप से उत्पन्न होता है । इस अभिप्राय से 'मानवत्या' पद द्वारा निन्दा के बहाने स्तुति करके तथा 'सुधाकरास्ये' (चन्द्रमुखी !) इस सम्बोधन से उनका मुख अपना जीवन दाता है । यह अभिव्यक्त करके एवं 'भवत्या' पद से विशेष आदर बता कर कहा, कि मैं तो तुम्हारे भवन के समीप भी नहीं आऊँगा । यहाँ 'उप' और एव शब्दों द्वारा निश्चयार्थक यह बताया गया कि पहले जिनका वर्णन किया गया है, उनके हाँ न जाकर तुम्हारे ही यहाँ आऊँगा । इस प्रकार रसिकजनों के मन के हर्ष का पोषण करने वाला विपरीत लक्षण द्वारा यह अर्थ व्यञ्जित होता है, नहीं तो मुख्य अर्थ के लेने पर तो यह पद्य एकदम नीरस प्रतीत होगा । इम पद्य में मधुर रति द्वारा किया गया विपर्यय (असत्य का सत्य रूप में) है । इति

ग्रन्थकार का कहना है—**श्लोकार्थ** २२—किसी प्रेयसी नायका की उक्ति है । यह कान्त-सुन्दर श्रेष्ठ महेन्द्रमनि अपनी कान्ति से मेरे कण्ठ में विराजमान होकर मेरे हृदय को हरित (सरस) कर रहा है, तब श्रीकृष्ण क्यों नहीं ? (अर्थात् निश्चय ही) । इति ।

**टीकानुवाद**—अर्थ स्पष्ट है, यहाँ भी श्लेष से मधुर रति कृत विपर्यय है । इसी अभिप्राय से प्रायः 'बह्वृचः ...' अर्थात् ऋग्वेद द्वारा सत्य और असत्य व्यवस्था के प्रसङ्ग में 'पराग्वै... ....' इत्यादि वर्णन से असत्य की स्तुति हुई है और सत्य की निन्दा, एव उसके अनुसार चलनेवाले भगवान् शुक्राचार्य ने भा० ८-१९-३९ में भगवान् वामन को भूमि दान करने के लिये उद्यत शिष्य बलि के प्रति उपदेश दिया ।

**श्लोकार्थ**—यह शरीर एक वृक्ष है और सत्य इसका फल-फूल है । परन्तु यदि वृक्ष ही न रहे तो फल-फूल कैसे रह सकते हैं, क्योंकि नकार जाना, अपनी वस्तु दूसरे को न देना, दूसरे शब्दों में अपना संग्रह बचाये रखना—यही शरीर रूप वृक्ष का मूल है । इति । भा० ८-१९-४१

**श्लोकार्थ**—हाँ मैं दूँगा—यह वाक्य ही धन को दूर हटा देता है । इसलिये इसका उच्चारण ही अपूर्ण अर्थात् धन से खाली कर देने वाला है । इत्यादि । तथा जैसा कि महा भागवत् (भक्त) बलि ने गुरु के वचन का अनादर करके भगवान् वामन को भूमि दान किया ही । यहाँ तो अधर्म ही धर्म है, इसी का उदाहरण समझना चाहिये, क्योंकि वेद और गुरु के वचन का अनादर धर्म के विरुद्ध अधर्म है । इति ॥२२॥

"पराग्रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत्तदोमिति" ८-१९-४१

"तद् यत् किञ्चोमिति ब्रूयात्तेन रिच्येत वै पुमान्" इत्यादि । यत्तु महाभागवतेन तेन तद्वचनमनादृत्य तस्मै मही दत्तैव, तत्तु यत्राधर्म एव धर्म इत्यस्योदाहरणं ज्ञेयम्, वेदगुरुवचनानादरस्य धर्मस्याधर्मरूपत्वात् ।। २२ ।।

**यत्रानाचार एवाचारः ।**

**तथा च श्रीशुकः—भा० १०-२९-६**

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः । शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ।।

काश्चिदिति । अत्र भोजनमास्य चलितानां तासामाचमनानवकाशादनाचान्ता एव गता इति गम्यते, ततश्च तथा गमनमनाचार एव । स च निजनगरे मधुररत्या आचारत्वेन स्थापितः ।

**तथा तत्रैव—भा० १०-१३-११—**

**"बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः श्रृङ्गवेत्रे च वामे पाणौ बिभ्रन्मसृणकमलं तत्फलान्यंगुलीषु । तिष्ठन्मध्ये स्वपरसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः ।। इति**

---

**मूलानुवाद**—उस नगर में अनादार का ही आचार पद दिया गया । जैसा कि शुकदेवजी ने भागवत् १०-२९-६ में कहा—

**श्लोकार्थ**—जो भोजन परस रही थीं वे परसना छोड़कर, जो छोटे छोटे बच्चों को दूध पिला रही थीं वे पिलाना छोड़कर, जो पतियों की सेवा शुश्रूषा कर रही थीं उसे छोड़कर और जो स्वयं भोजन कर रही थीं वे भोजन छोड़कर अपने प्यारे कृष्ण के पास चल पड़ीं । इति ।

**टीकानुवाद**—इस प्रसंग में गोपियों को इतनी जल्दी थी कि उनको आचमन करने का अवकाश नहीं था अतएव बिना आचमन किये ही चल पड़ीं ऐसा ध्वनित होता है । इससे यह स्पष्ट है कि बिना आचमन चल पड़ना अनाचार ही है और अपने नगर में मधुर रति द्वारा आचार रूप से स्थापित किया गया । इति ।

इस प्रसंग में भा० १०-१३-११ में और भी कहा है—

**श्लोकार्थ**—(श्रीकृष्ण की छटा सबसे निराली थी) उन्होंने मुरली को तो कमर की फेंट में आगे की ओर खोंस लिया था । सींग और बेंत बगल में दबा लिये थे । बाँये हाथ में बड़ा ही मधुर घृत मिक्षित दही भात का ग्रास था और उँगलियों में अचार मुरब्बे दबा रखे थे । ग्वाल-बाल उनके चारों ओर घेर कर बैठे हुए थे, और वे स्वयं सबके बीच में अपनी विनोद भरी बातों से साथियों को हँसाते जा रहे थे । जो समस्त यज्ञों के एक मात्र भोक्ता हैं, वे ही भगवान् ग्वाल-बालों के साथ इस प्रकार बाल-लीला करते हुए भोजन कर रहे थे और स्वर्ग के देवता आश्चर्य-चकित होकर यह अद्भुत लीला देख रहे थे । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ अपनी मित्र-मण्डली में खड़े होकर बाँये हाथ में दही मिश्रित चावल रखकर श्रीकृष्ण का भोजन करना स्पष्ट ही अनाचार है यह मित्र-मण्डली विषयक श्रीकृष्ण प्रेम के द्वारा किया गया है—बैठकर भोजन करने से मित्रों को अपने मुख का दर्शन नहीं होगा और उनका भोजन भी अच्छी तरह नहीं हो सकेगा अर्थात् इसी हेतु से श्रीकृष्ण खड़े होकर भोजन करने लगे । और भी इसी प्रसग में कहा—भा० १०-१३-१०

**श्लोकार्थ**—भगवान् श्रीकृष्ण और ग्वाल बाल सभी परस्पर अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न रुचि का प्रदर्शन करते । कोई किसी को हँसा देता तो कोई स्वयं ही हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता । इस प्रकार वे सब भोजन करने लगे । इति ।

बिभ्रद्वेणुमिति । अत्र सखिमण्डले उत्त्थितस्य वामहस्ते निहितदध्योदनस्य कृष्णस्य तथा भोजन स्फुट एवानाचारः । स च सहचरविषयकृष्णप्रेमकृतः । उपविश्य भोजने निजमुखावलोकनाभावात् सखीनां भोजनं सम्यक् न सम्पद्यतेति ॥

**पुनस्तत्रैव—भा० १०-१३-१०—**

**सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक् । हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वरा ॥ इति**

सर्वं इति । अत्रान्योन्यमुच्छिष्टभोजनं प्रकट एवानाचारः । सोऽपि सख्यरतिकृत एव ॥

**यथा वा—प्रेम्णा विशिष्टमुच्छिष्टं भुक्त्वाफलचतुष्टयम् ।**

**कृता रामेण भक्तानां शबरी कवरीमणिः ॥ २३ ॥**

प्रेम्णेति । अत्र रामेण शबरी भक्तानां कबरीमणिः (शिरोरत्नम्) । कृतेति योज्यम् । तत्र हेतुः प्रेम्णा विशिष्टत्वमेव । स तु दास्यरतिकृतः ॥ २३ ॥

**यथा वा—कृष्णं सतृष्णमत्युष्णं पायं पायं स्वयं मुहुः ।**

**लीलामुग्धं पाययति दुग्धं सप्रेम गोपिका ॥ २४ ॥**

कृष्णमिति । अत्र कृष्णं बाल्येनात्युष्णमजानन्तमतः सतृष्णं पातुमतितरलमपि प्रेम्णा स्वयं पायं पायं पीत्वा पीत्वा शीतलं विज्ञाय दुग्धं पाययति । पातेर्विकर्मकत्वम् । अनाचारोऽत्र स्पष्ट एव । तत्र हेतुः सप्रेमतैव, स च वत्सलरतिकृतः ॥ २४ ॥

**यथा वा दशमे—१०-६-२२—**

**"इति त्रिलोकेशपतेस्तदात्मनः प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम् ।**

**आश्रुत्य भीता इति जातवेपथुश्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह ॥" इति ।**

---

**टीकानुवाद**—यहाँ एक दूसरे की झूठन खाना स्पष्ट ही अनाचार है और यह सख्य रति कृत है। ग्रन्थकार का निज श्लोक है—

**श्लोकार्थ** २३—शवरी ने आस्वाद ले ले कर प्रेम से कुछ फल रख छोड़े थे । भगवान् राम ने उन (उच्छिष्ट) फलों का उपभोग करके शवरी को (समस्त) भक्तों का शिरोरत्न बना दिया । इति ॥ २३ ॥

**टीकानुवाद**—यहाँ श्रीराम ने शवरी को भक्तों का शिरोरत्न बना दिया ऐसा (भाव) लगाना चाहिये । उसमें कारण प्रेम की विशिष्टता ही है और दास्य रति द्वारा सम्पादित है ॥ २३ ॥

ग्रन्थकार का निज श्लोक है—

**श्लोकार्थ** २४—लीला परवश भोले-भाले भगवान् श्रीकृष्ण दूध पीने के लिये बड़ी उतावल कर रहे थे । दूध बहुत गरम था । तब प्रेमवश मैया यशोदा ने उसे बार-बार फूँककर, स्वयं पी-पीकर श्रीकृष्ण को पिलाया । इति ॥ २४ ॥

**टीकानुवाद**—यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण बाल चपलता के कारण यह नहीं जानते कि दूध बहुत गरम है । इसलिये उसे पीने के लिये सतृष्ण और चंचल बने हुए थे । तब प्रेम से अपने आप पी-पीकर, शीतल हुआ जानकर दूध पिलाया । 'पा' धातु अकर्मक है । यहाँ अनाचार स्पष्ट ही है । उसमें कारण वत्सल रति-कृत प्रेम ही है ॥ २४ ॥ इति

ऐसा ही भा० १०-६०-२२ में आया है ।

**श्लोकार्थ**—परीक्षित् ! जब रुक्मिणीजी ने अपने परम प्रियतम पति त्रिलोकेश्वर भगवान् की यह अप्रिय वाणी सुनी—जो पहले कभी नहीं सुनी थी, तब वे अत्यन्त भयभीत हो गयीं, उनका हृदय धड़कने

इतीति। अत्रान्ते हेत्यव्ययम्—आचारातिक्रमे इति सनातनचरणैर्व्याख्यातत्वादनाचारः स्पष्ट एव। स च कृष्णस्य रुक्मिणीविषयकसमञ्जसरतिकृतः, मुनीन्द्रस्य तु रतिविशेषकृतः ॥

**तथोक्तं श्रीरूपगोस्वामिचरणैः—**

**कदा बिम्बोष्ठि ताम्बूलं मया तव मुखाम्बुजे। अर्प्यमानं व्रजाधीशसूनुराच्छिद्य भोक्ष्यते ॥ इति**

कदेति। अत्र विम्बोष्ठीति सम्बुद्धिः कृष्णस्य बिम्बतुल्याधरमिलनलालसां बोधयति। ताम्बूलं तद्वीटिकाम्। व्रजाधीशसूनुः श्रीनन्दनन्दनः। अत्र लालसामधुररतिकृतोऽयं विपर्ययः॥

**यथा वा—सद्भिः स क्रियया सेव्यः स कृष्णप्रियया पुनः।**
**प्रेम्णा सगर्वितं दत्तमत्ति ताम्बूलचर्वितम् ॥ २५ ॥**

सद्भिरिति। अत्रानाचारः स्पष्ट एव। भा० १०-३३-१३ "गण्डं गण्डे संदधत्याः प्रादात्ताम्बूल-चर्वितम्" इत्यन्तस्य पद्यस्य रसिकोत्तमानां षष्ठ्यनुरोधात् प्रकर्षेण स्वयं प्रादादगृह्णादिति व्याख्यानमेवात्र प्रमाणम्, अतो नाधिकं वितन्यतेऽस्माभिर्विस्तरभिया ॥ २५ ॥

---

लगा, वे रोते-रोते चिन्ता के अगाध समुद्र में डूबने-उतारने लगी। इति।

**टीकानुवाद**—श्लोक के अन्त में 'ह' अव्यय है। श्रीसनातन गोस्वामी पाद ने इसका अर्थ आचार का अतिक्रम किया है। अतः यह अनाचार स्पष्ट ही है। और वह श्रीकृष्ण की रुक्मिणी विषयक समञ्जसा रति कृत है। परन्तु श्रीशुकमुनि इसे रति विशेष कृत मानते हैं।

टि—(उ० नी० म० का० ४२ स्थायी भाव प्रसंग में समञ्जसा रति का वर्णन श्रीरूप गोस्वामी पाद ने किया है।)

श्लोक तथा अनुवाद—पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादि श्रवणादिजा।
क्वचिद्भेदित सम्भोगतृष्णा सान्द्रा समञ्जसा ॥ ४२ ॥

समञ्जसा—जिसमें 'मैं कृष्ण की पत्नि हूँ' इस प्रकार अभिमान बुद्धि रहती है, जो गुणादि श्रवण से उत्पन्न होती है, एवं जिसमें कहीं सम्भोग तृष्णा भेद प्राप्त होती है वह समञ्जसा रति है। रुक्मिणी आदि इसके प्रमाण हैं। इति ॥ ४२ ॥

श्रीरूप गोस्वामी पाद का वचन है—**श्लोकार्थ**—वह ऐसा अवसर कब आवेगा जब मेरे द्वारा तुम्हारे मुख में दिये गये ताम्बूल को नन्दनन्दन छीन कर खायेंगे। इति।

**टीकानुवाद**—यहाँ बिम्बोष्ठी! यह सम्बोधन श्रीकृष्ण की बिम्बा फल सदृश अधर प्राप्ति की लालसा (उत्कट इच्छा) को बोधित करता है। 'ताम्बूल' का अर्थ है उसकी बनी बीरी। 'व्रजाधीश सूनुः' नन्दनन्दन अभिप्रेत है। यहाँ मधुर रतिकृत विपर्यय है। इति। ग्रन्थकार का श्लोक है—

**श्लोकार्थ** २५—सत्पुरुषों को चाहिये कि वे क्रिया पूर्वक श्रीकृष्ण का सेवन करें। परन्तु श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा द्वारा प्रेम और गर्व से दिये गये चर्वित ताम्बूल का ग्रहण करते हैं। इति ॥ २५ ॥

**टीकानुवाद**—यहाँ अनाचार स्पष्ट ही है। श्री भा० १०-३३-१३ का प्रमाण है—

**श्लोकार्थ**—एक गोपी नृत्य कर रही थी। नाचने के कारण उसके कुण्डल हिल रहे थे। उसने अपने कपोल को भगवान् श्रीकृष्ण के कपोल से सटा दिया और भगवान् ने उसके मुँह में अपना चबाया पान दे दिया॥ इति ॥

इस पद्य का उत्तम रसिकों ने षष्टी विभक्ति के अनुरोध से और 'प्रादात्' से प्रकर्षण (बलपूर्वक) स्वयं ग्रहण किया ऐसा व्याख्यान किया है। यही इसमें प्रमाण है। इससे अधिक विस्तार भय से हम नहीं लिख रहे हैं। इति। ग्रन्थकार का श्लोक है—

यथा वा—

**गृहीतार्द्धं दद्भिः सरभसमुभाभ्यामुभयतो यदाच्छिद्यादातुं रहसि न च हातुं प्रभवतः।**
**प्रियौ पश्य प्रेम्णा प्रियसखि तथैवाथ शनकैर्दधाते ताम्बूलं दशनवसनाश्लेषरसिकौ ॥२६॥**

गृहीतार्द्धमिति। कदाचित् काश्चित् प्रियसख्यः कालिन्दकन्यकाकूलमंजुलकुञ्जमन्दिरान्तर्विशङ्कं विहरतोः कयोरपि गौरश्यामसुन्दरयोः कामकेलिकलाकलापकौशलं जालरन्ध्रै निभृतमवलोकयन्त्योऽपि प्रेमरसोत्सेकाद्वचसापि तत्परस्परं शनैरास्वादयन्त्यस्तयोः परमप्रणयावधित्वं व्यञ्जयन्ति—गृहीतार्द्धमिति। हे सखि! ऐतौ प्रियौ त्वं पश्येति सम्बन्धः। बह्वीष्वपि तासु एकवचनात्मिकेयं सम्बुद्धिर्द्वयोर्द्वयोरेव द्रष्टृदर्शयितृत्वं श्रोतृवक्तृत्वञ्च बोधयति। तत्र प्रियपदं त्वं मे परमप्रेमपात्रं सखीति त्वामेव दर्शयामि, त्वया अन्यस्याः कस्याश्चित् पुरतो नैव वर्णनीयमपीति बोधयत्तयोः प्रेमविलासललामानां सुगोप्यत्वं व्यञ्जयति। कर्मपदन्तु तयोः पारस्परिकं प्रणयातिशयं बोधयत् तत्प्रेम्णां जातिप्रमाणाभ्यां तुल्यत्वं व्यञ्जयति। क्रियापदमपि तत्केलिकौतुकं दर्शनीयमेव न तु वचनगोचरतां यातीति बोधयत्तस्याद्भुततमत्वं व्यञ्जयति। रहसीति—विशङ्कत्वे हेतुः, एकान्तं विना तथात्वासिद्धेः। उभाभ्यां प्रियाप्रियाभ्यां सरभसं ससम्भ्रमं दद्भिर्निजदशनैरुभयतः पूर्वोत्तरतो गृहीतार्द्धं गृहीतावर्द्धौ यस्य तत्ताम्बूलमर्थात् ताम्बूलवीटिकामेकाम्। अथाधुनापि तथैव शनकैरेव न तु छिन्नत्वशङ्कया बलेन दधाते धारयतः। अत्रात्मनेपदं तथा धारणफलस्य सुखविशेषस्यात्मगा-

---

**श्लोकार्थ** २६—हे प्रिय सखी! मैं तुमसे क्या कहूँ। एक दिन की बात है। दोनों प्रिया-प्रियतम ने ताम्बूल भक्षण किया। उसके आधे भाग को एक ने और दूसरे आधे को दूसरे ने दान्तों से आग्रह पूर्वक ग्रहण किया। एकान्त रस में वे दोनों उस ताम्बूल को खण्डित करके ग्रहण (चबाने) करने में और न ही छोड़ने में समर्थ हुए। इसी प्रेम मुद्रा में तुम इन युगल का दर्शन करो। यह दोनों अधर के आश्लेष में रसिक अभी तक ताम्बूल को उसी मुद्रा में धारण किये हुए हैं। इति ॥ २६ ॥

**टीकानुवाद**–किसी समय श्रीरधामाधव यमुना के तीर सुन्दर अशोककुञ्ज मन्दिर में निश्शंक भाव से विहार कर रहे थे। उस समय की काम-केलि कलाप कौशल को जाल रंध्रों से चुपचाप (सखियाँ) देख रही थीं। उस लीला दर्शन मात्र से केवल तृप्ति का अनुभव नहीं हुआ अतः प्रेमोद्रेक वश वाणी द्वारा भी परस्पर धीरे-धीरे उसका आस्वादन करती हुई युगल की उस प्रेम की परम-अवधि का वणन करती है। हे सखि! इन दोनों प्रिया-प्रियतम को तुम देखो—यह सम्बन्ध है। यद्यपि सेविका सखियाँ बहुत सी हैं तथापि उसमें एक वचन द्वारा सम्बोधन दो-दो के देखने और दिखाने, सुनने और कहनेवालियों के विभाग को बताता है। इसमें सखि के साथ जो प्रिय पद जुड़ा है, इसका यह अभिप्राय है, कि तुम मेरी परम प्रेम पात्र सखी हो। इसलिये मैं तुम्हें ही इस लीला का दर्शन करा रही हूँ। तुम किसी दूसरी क सामने इसकी चर्चा मत करना। इसके अतिरिक्त उन दोनों के प्रेम विलास की उच्चता आदि के गोपनीयत्व का भी वर्णन करता है। तथा 'प्रियौ पश्य' इसमें प्रियौ यह जो कर्म पद है, यह उन दोनों के परस्पर के प्रेम के आधिक्य को बोधित करता है और उनके प्रेम सम्बन्धी जाति एवं प्रमाण से भी समानता का व्यञ्जन करता है। ऐसे ही 'पश्य' यह किया पद भी उनके उस केलि कौतुक की दर्शनीयता को ही व्यक्त करता है न कि वाणी के विषय को। इस से यह स्पष्ट होता है कि उनका ये लीला प्रसंग अत्यन्त अद्भुतता की पराकाष्ठा है। 'रहसि' यह पद किसी प्रकार की शंका-संकोच आदि के भय को दूर करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि एकान्त के बिना उस प्रकार के भाव की पुष्टि नहीं हो सकती। दोनों प्रिया-प्रियतम ने होड़ा-होड़ी पूर्वक एक ही ताम्बूल वीटिका को ग्रहण किया हुआ है और दोनों उसके अगले-पिछले भागों को अपने-अपने दान्तों से पकड़े हुए हैं, एवं अभी तक ऐसी विधि से ग्रहण किये हैं, कि वीड़ो न तो खंडित हो और न छूट जाये इसलिये

मित्वं विशदयति । यद् यत आच्छिद्य छित्वा अर्थात् ताम्बूलार्द्धमादातुं ग्रहीतुं तथा हातुं सर्वमेव त्यक्तुञ्च न प्रभवतोऽनीशावित्यर्थः तत्र हेतुगर्भविशेषणम्—दशनवसनाश्लेषरसिकाविति । दशनवसनयोरधरयोर्य आश्लेषस्तदेकसमयसहजसिद्धं मिलनं तत्र रसिकौ रसविदौ तदनुभवानन्दलालसत्वादिति भावः । तथा ग्रहणे, तथा धारणे, आदानत्यागानीशत्वे च प्रेम्णोऽतिजागरूकत्वमेव निदानम् । मधुररतिकृतोऽय तयोर्विपर्ययः स्फुट एव । एतदेवाभिप्रेत्य प्रायः स्मृतिरप्याह—"स्त्रीमुखं सर्वदा शुचि" इति ॥ २६ ॥

**यत्रानादर एवादरः ।**

**तथा च श्रीव्रजेश्वरी—भा० १० ८-३४**

**"कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः ।**
**वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् ॥" इति ॥**

कास्मादिति । अत्रादान्तातमन्नित्यनादरः स्पष्टः । स च वत्सलरतिकृतत्वाद्वत्सलरसाभिज्ञजनैकवेद्यपरमस्नेहमयत्वात्परमादरादधिकः ॥

**तथाह श्रीशुकः—भा० १०-९-११**

**"कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना ।**

---

सावधानी से (मुखों में) पकड़े हैं। यहाँ 'दधाते' में आत्मने पद इस बात को व्यञ्जित करता है कि उस ताम्बूल के धारण किये रहने का जो फल—सुख विशेष है, वह आत्मगामी है अर्थात् कर्त्ता को ही प्राप्त होनेवाला है न कि अन्य को। इस प्रसंग में स्थिति यह है कि उस वीटिका को आच्छन्न करके आधे भाग को ग्रहण करने में अथवा छोड़ने में अथवा पूरी ही वीटिका को छोड़ने में दोनों ही समर्थ नहीं हो रहे हैं। ऐसा क्यों कर रहे हैं इस बात को बताने के लिये ही प्रिया-प्रियतम का यह विशेषण आया है। 'दशन वसन........' इति।

भाव यह है कि परस्पर दोनों अधरों का एक ही समय में एक साथ स्वाभाविक रूप से (सहज) मिलन है, उस रस ज्ञान के दोनों महान् पण्डित हैं। क्योंकि उस अनुभवानन्द की लालसा सदा ही लगी रहती है। किञ्च उस ताम्बूल के ग्रहण व त्याग में दोनों का समर्थ न होना—इसमें प्रेम की अत्यन्त जागरूकता ही मूल कारण है। मधुर रति द्वारा किया गया यह आचार-अनाचार का विपर्यय स्पष्ट ही है। प्रतीत होता है कि इसी अभिप्राय से स्मृति में कहा कि—'स्त्रीमुख सर्वदा शुचि'। इति ॥ २६ ॥

**मूलानुवाद**—उस नगर में रति के द्वारा अनादर को ही आदर का स्थान दिया गया।

श्रीमद्भागवत् १०-८-३४ में यशोदा मैया ने अपने नन्दन से कहा—

**श्लोकार्थ**—क्यों रे नटखट ! तू बहुत ढीठ हो गया है। तू ने अकेले में छिपकर मिट्टी क्यों खाई ? देख तो तेरे दल के तेरे ही सखा क्या कह रहे हैं ! तेरे बड़े भैय बलदाऊ भी तो उन्हीं की ओर से गवाही दे रहे हैं। इति।

**टीकानुवाद**—यहाँ 'अदान्त ... ' इस सम्बोधन से यह स्पष्ट ही अनादर है और वह वत्सल रति द्वारा सम्पादित होने से केवल वत्सल रस के विशेषज्ञजन ही उसका अनुभव करते हैं और स्नेहवश ऐसे प्रसंग उनके लिये परम आदर से भी अधिक (स्वीकृत) होते हैं। ऐसे ही श्रीशुक मुनि का वचन है।

**श्लोकार्थ**—भा० १०-९-११—(माता यशोदा) श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ कर उन्हें डराने धमकाने लगीं। उस समय श्रीकृष्ण की झाँकी बड़ी विलक्षण हो रही थी। अपराध तो किया ही था। इसलिये रुलाई रोकने पर भी न रुकती थी। हाथों से आँखें मसल रहे थे, इसलिये मुँह पर काजल की स्याही फैल गई थी।

**उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् ।।" इति ।**

कृतागसमिति । अत्रावागुरदभर्त्सयदित्यनादरः स्पष्ट एव ।। पुनः स एव—भा० १०-९-१४

**तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् । गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ।। इति**

तं मत्वेति अत्र स्पष्ट एवानादरो बन्धनरूपः । उदाहरणत्रये वत्सलरतिकृतोऽयमनादरः ।। पुनर्रा स एव—भा० १०-३० ६ ।

**"एका भृकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला । घ्नन्तीवैक्षत्कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा ।।" इति ।**

एकेति । अत्रापि स्पष्ट एवानादरः ।।

**तथा च दशमे व्रजदेव्यः—भा० १०-४७-१७**

**"मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा स्त्रियमकृतविरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।**

**बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्यः तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजः तत्कथार्थः ।।" इति**

मृगयुरिवेति । अत्रातिस्पष्ट एवानादरः, तदलमसितसख्यैरिति तत्प्रणयकोपोक्तेः ।।

तथा—भा० १०-४७-१८—

**"यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।**

---

पिटने के भय से आँखें ऊपर को उठ गई थीं, उनसे व्याकुलता सूचित होती थी । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ 'अवागुरत' का भर्त्सना करना अभिप्राय है जिससे अनादर स्पष्ट ही है और भी भा० १०-९-१४ में कहा है ।

**श्लोकार्थ**—जो समस्त इन्द्रियों से परे और अव्यक्त हैं—उन्हीं भगवान् को मनुष्य का-सा रू धारण करने के कारण पुत्र समझकर यशोदा रानी रस्सी से ऊखल से ठीक वैसे ही बाँध देतीं हैं जैसे को साधारण-सा बालक हो । इति ।।

**टीकानुवाद**—यहाँ बन्धन करना रूप अनादर स्पष्ट ही है । इन तीन उदाहरणों में यहाँ वत्सल रति कृत अनादर है । और भी भा० १०-३२-६ में कहा है ।

**श्लोकार्थ**—रास पंचाध्यायी—पाँचवीं गोपी प्रणय कोप से विह्वल होकर, भौंहें चढ़ाकर, दाँत से होठ दबाकर अपने कटाक्ष बाँणों से बींधती हुई उनकी ओर ताकने लगीं । इति । (श्रीगोपाल चम्पू में यह स्वयं श्रीजी हैं ऐसा वर्णन है) ।

**टीकानुवाद**—यहाँ भी अनादर स्पष्ट ही है । तथा भा० १०-४७-१७ में व्रजदेवियों का वचन है-

**श्लोकार्थ**—ए रे मधुप ! जब वे राम बने थे, तब उन्होंने कपिराज बालि को व्याध के समान छिपकर बड़ी निर्दयता से मारा था । बेचारी शूर्पनखा काम वश उनके पास आई परन्तु स्त्री के वश होकर उन्होंने उस बिचारी के नाक-कान काट लिये और उसे कुरूप कर दिया, ब्राह्मण के घर में वामन रूप से जन्म लेकर उन्होंने क्या किया ? बलि ने तो उनकी पूजा की, उनकी मुंह माँगी वस्तु दी और उन्होंने पूजा ग्रहण करके भी उसे वरुणपाश में बाँधकर पाताल में डाल दिया । ठीक वैसे ही जैसे कौआ बलि खाकर भी बलि देनेवाले को अपने अन्य साथियों के साथ मिलकर परेशान करता है । अच्छा तो अब जाने दे, हमें कृष्ण से क्या, किसी भी काली वस्तु के साथ मित्रता से कोई प्रयोजन नहीं है । परन्तु यदि तू यह कहे कि जब ऐसा है तब तुम उनकी चर्चा क्यों करती हो ? तो हे भ्रमर ! हम सच कहती हैं, एक बार जिसे उसका चसका लग जाता है, वह उसे छोड़ ही नहीं सकता । ऐसी दशा में हम चाहने पर भी उनकी चर्चा छोड़ नहीं सकतीं । इति ।

**सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इव विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ।।" इति ।**

यदनुचरितलीलेति । अत्रापि प्रकट एवानादरः, भिक्षुचर्यां चरन्तीत्युक्तेः ।। तथा भा० १०-५५-१४

**"किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापरः ।**

**यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः ।।" इति ।**

किन्न इति । स्पष्ट एवानादरः । पद्यचतुष्टयेऽस्मिन् मधुररतिकृतोऽयमनादरः । अन्यत्तैर्व्याख्यातमेव ।

**तथैवोक्तं श्रीजयदेवैः श्रीगीतगोविन्दे—"याहि माधव ! याहि केशव ! मा वद कैतव-वादम् । तामनुसर सरसीरुहलोचन ! या तव हरति विषादम् ।।" इति ।**

याहीति । इयं समस्तैवाष्टपदी अनादरप्रचुरा । स चानादरो मधुररतिकृतः, तस्याः खण्डितोक्ति-रूपत्वात् ।

**तथैवोक्तं श्रीरूपगोस्वामिचरणैः—**

---

**टीकानुवाद**—यहाँ अनादर स्पष्ट ही है । प्रणय कोप में गोपियों की ऐसी उक्ति है कि काले वर्ण-वाली किसी वस्तु से प्रीति नहीं करनी चाहिये । इति । तथा भा० १०-४७-१८ में भी कहा है—

**श्लोकार्थ**—श्रीकृष्ण लीलामृत का जो कोई कान के दौनों से एक कण भी पान कर लेता है, उसके राग द्वेष, सुख-दुःख आदि सारे द्वन्द्व छूट जाते हैं । यहाँ तक बहुत से लोग तो अपनी दुख से सनी हुई घर-गृहस्थी छोड़कर अकिञ्चन हो जाते हैं और पक्षियों की तरह चुनकर—भीख माँगकर अपना पेट भरते हैं, दीन दुनियाँ से हाथ धो बैठते हैं । फिर भी श्रीकृष्ण लीला कथा छोड़ नहीं पाते । इति ।

**टीकानुवाद**—इस उक्ति में भीख माँगकर पेट भरना स्पष्ट अनादर ही तो है । ऐसा ही भा० १०-६५-१४ श्लोक में श्रीबलरामजी के व्रज आगमन प्रसंग में गोपियों का उनसे वार्तालाप है—

**श्लोकार्थ**—तीसरी गोपी ने कहा—अरी गोपियो ! हम लोगों को उसकी बात से क्या मतलब है । यदि समय ही काटना हैं तो कोई दूसरी बात करो । यदि उस निष्ठुर का समय हमारे बिना बीत जाता है तो हमारा भले ही दुःख से क्यों न हो, कट ही जायगा । इति ।

**टीकानुवाद**—इन चारों पद्यों में मधुर रति कृत अनादर स्पष्ट ही है । तथा और बातों का उन्होंने (श्रीधर पाद) ने व्याख्यान किया ही है । इति ।

गीत-गोविन्द में श्रीजयदेवजी का वचन भी है ।

**श्लोकार्थ**—हे कमल-नयन ! हे केशव ! हे माधव आप वहीं पधारो, उसी का अनुसरण करो, जो तुम्हारे विषाद को दूर करतो है । यहाँ (मुझ से) छल कपट की बातें मत करो ।

**टीकानुवाद**—यह समस्त अष्टपदी अनादर प्रधान है । यह अनादर मधुर रति से सिद्ध हुआ है । क्योंकि यह अष्टपदी खंडिता नायिका द्वारा कही गई है ।

टि—(खण्डिता नायका का प्रसंग उज्ज्वल नीलमणि में इस प्रकार है—

नायिका भेद कारिका ७६ मूल—उल्लङ्घ्य समयं यस्याः प्रेयानन्योपभोगवान् ।

भोग लक्ष्माङ्कितः प्रातरागच्छेत्खण्डिता हि सा ।

एषा तु रोषनिःश्वास तूष्णीम्भावादिभाग्यभवेत् ।। ७६ ।।

**अनुवाद**—खण्डिता—संकेत समय का अतिक्रमण कर अन्य नायिका का उपभोग भोग चिन्ह से चिन्हित प्रातःकाल जिस नायिका के पास नायक आता है—वह खण्डिता नायिका है । वह क्रोध दीर्घ निःश्वास त्याग, मौनभाव का अवलम्बन इत्यादि चेष्टा परायण होती है । इति ।। ७६ ।।

"गोकुलकुलजरतीनां परुषा वागपि यथा प्रमोदयति ।
स्तुतिरपिमहामुनीनामवनतशिरसां सखे ! न तथा ॥" इति ।

गोकुलेति । अत्र किञ्चिद्रसान्तरमिश्रितवत्सलरतिकृतोऽयमनादरः कृष्णेनादरत्वेनैवाङ्गीकृतः ॥

यथाह—"नाथेति परुषवचनं प्रियेति दासेत्यनुग्रहो यत्र ।
तद्दाम्पत्यमतोऽन्यन्नारी रज्जुः पशुः पुरुषः ॥" इति ।

नाथेति । अत्रादादरः स्पष्ट एव, दासेत्यनुग्रहो यत्रेत्युक्तेः ॥

यथा वा कस्यापि—"पर्यङ्कस्थितिरेव यत्र भवति प्रत्युद्गमप्रक्रिया
रे शब्दोऽपि भवत्पदप्रतिनिधिर्यत्र प्रसङ्गोदितः ।
चेतस्तुष्यति यत्र लाभत इव द्रव्यस्य भूरिव्यया-
दद्वैतप्रतिपादकाय सुहृदोः स्नेहाय तस्मै नमः ॥" इति ।

पर्यङ्कस्थितिरिति । स्पष्टमेतत् ॥

यथा वा—तावन्मनो मदीयं शङ्काकुलमेव देवि ! दासेति ।
तव मृदु वचो न यावन्मानमनन्तर्गतं वदति ॥ २७ ॥

तावदिति । अनुनीतामपि मानवतीमन्तर्निगूढमानतया अत्यादरवतीं प्रति रसिकशिरोमणिराह

---

श्रीरूप गोस्वामि पाद ने भी कहा है ।

**श्लोकार्थ**—हे सखे ! व्रज वंश की वृद्धा गोपियों के तो कठोर वचन भी श्रीकृष्ण को जैसे प्या लगते हैं वैसे सिर झुकाकर महामुनियों द्वारा की गई स्तुति भी उन्हें अच्छी नहीं लगती है । इति ।

**टीकानुवाद**—इसमें कुछ दूसरे रस का भी सम्मिश्रण है । साथ ही वत्सल रस तो है ही । इ द्वारा सम्पादित अनादर स्पष्ट है । परन्तु श्रीकृष्ण ने इस अनादर को भी आदर से विशेष स्वीकार किया है उन्हीं (श्रीरूप गो० पाद) का वचन है—

**श्लोकार्थ**—गाढ़ प्रेम के प्रसङ्ग में अपने प्रेमी को नाथ ! आदि कहना कठोर वचन गिना जा है । और प्रिय-दास आदि कहना महान् अनुग्रह । यही दाम्पत्य (रस) है । इसके अतिरिक्त तो स्त्री र और पुरुष पशु ही है ।

**टीकानुवाद**—यहाँ अनादर स्पष्ट है जो 'दासेन्य . ' उस उक्ति से कहा है । इसी प्रसङ्ग एक और कवि का भी उदाहरण है—

**श्लोकार्थ**—लोक में उपचार देखा जाता है कि अपने से बड़े के आने पर, उनको उठकर अभ् त्थान दिया जाता (खड़ा होना होता) है । परन्तु स्नेह की पद्धति इससे विपरीत है । इस में तो अप प्रियतम के आने पर बैठे रहना ही अभ्युत्थान है । और भवत् (आप) आदि आदरणीय पदों का प्रतिनि रे ! शब्द गिना जाता है । अर्थात् बात-चीत के प्रसङ्ग में आप की जगह रे ! कहना अच्छा लगता है और अपनी रक्षणीय वस्तु के अधिक मात्रा से व्यय हो जाने से चित्त उसी तरह प्रसन्न होता है जैसे कि वस्तु का अपूर्व लाभ हुआ हो । दो प्रेमियों के अद्वैत प्रतिपादक अर्थात् अभिन्न बना देनेवाले उस स्नेह हम नमस्कार करते हैं । इति । टीकानुवाद—स्पष्ट ही है । ग्रन्थकार का वचन है—

**श्लोकार्थ**—हे देवि ! तुम्हारे मुख जब तक 'दास' यह कोमल वचन मेरे प्रति नहीं निकलता तब तक मेरा मन शङ्का में ग्रस्त रहता है । शंका यह है कि (तुम्हारे) मन से मान (भली भाँति) अ तक दूर हुआ कि नहीं ॥ २७ ॥

तावन्मन इति । हे देवि ! यावद् 'दास' इति तव मृदु वचो मानमनन्तर्गतं हृद्गतं नेति न वदति, तावन्मदीयं मनः शङ्काकुलमेव । दासेत्युक्ति विना त्वत्कर्तृ कोऽयमादरः ममान्तःकरणे मानमेव व्यञ्जयतीत्यर्थः ।। २७ ।।

यथा वा—यावत्कुलव्रतं हर्त्तुं यतेऽहं त्वन्मना मुनेः ।
तावत्त्वं गोप हरताद्दूरतात्केलिकौशलम् ।। २८ ।।

यावदिति । स्पष्टमेतत् ।। २८ ।।

लीलालङ्कृतकाननश्चिरमसौ मात्रादिसम्माननः
किञ्चित्पिञ्जरिताननश्चभवतीमेति त्वदेकाननः ।
तत् किं तापकृशा सरोजसदृशा कर्णस्पृशा द्राग् दृशा
दूरादेव मृषाद्रियन् सखिदृशां भङ्गीः कुरङ्गीदृशाम् ।। २९ ।।

कदाचित्काचिच्चतुरसहचरी कथमपि सायं श्रीवृन्दावनात् व्रजाभिमुखं दयितं दूरादेव दर्शयन्ती मनागात्मनस्तदिङ्गितज्ञतामपि व्यञ्जयन्ती प्रियतमवनगमनचिरविरहागाधासाधारणबाधापरवशतया कृशाङ्गीं

---

**टीकानुवाद**—प्रेमी नायक ने अपनी मानवती नायिका को अनुनय विनय से मना भी लिया परन्तु उसके द्वारा प्राप्त अति आदर को देखकर ऐसो प्रतीत हुई कि इसके मन में अभी मान छिपा है । इस दशा में रसिक शिरोमणि नायक का वचन है हे देवि ! जब तक 'दास' ! यह कोमल वचन तुम्हारी वाणी से प्रकट नहीं होता, तब तक तुम्हारे मन में मान अभी (शेष) है कि नहीं—इसका निश्चय न हो सकने से मेरा मन शंका ग्रस्त ही है । अर्थात् दास इस उक्ति के बिना तुम्हारे द्वारा किया गया यह आदर मेरे अन्तः-करण में मान को ही व्यञ्जित कर रहा है । इति ।। २७ ।।

यह पद्य ग्रन्थकार का है । प्रेमपत्तन में अनाचार ही आचार है—वे इसके प्रकाशन में इसे उद्धृत कर रहे हैं । टीका में उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा है । अभिप्राय यह प्रतीत होता है, कोई प्रेयसी नायिका अपने प्रेष्ठ नायक के प्रति कह रही है ।

**श्लोकार्थ २८**—जब तक कि मैं तुम्हें तुम्हारे कुल व्रत से च्युत करने के लिये प्रयत्न करती हूँ, हे गोप ! तभी तक तुम अपने कुल व्रत अर्थात् (जितेन्द्रियता अथवा गोपालन आदि) में लगे रह सकते हो, फिर तो भरत मुनि द्वारा प्रदर्शित केलि कौशल से मेरे ही मन का हरण करोगे । इति ।। २८ ।। इसमें यथा तथा अनादर ही आदर है, इसका दिग्दर्शन कराया गया है । विद्वान पाठक इस पर विचार करें ।

यह पद्य २९ ग्रन्थकार का है । श्रीकृष्ण भगवान् को दूर से आते देखकर उनके दर्शन के लिये उत्कण्ठिता अपनी प्रिय सखी श्रीराधिकाजी के प्रति कहती है ।

**श्लोकार्थ**—सखि ! देखो, श्रीकृष्ण अपनी लीलाओं से वन को शोभित करते हुए और बहुत देर के बाद वन से आने के कारण माता आदि के द्वारा सम्मान (लालन) को प्राप्त कर रहे है । उनका मुख कुछ मुरझाया सा प्रतीत होता है । उनका जीवन एकमात्र आप ही हो वे आप ही के पास आ रहे हैं । आप वियोग ताप से क्यों दुर्बल हो रही हो । कमल के समान उनके नेत्र हैं । वे इतने विशाल हैं कि कानों तक फैले हुए हैं अर्थात् कर्णायत हैं । हिरनियों के से नेत्रवाली अन्य प्रेयसियों की नेत्र भङ्गियों को दूर से झूठ-मूठ आदर देते हुए आपके समीप ही आ रहे हैं ।। २९ ।।

**टीकानुवाद**—एक समय एक चतुर सहचरी ने किसी प्रकार सायंकाल वृन्दावन से व्रज की ओर आते हुए प्रियतम को दूर से दिखाया और कुछ कुछ अपने विषय की उनकी चेष्टाओं को भी व्यक्त किया—श्रीराधारानी उस समय अपने प्रियतम के वन-गमन सम्बन्धी दीर्घ कालिक वियोग से अगाध और

श्रीराधां शनैः समाश्वासयति—लीलेति । पद्येऽस्मिन्नुत्तरार्द्धेऽपि एकदेशस्थितस्यावधारणस्यार्थचमत्कार-समर्थनार्थं दशधोपयोजनमनुसन्धेयम् । हे सखि ! असौ भवतीमेव एत्येव तत्तापकृशैव किमिति सम्बन्धः । तत्र सखीति सम्बुद्धया मिथः प्रीतिपात्रत्वं ध्वनितम् । ततस्त्वत्पुरतस्तथ्यमेव कथयामीत्यनुध्वनिः । तद् मम वचः सविश्रम्भमाकर्णयेति प्रत्यनुध्वनिः । असौ व्रजनवयुवराज इत्यंगुल्या निर्दिशति । भवतीमेव नेतरां प्रति, त्वामित्यनुक्त्वा भवतीमिति सादरोक्तिस्तस्याः प्रेमवयःशीलरूपलावण्यौदार्यचातुर्य्याद्यनन्तकल्याण-गुणसम्पन्नतां व्यञ्जयति । एत्येव न संशयः, एतीति वर्तमानप्रयोगस्तु प्रियतमसङ्गमस्यातिशयसामीप्यं व्यञ्जयति, "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वेति" स्मरणात् । ततस्तापेन विरहजेन त्वं कृशैव न प्रसादविकस-द्वदना किं कथमिति प्रश्नान्ते वाक्यसमाप्तिः । असीति क्रियापदमाक्षेपलब्धं बोद्ध्यम् । भवतीमेत्येवेत्यत्र हेतुगर्भं विशेषणम्—यतस्त्वदेकाननस्त्वमेव एका, एकं मुख्यमद्वितीयं वा अननं यस्येति, त्वदेकजीवनत्वा-दित्यर्थः । तत्र स्फुटमेवानुभावं दर्शयन्ती आह—किञ्चित्पिञ्जरिताननं इति । चकारः पूर्वोक्तविशेषण-समुच्चयार्थः । किञ्चिन्मनाक् पिञ्जरितं पीतत्वं प्राप्तमाननं यस्य सः, त्वद्विरहेणैवेत्यभिप्रायः । नन्वेवं चेत्तर्हि मामपास्य अनुदिनमसौ किमिति वनमेव यातीत्यपेक्षायां पुनर्विशिनष्टि—लीलालंकृतकाननं इति । चिरं बहुकालं लीलाभिः परमाद्भुतानन्तविविधमधुरकेलिभिरलङ्कृतं सद्यः समुदयद्दलकिसलयांकुरकुसुमफल-

---

असाधारण पीड़ा के पराधीन थीं । उनका शरीर दुर्बल हो रहा था—उस समय पूर्वोक्त प्रकार (आगमन) का वर्णन करती हुई वह सखी उन्हें सान्त्वना देने लगी । इस पद्य के उत्तरार्ध में भी एक ही जगह प्रयुक्त निश्चयार्थक 'एवकार' के चमत्कार का समर्थन करने के लिये उसका दश बार उपयोग किया गया है अतएव अनुवाद करते समय इस बात को नहीं भूलना चाहिये । हे सखि ! वे श्यामसुन्दर आपके पास ही आ रहे हैं । तब आप अब तक क्यों विरह में कृश ही हो रही हो । यह सम्बन्ध है । इसमें सखि ! सम्बोधन के द्वारा आपस में प्रीति की पात्रता ध्वनित होती है । इससे यह बात भी स्पष्ट हो गई कि तुम्हारे सामने सत्य ही कह रही हूँ यह अनुध्वनि हुई ।

इसलिये मेरे वचन को आप विश्वास पूर्वक सुनें यह इसमें प्रत्यनुध्वनि हुई । 'असौ' से यह व्रज नव युवराज है (उनकी ओर) इस प्रकार अंगुली से निर्देश करती हैं । आप ही के पास आ रहे हैं अन्या (दूसरी) के पास नहीं । यहाँ 'त्वाम्' ऐसा न कहकर 'भवतीम' यह कहना सखी की आदर पूर्विका उक्ति है, और उसके प्रेम, वय, शील, रूप, लावण्य, औदार्य और चातुर्य आदि अनन्त कल्याण गुणों से पूर्णता व्यक्त होती है । आ ही रहे हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है । यहाँ 'एति' यह क्रिया पद वर्तमान काल में प्रयुक्त हुआ है, इससे यह व्यक्त होता है कि अब प्रियतम मिलन अत्यन्त समीप है । 'व्याकरण का नियम है जो वर्तमान के समीप हो वह वर्तमान के समान ही गिना जाता है । तब ऐसी परिस्थिति में आप वियोग के ताप से कृश क्यों हो रही हो । प्रसन्नता से आपका मुख क्यों विकसित नहीं हो रहा है ? इस प्रकार के प्रश्न के अन्त में वाक्य की समाप्ति हुई । 'असि' यहाँ यह क्रिया पद वाक्य संगति के लिये ऊपर से जोड़ना चाहिये । आपके ही पास और आ ही रहे हैं । इन पद्यों के अगले विशेषण हेतु गर्भ हैं, अर्थात् क्योंकि आप ही के पास आ रहे हैं इसका कारण बता रहे हैं । क्योंकि तुम ही श्रीकृष्ण का एक मात्र जीवन हो (इसलिये तुम्हारे पास आ रहे हैं) इस प्रसंग में स्पष्ट ही अनुभव को बताती हुई कहती है—इसलिये उनका मुख पीला पड़ा हुआ है । यहाँ का 'चकार' पूर्वोक्त विशेषण का संग्राहक है । उनके मुख पर पीतिमा छा गई है यह तुम्हारे ही विरह का फल हुआ है । ऐसा अभिप्राय है । यदि श्रीराधा रानी की तरफ से यह प्रश्न हो कि यदि ऐसी बात है तो मेरे को छोड़ प्रतिदिन बन ही में क्यों जाते हैं ? इसके उत्तर में अन्य विशेषण दिया जाता है । 'लीला.......' बहुत समय तक परम अद्भुत, अनन्त और विविध प्रकार की अपनी लीला रूप मधुर क्रीड़ाओं द्वारा श्रीवृन्दावन को अलंकृत करने के लिये ही जाते हैं । उनके वहाँ (वन में) प्रवेश से वृक्षावलि

भरावनतविटपलताविटपिभि: तथा तदमुदितमृदुनदच्चातकचकोरशुकपिकादिभि: पतत्रिभि:, तथा अरुण-तरचरणसरसिजसंसर्गसमसमयमेव समुदयदंकुरनिकरहरिण्याध्वधरण्या, हरिण्यादिस्वदयितानुगैर्विविध-हरिणादिभिश्च भूषणैरिव प्रसाधितं काननं श्रीवृन्दावनं येन स तथेति । निज गोगणजीवातुकत्वा-त्परमप्रीतिविषयस्य श्रीवृन्दावनस्य तथा शोभावितरणं श्रीवृन्दावनेन्द्रस्य नवजलधरसुन्दरस्य श्रीवृन्दावनचन्द्रस्य तस्यावश्यकमिति प्रत्यहं तत्रोदयमेतीति ध्वनि:, तदुदयं विना तदसिद्धे: । ननु तर्हि तूर्णं किमिति नायातीत्यत आह—चिरं मात्रादिसम्मानन इति । चिरपदं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र योज्यम् । वत्सले मातुरेव प्राधान्याद् मात्रादीन् यशोदानन्दादीन् व्रजौकस: प्रेम्णा प्रत्युद्गतान् सम्यग् यथो-चितं मानयति सत्करोतीति तथा । इति शीलविनयादिगुणनिधेस्तस्य गुरुजनसत्कारस्यावश्यकत्वात् तत्र तत्र तद्रचयन्मन्दमन्दमेवायातीति ध्वनितम् । ननु तर्हि इतस्तत: समागता लतारन्ध्रनिहितनयनास्ता: सादरं किमवलोकयन्तीत्यपेक्षायां विशेषणान्तरपयसा तदीर्ष्यापावकं निर्वापयति—कुरङ्गीदृशामिति । कुरङ्गीनां दृश इव दृशो यासां तास्तासामपि अत्र कुरङ्गीदृशामिति पदं सौन्दर्यातिशयाभिव्यञ्जकत्वेन तासां स्तुति-परमपि तन्नयनो: कुरङ्गीदृगुपमेयत्वेन चातुर्यांशराहित्यमभिव्यज्य आत्मन: प्रकरणोपयोगि तन्निन्दापरमत्व-मेवाभिव्यञ्जयति, कुरङ्गीनां पशुविशेषत्वात् । तासामपि दृशां नेत्राणां भङ्गीरवलोकनकलाकौशलानि शोणप्रान्ततया विशालतया च सरोजसदृशा कमलतुल्यया न तु त्वदनुभूतखेलननवखञ्जरीटसदृशया कर्णस्पृशा

---

तुरन्त नये-नये अंकुर पत्र शाखा प्रशाखा पुष्प फल, लता आदियों के भार से खिल उठते हैं. मानो प्रणाम की मुद्रा से झुक जाते हैं एवं प्रसन्न मुद्रा में चातक चकोर शुक-पिक आदि पक्षी कोमल (मधुर) आलाप करके उस वन को गुञ्जरित कर देते हैं । हरिणादियों की क्रीड़ास्थली वहां की भूमि में भगवान् श्रीकृष्ण के अति लालिमायुक्त (अरुण) चरण-कमल के सम्पर्क से तुरन्त ही मानो प्रेमांकुरों के समान अंकुरित हो उठती है, एवं हरिणी आदि अपने प्रिय परिवार के साथ भूषण स्थानीय हरिण समूह आदि से वह वृन्दावन अलंकृत हो जाता है । क्योंकि श्रीवृन्दावन गो आदि पशु समूह का जीवन होने के कारण भगवान् के लिये परम प्रीति का विषय है, अतएव वृन्दावनेन्द्र, नवीन मेघ के समान सुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र के द्वारा उसको शोभा प्रदान अत्यन्त आवश्यक हैं, इसी हेतु प्रतिदिन वहाँ पधारते हैं यह इसमें ध्वनि है, वहाँ न पधारें तो शोभा नहीं हो सकती । यदि जिज्ञासा हो कि वहाँ से शीघ्र क्यों नहीं आते ? इसका समाधान यह है कि माता आदि का सम्मान करने में कुछ देर लग जाती है । 'चिर' पद देहली दीप न्याय से दोनों जगह ही लगा देना चाहिये । वत्सल रस में माता की ही प्रधानता है, इसलिये 'मात्रादीन्' में पहले माता का वर्णन आया है—अर्थात् यशोदा नन्द आदि व्रजवासियों को, जो प्रेम पूर्वक सामने आते हैं उनका भगवान् भली भाँति सत्कार करते हैं । शील विनय आदि गुणों के निधि भगवान् के लिये गुरुजनों का सत्कार अत्यन्त आवश्यक है इसलिये वहाँ-वहाँ चौपालों पर मिलनेवाले उन सब लोगों का सम्मान करते हुए धीरे-धीरे ही वे यहाँ आते हैं यह ध्वनित होता है । इसके अतिरिक्त और भी जिज्ञासा होती है कि—तो फिर वे इधर उधर से आईं लता के छिद्रों में आँखें लगाकर बैठी हुई अन्य व्यक्तियों को बड़े आदर से क्यों देखते हैं ? इसका समाधान दूसरे विशेषण रूप जल से उनकी (श्रीराधा की) इस ईर्षा रूप अग्नि को शान्त करने के लिये दिया है । 'कुरङ्गीदृशाम् .....' हरिणियों के नेत्रों के समान जिनके नेत्र है यह उसका अर्थ है । यहाँ यह पद यद्यपि उनकी परम सुन्दरता का अभिव्यञ्जक होकर उनकी प्रशंसा में प्रयुक्त हुआ है, तथापि उनके नेत्रों को हरिणी के नेत्रों से उपमित करके चतुराई के अंश से भी रहित अभिव्यक्त किया गया है और इससे अपने प्रकृतोपयोगी उनकी निन्दा में तात्पर्य व्यक्त होता है क्योंकि आखिर हरिणी पशु विशेष ही तो है । उनके भी नेत्रों की भाँति अर्थात् दर्शन कला की चातुरी है । उनके नेत्रों के कोने लालिमा से युक्त, विशाल एवं कमल सदृश हैं । किन्तु आपके नेत्रों में अनुभूत क्रीड़ा परायण नये खञ्जरीट

कर्णौ स्पृशतीति तथा तया निजकर्णस्पृशैव न त्वद्वदनस्पृशा, एवंविशेषणविशिष्टया दृशैव न मनसा, द्रागेव न चिरम्, दूरादेव नान्तिकात् मृषैव न तथ्यतया, आद्रियन्नादरमात्रस्यैव विषयीकुर्वन्, न स्पृहयन्निति दशधावधारणोपयोगः। अतस्त्वं प्रसादसुमुखी प्रसाधनप्रासादमासाद्य प्रसाधनसाधनाय मामाज्ञापयेति ध्वनिः। पद्येऽस्मिन् पूर्वार्द्धे प्रेम्णः प्रच्छादनेनातिवृद्धये जातिप्रमाणाभ्यां परमोन्नतानुरागालङ्कृतायास्तस्यास्तत एव तादृग्विधानुरागालङ्कृतस्य अचिरात्तदन्तिकगमनलालसानन्दितमनसोऽपि नेतुः श्रीनन्दनन्दनस्य सस्पृहमनवलोकनादिलक्षणोऽनादर एवादरः। पुनरुत्तरार्द्धे जातिप्रमाणाभ्यामुन्नतप्रणयवतीनामपि तासां प्रेम्णः प्रकाशनेनावृद्धये तत एव तादृग्विधप्रेमवतस्तदन्तिकागमनलालसालिङ्गितमनसोऽपि नेतुः श्रीनन्दनन्दनस्य सादरमवलोकनलक्षणः परमादरोऽनादर एवेत्यन्वयव्यतिरेकात्मकत्वात्पद्यस्य प्रकरणान्ते लिखनमनुसन्धेयम्।

"बहु वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वञ्च।
या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः॥" इति भरतोक्तेः।

"यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्। मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते। स्त्रीणां न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे॥" इति भागवते श्रीभगवदुक्तेः, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"। इति गीतायां श्रीभगवदुक्तेश्च, सख्याः सख्यरतिपोषकोऽयमाविर्मधुरतिकृतो विपर्ययः॥

---

की सदृशता और कर्णायतता कहाँ से आवेगी। उनके नेत्र अपने ही कानों को स्पर्श करनेवाले हैं आपके मुख का स्पर्श करनेवाले नहीं ऐसे विशेषण से युक्त 'दृशादि' पद में 'एव' के योग से चमत्कार बताते हैं— दृष्टि से ही वे देखते हैं न कि मन से, शीघ्र ही देखते हैं न कि देर तक, दूर से ही देखते हैं न कि समीप से, झूठमूठ ही न कि यथार्थ रूप से, केवल आदर का विषय बनाकर ही न कि स्पृहा पूर्वक। इस तरह यहाँ उस एक 'एव' शब्द का दस प्रकार से निश्चय करने में उपयोग हुआ है। इसलिये आप प्रसन्नता पूर्वक शृङ्गार कुञ्ज में पधारो और मुझे शृङ्गार रचना के लिये आज्ञा प्रदान करो यह ध्वनि है। इस पद्य के पूर्वार्द्ध में प्रेम को छिपाया गया है। इसका कारण उसकी अति वृद्धि है। प्रेम पदार्थ जाति और प्रमाण से परम उन्नत देखा गया है। श्रीराधारानी ऐसे परम उत्कृष्ट प्रेम से सुशोभित हैं और उसी प्रकार अनुराग से अलंकृत एवं बहुत शीघ्र उनके समीप आने की लालसा में प्रसन्न चित्त श्रीनन्दनन्दन भी हैं। तथापि अति स्पृहा पूर्वक उनको दर्शन न देना अनादर ही यहाँ आदर रूप में विवक्षित है। फिर उत्तरार्द्ध में जाति प्रमाण से उन्नत प्रीतिवाली भी उन अन्य प्रेयसियों द्वारा प्रेम के प्रकाशन करने पर भी, उसकी वैसी वृद्धि प्रतीत नहीं होती, अतएव उनके समीप आने की लालसा से युक्त वैसे ही प्रेमी श्रीनन्दनन्दन द्वारा आदर पूर्वक अवलोकन रूप परम आदर भी अनादर ही प्रतीत हुआ, इस तरह अन्वय व्यतिरेक से पद्य के अन्तिम प्रकरण में यह बात समझनी चाहिये।

**श्लोकार्थ**—भरत मुनि का यह कहना है – कि प्रेम को बहुत छिपाया जाता है अतएव छिपकर प्रेमी से मिलने की व्यवस्था रहती है क्योंकि जो परस्पर की दुर्लभता है वही प्रेम की उन्नत स्थिति है।

श्रीमद्भागवत श्लोकार्थ—१०-४७ ३४-३५—गोपियो! इसमें सन्देह नहीं कि मैं तुम्हारे नयनों का ध्रुवतारा हूँ। जीवन सर्वस्व हूँ। किन्तु मैं जो तुमसे इतना दूर रहता हूँ, उसका कारण है। वह यही— कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान कर सको, शरीर से दूर रहने पर भी मन से तुम मेरी सन्निधि का अनुभव करो, अपना मन मेरे पास रखो॥ ३४॥ क्योंकि स्त्रियों और अन्यान्य प्रेमियों का चित्त अपने परदेशी प्रियतम में जितना निश्चल भाव से लगा रहता है, उतना आँखों के सामने, पास रहनेवाले प्रियतम में नहीं लगता॥ ३५॥ भगवान् ने श्रीमुख से गीता में भी कहा है—जो साधक जिस भाव से मुझे प्रपन्न होता है

यत्रासन्तोष एव सन्तोषः ।

यथा तृतीये ब्रह्मणोक्तम्—३-१५-४२—

"अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः स्वानां धियां विरचितं बहु सौष्ठवाढ्यम् ।
मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं नेमुर्निरीक्ष्य नवितृप्तदृशो मुदा कैः ॥" इति ।

अत्रोपसृष्टमिति । अत्रासन्तोषः स्पष्ट एव शान्तिरतिकृतः, अवितृप्तदृशामित्युक्तेः ॥

यथा दशमे श्रीशुकः—"सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधु वार्ता ॥" इति ।

सतामयमिति । अत्राप्यसन्तोषः स्पष्ट एव, प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्येत्युक्तेः ॥

यथा—"निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥" इति ।

---

मैं उसी भाव से उसको अङ्गीकार करता हूं। इन भागवत् व गीता की दोनों उक्तियों से स्पष्ट होता है कि सख्य रति और मधुर रति आदि प्रसंगों में ऐसे विपर्यय देखे जाते हैं। शब्दार्थ यह है कि सखी की सख्य रति के पोषक रूप से प्रकट हुआ यह मधुर रतिकृत विपर्यय है। इति।

**मूलानुवाद**—उस प्रेमपत्तन में असन्तोष ने संतोष का स्थान ग्रहण किया। जैसे श्रीमद्भागवत् ३-१५-४२ में ब्रह्मा ने कहा—

**श्लोकार्थ**—भगवान् का श्रीविग्रह बड़ा ही सौन्दर्यशाली था। उसे देखकर भक्तों के मन में ऐसा वितर्क होता था कि इसके सामने लक्ष्मीजी का सौन्दर्याभिमान भी गलित हो गया है। ब्रह्माजी कहते हैं—देवताओ ! इस प्रकार मेरे, महादेवजी और तुम्हारे लिये परम सुन्दर विग्रह धारण करनेवाले श्रीहरि को देखकर सनकादि मुनीश्वरों ने उनको सिर झुकाकर प्रणाम किया। उस समय उनकी अद्भुत छवि को निहारते-निहारते उनके नेत्र तृप्त नहीं होते थे। इति। इस प्रसंग में असन्तोष स्पष्ट ही है और वह शान्ति रतिकृत है। क्योंकि ऐसा वर्णन श्रीशुकदेवजी की उक्ति में १०-१३-२ में आया है।

**श्लोकार्थ**—रसिक सन्तों की वाणी, कान और हृदय भगवान् की लीला के गान, श्रवण और चिन्तन के लिये ही होते हैं—उनका यह स्वभाव ही होता है कि वे प्रतिक्षण भगवान् की लीलाओं को अपूर्व रसमयी और नित्य नूतन अनुभव करते रहें—ठीक वैसे ही जैसे लम्पट पुरुषों को स्त्रियों की चर्चा में नया-नया रस जान पड़ता है। इति। यहाँ भी प्रतिक्षण ऐसा कहा जाने के कारण असन्तोष स्पष्ट ही है। ऐसे ही श्रीशुक मुनि का १०-१-४ में वचन है—

**श्लोकार्थ**—जिनकी तृष्णा की प्यास सदा के लिये शान्त हो चुकी है, वे जीवन्मुक्त महापुरुष जिसका पूर्ण प्रेम से अतृप्त रहकर गान किया करते हैं, मुमुक्षु जनों के किये जो भवरोग का रामबाण औषध है तथा विषयी लोगों के लिये उनके कान और मन को परम आह्लाद देनेवाला है, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के ऐसे सुन्दर सुखद, रसीले गुणानुवाद से पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्य के अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो विमुख हो जाय उससे प्रीति न करे ? टि—(श्रीगोस्वामीजी ने मानस में कहा है—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष तिन जाना नाहीं ॥

इस श्लोक का पद— हरि यश कहत सुनत जे अघाहीं।
आत्मघाती-हिंसक ते गनिये कह्यो भागवत् माहीं ॥

तथा च तत्रैव परीक्षितो निवृत्ततर्षैरित्युक्तवान् । अत्र स्वामिचरणैः "न कस्याप्यलं प्रत्ययः" इति व्याख्यातत्वादसन्तोषः स्फुटः, स च दास्यरतिकृतः ।।

**यथाह सूतः—"यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्यांघ्रियुगं नवं नवम् ।**

**पदे पदे का विरमेत तत्पदात् चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् ।।" इति ।**

यद्यपीति । अत्र समञ्जसरतिकृतोऽसन्तोषः स्पष्ट एव ।

**तथा शौनकः—"वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे ।**

**यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ।।" इति ।**

वयं त्विति । अत्रापि दास्यरतिकृतोऽसन्तोषः स्फुट एव ।

**तृतीयेऽपि शौनकः—"ता नः कीर्त्तय भद्रं ते कोर्त्तन्योदारकर्मणः ।**

**रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलाऽमृतं पिबन् ।।" इति ।**

ता न इति । अत्र प्रकट एवासन्तोषः । स च दास्यरतिकृत एव । एतत्पद्यषट्कं श्रीधरस्वामिचरणै व्याख्यातत्वान्न व्याख्यातम् ।।

**यथा कस्यचित्—"श्रीकृष्ण तव लावण्यं निजे वा स्तौमि लोचने ।**

**यत् प्रतिक्षणसंवर्द्धि मे तदास्थानदायिनी ।।" इति ।**

---

जिनकी सर्व ऐषणा निवरीं आतमतुष्ट निर्गुण में ।
ते हूँ परवश सुनत कहत अरु रस लाहैं हरि गुण में ।।
भवरुज भीत चहैं यह औषध करें रोग की हानि ।
निज हित हरि यश कथन श्रवण है अखिल रसन की खानि ।। इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ राजर्षि परीक्षित ने 'निवृत्त .....' से ऐसा कहा है। और श्रीधर स्वामी चरणों ने इसकी व्याख्या में कहा है ' 'न कस्या .....' श्रीमद्भागवत चरित्र के श्रवण करने में अलम् बुद्धि अर्थात् 'बहुत सुन लिया अब आगे नहीं सुनेंगे' ऐसा भाव किसी भी प्रेमी को कभी नहीं होता । इस व्याख्या से यहाँ असन्तोष स्पष्ट ही है । जो दास्य रति कृत है । ऐसे ही सूतजी की उक्ति भा० १-११-१३ में है—

**श्लोकार्थ**—यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण एकान्त में सर्वदा उनके पास रहते थे, तथापि उनके चरण कमल उन्हें पद-पद पर नये-नये जान पड़ते । भला स्वभाव से ही चंचल लक्ष्मी जिन्हें एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ती, उनकी सन्निधि से किस स्त्री की तृप्ति हो सकती है । इति । टीकानुवाद—यहाँ समञ्जस रति द्वारा उत्पन्न असन्तोष स्फुट ही है । इति । जैसे कि शौनक की उक्ति भा० १-१-१९ में है—

**श्लोकार्थ**—पुण्यकीर्ति भगवान् की लीलाओं के सुनने से हमें कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि रसज्ञ श्रोताओं को पद-पद पर भगवान् की लीला में नये-नये रस का अनुभव होता है । इति टीकानुवाद—यहाँ भी दास्य रतिकृत असन्तोष स्पष्ट ही है । इति ।

ऐसे ही शौनक आदि का भा० ३-२०-६ में वचन है—

**श्लोकार्थ**— सूतजी ! आपका मंगल हो, आप हमें भगवान् की वे पवित्र कथाएँ सुनाइये । प्रभु के उदार चरित्र तो कीर्तन करने योग्य होते हैं । भला ऐसा कौन रसिक होगा, जो श्रीहरि के लीलामृत पान करते-करते तृप्त हो जाँय । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ भी असन्तोष प्रकट है जो दास्य रति कृत है । पूर्वोक्त ६ पद्यों की व्याख्या श्रीधर स्वामी चरणों ने की हुई है इसलिये हमने नहीं की है । ऐसे किसी अन्य कवि का भी वचन है—

श्रीकृष्णेति। कश्चित्परमप्रेमवान् श्रीकृष्णं पश्यन्नतृप्तस्तमेवाह अत्र प्रतिक्षणसंवर्द्धिलावण्यपान-कृतोरपि लोचनयोः सर्वलावण्यसमावेशेप्यतृप्तिः प्रकट एवाऽसंतोषः॥

यथा वा—मम कृष्णातटसन्ततसङ्गतकृष्णाङ्गसङ्गमावाप्तेः।
तदनुविचिन्तनकृष्णं मनः सतृष्णं सदा तदपि॥ ३०॥

ममेति। कृष्णा यमुना तटास्तटे सन्ततं संगतस्य मिलितस्य कृष्णस्य अङ्गसंगस्य अवाप्तिर्यस्या-स्तस्या मम मनस्तदपि सदा दर्शनाय सतृष्णमेव कथंभूतं मनः—तस्यैव श्रीकृष्णस्यैव अनु निरन्तरं यद्विचिन्तनं तेन कृष्णं श्यामं भृङ्गीकीटन्यायेन कृष्णाकारमेवेति भावः। इदं कस्याश्चित्प्रेमवत्या उद्धवं प्रति वाक्यम्॥ ३०॥

यत्राविनय एवविनयः।

यथा श्रीशुकः—"तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत्प्रीतिमावहन्॥" इति।

तां स्तन्यकाम इति। अत्र गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधदिति प्रकट एवाऽविनयः॥

तथा तत्रैव स एव—"उलूखलाङ्घ्रेरुपरिव्यवस्थितमर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम्
हैयङ्गवं चौर्य्यविशङ्कितेक्षणं निरीक्ष्य पश्चात्सुतमागमच्छनैः॥" इति।

---

श्लोकार्थ—हे श्रीकृष्ण! मैं आपके क्षण-क्षण में वर्धमान लावण्य की स्तुति करूँ कि अपने नेत्रों की। इस विषय का कोई निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ। टीकानुवाद—कोई परम प्रेमी श्रीकृष्ण भगवान् का दर्शन करते तृप्त नही हो रहा है—वह उनसे ही कहता है। यहाँ क्षण-क्षण में बढते हुए लावण्य का पान करने पर भी मेरे नेत्रों को समस्त लावण्य समावेश होने पर भी अतृप्ति ही है। यहाँ भी असन्तोष प्रकट ही है। इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार का कहना है—

श्लोकार्थ ३०—यमुना किनारे भगवान् श्रीकृष्ण के साथ मेरा नित्य ही संगम होता है, तो भी सदा ही उनका चिन्तन करता हुआ मेरा यह मन सदा ही उत्कण्ठित रहता है। इति॥ ३०॥

टीकानुवाद—कृष्ण शब्द का अर्थ यमुना है उसके किनारे सदा ही श्रीकृष्ण मुझे मिलते हैं और उनके अंग संग की मुझे प्राप्ति होती ही रहती है तथापि यह मेरा मन उनके दर्शन के लिये सतृष्ण (प्यासा) वना रहता है। क्योंकि श्रीकृष्ण का निरन्तर चिन्तन करते रहने के कारण भृङ्गी कीट न्याय से मेरा यह मन श्रीकृष्णाकार हो गया है। यह वाक्य किसी प्रेमवती का उद्धव के प्रति है॥ ३०॥

मूलानुवाद—उस प्रेमपत्तन में अविनय को ही विनय का स्थान मिला। श्रीशुकदेवजी का इस प्रसंग में वचन है—

श्लोकार्थ—१०-९-४—उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण स्तन पीने के लिये दही मथती हुई अपनी माता के पास आये। उन्होंने माता के हृदय में प्रेम और आनन्द को और भी बढ़ाते हुए दही की मथानी पकड़ ली तथा उन्हें मथने से रोक लिया। इति।

टीकानुवाद– यहाँ मथानी पकड़ कर निषेध किया यह स्पष्ट ही अविनय है। वहीं उस प्रसंग में फिर कहा है—

श्लोकार्थ—१०-९-८—इधर उधर ढूंढने पर पता चला कि श्रीकृष्ण एक उलटे हुए ऊखल पर खड़े हैं और छींके पर का माखन ले-लेकर बन्दरों को खूब लुटा रहे हैं। उन्हें यह भी डर है कि कहीं मेरी चोरी खुल न जाय, इसलिये चौकन्ने होकर चारों ओर ताकते जाते हैं। यह देखकर यशोदा रानी पीछे से

उलूखलाङ्घ्रिरिति । अत्र हैयङ्गवीनचौर्य्यं मर्कटेभ्यस्तद्दानञ्च धाष्टर्च लक्षणोऽविनय एव ॥

**पुनस्तत्रैव स एव—"संजातकोपः स्फुरितोरुणाधरं संदश्य दद्भिर्दधिमन्थभाजनम् ।**

**भित्वा मृषाश्रुर्द्दषदश्मना रहो जघास हैयङ्गवमन्तरङ्गतः ॥" इति ।**

संजातकोप इति । अत्रापि मातृविषयककोपदधिभाण्डस्फोटनाभ्यां प्रकट एवाविनयः । स च पद्यत्रयेऽपि कृष्णस्य मातृविषयक संभ्रमप्रेमकृतः प्रीतिमावहन्नित्युक्तत्वात् ॥

**यथोक्तं श्रीरूपगोस्वामिचकरणैः—"पत्नीं रत्ननिधेः परामुपहरन् पूरेण वाष्पाम्भसां**

**रज्यन्मंजुलकण्ठगर्भलुलितस्तोत्राक्षरोपक्रमः ।**

**चुम्बन् फुल्लकदम्बडम्बरतलामङ्गैः समीक्ष्याच्युतं**

**स्तब्धोप्यभ्यधिकां श्रियं प्रणमतां वृन्दाद्दधारोद्धवः ॥"इति ।**

पत्नीमिति । अत्राकृतस्य सम्यक्स्तवस्य तथा जातस्तम्भतयाऽकृतनतेरुद्धवस्य अविनयः स्फुट एव, तथापि अश्रुपुलकस्वरभेदस्तम्भानामुद्दीप्तत्वात् प्रणमतां विनयवतामपि भक्तानां वृन्दात् श्रियं शोभां दधारेति दास्यरतिकृतः स्फुट एवाविनयः ॥

**यथा वा—विधृतमन्थनदण्डममुञ्चतः सदरसादरविस्मितवीक्षितैः ।**

---

धीरे-धीरे उनके पास आ पहुँची । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ माखन की चोरी और माखन का वानरों को दान यह धृष्टता रूप अविनय ही तो है । इति । उसी प्रसंग में फिर और भी कहा है ।

**श्लोकार्थ**—१०-९-६—इससे श्रीकृष्ण को कुछ क्रोध आ गया । उनके लाल होठ फड़कने लगे । उन्हें दाँतों से दबाकर श्रीकृष्ण ने पास ही पड़े हुए लोढ़े से दही का मटका फोड़ डाला, बनावटी आँसू आँखों में भर लिये और दूसरे घर में जाकर अकेले में बासी माखन खाने लगे । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ भी माता सम्बन्धी कोप और दही की बिलोवनी के फोड़ डालने से स्पष्ट ही अविनय है और वह ऊपर कहे तीनों पद्यों में श्रीकृष्ण सम्बन्ध से मातृ विषयक संभ्रम प्रेम कृत है, क्योंकि 'प्रीति ' ऐसा ऊपर श्लोक १०-९-४ में कहा गया है । इति ।

श्रीरूप गो० पादजी ने भी इसी विषय में कहा है—**श्लोकार्थ**—भ० र० सि–७१५ प० वि० द्व० ल० (किसी समय उद्धव व्रज में पधारे और श्रीकृष्ण के दर्शन से उनकी प्रेम दशा का वर्णन किया गया है) उनकी आँखों से आनन्दाश्रुओं की नदी सी बह रही थी, इससे उनकी विलक्षण शोभा हो रही थी । वे स्तुति का उपक्रम करना चाहते थे परन्तु (गद्गद वाणी के कारण प्रेमवश) कण्ठ रुँध गया था । रोमाञ्च के अतिशय के कारण वे फूले हुए कदम्ब समूह की तरह अच्युत भगवान् का दर्शन करके स्तब्ध हो रहे थे । उन्हें प्रमाण करने के लिये बहुत से व्रजवासी आये हुए थे परन्तु श्रीउद्धव (प्रेमवश) उनका प्रणाम आदि द्वारा सत्कार करने में समर्थ नहीं हो सके उनकी उस समय की यह शोभा विलक्षण ही थी । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ स्तुति का भली भाँति न करना और स्तम्भ आदि सात्विक भावों का उदय हो जाने से प्रणाम न करना श्रीउद्धवजी का स्पष्ट ही अविनय है, तो भी अश्रु पुलक स्वरभेद, स्तम्भ आदि के उद्दीप्त होने से विनीत भक्तों के समूह से उनकी शोभा बढ़ वई । यहाँ दास्य रति कृत अविनय स्फुट ही है । इति ।

ग्रन्थकार का अपना वचन है । श्लोकानुवाद ३१—यशोदा मैया दही मथ रही थीं । चपल कन्हैया ने आकर मथानी पकड़ ली और नहीं छोड़ी । साथ ही भय, आदर और विस्मय से (मैया को) देखने लगे ।

**जनकयोः कमनीयशिशोरभूदविनयो विनयादधिकप्रियः ॥ ३१ ॥**

विधृतेति । अत्र कृष्णस्याविनयः पित्रोर्वत्सलरतिकृतः ॥ ३१ ॥

**यथा वा—न दधि बिन्दुमितं मुषितं मया न मम सुन्दरि संवृणु कन्दुकम् ।**

**इति गृहीतकुचस्य शिशोरभूदविनयो विनयादतिसौख्यदः ॥ ३२ ॥**

न दधीति । अत्र शिशोस्तस्य तासां वा मिथोनिगूढरतिकृतोऽयमविनयः ॥ ३२ ॥

**यथा वा—रचितरूक्षिमसंभृतचक्षुषो रतिमतोः सदसज्जनसंसदि ।**

**मिलितयोः पिहितस्मितयोरभूदविनयो विनयादतिसौख्यदः ॥ ३३ ॥**

रचितेति । अत्र तु रचितो यो रूक्षिमा न तु साहजिकः, तेन संभृते पूर्णे चक्षुषी ययोस्तथा । सदसज्जनसंसदि सतामसतां च संसदि सभायां च मिलितयोरत एव विहितस्मितयोः प्रियाप्रिययोरविनयो मधुररतिकृतः विनयादपि सौख्यदोऽभूदिति ॥ ३३ ॥

**यत्रानलङ्कृतिरेवालङ्कृतिः ।**

**यथा दशमे—"काचिद् विपर्यग्धृतवस्त्रभूषणा विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापरा ।**

**कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा नाङ्क्त्वा द्वितीयं त्वपरा स्वलोचनम् ॥" इति ।**

काचिदिति । अत्र पुरवनितानां कृष्णविषयकरतिकृतेयमनलंकृतिः ॥

---

ऐसे सुन्दर बालक का यह अविनय माता-पिता को विनय से भी अधिक प्रिय लगा । इति ॥ ३१ ॥

**टीकानुवाद**—यहां श्रीकृष्ण का अविनय माता-पिता के वात्सल्य रस से उत्पन्न हुआ । इति ॥३१॥ ग्रन्थकार का और भी वचन है ।

**श्लोकार्थ** ३२—(किसी प्रेयसी गोपी का उपहास करते हुए कन्हैया न उससे कहा है) हे सुन्दरि ! मैंने तेरा एक बूंद भी दही नहीं चुराया है, इस पर तू मेरी गेंद को मत छिपा । ऐसा कहकर बाल कृष्ण का उरोज ग्रहण रूप यह अविनय-विनय की अपेक्षा अधिक सुखप्रद हुआ । इति । टीकानुवाद—यहाँ शिशु श्रीकृष्ण का अथवा गोप वधूटियों का परस्पर निगूढ़ रतिकृत अविनय है । इति ॥ ३२ ॥

ग्रन्थकार का फिर कथन है—श्लोकानुवाद ३३—परस्पर रागवान प्रिया-प्रियतम नेत्रों में एक प्रकार के रूखेपन की मुद्रा से सज्जनों और असज्जनों की सभा में मिले हुए आये, और मुस्कराने लगे । उनके इस अविनय ने विनय से भी अधिक सुख दिया । टीकानुवाद—यहाँ नेत्रों में रूखापन बनावटी है स्वाभाविक नहीं । उससे उनके नेत्र पूर्ण थे सज्जन एवं असज्जन भले बुरे लोगों की सभा में वे मिलित रूप में पधारे और हँसने लगे । यह प्रिया-प्रियतम का अविनय मधुर रति कृत है और विनय से भी अधिक सुखप्रद है । इति ॥ ३३ ॥

**मूलानुवाद**—उस प्रेम राज्य में अलङ्कार अर्थात् मण्डन का कोई महत्व नहीं है । वहाँ तो मुख्यतया प्रेम ही अलङ्कार है अलङ्कार-भूषण (गहनों) को कहते हैं और उनके द्वारा सजावट को अलकृति कहा गया है । इसलिये अनलंकृति को ही अलंकृति का स्थान मिला । जैसा कि भा० १०·४१-२५ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—किसी किसी ने जल्दी के कारण अपने वस्त्र और गहने उलटे पहन लिये । किसी ने भूल से कुंडल, ककन आदि जोड़े से पहने जानेवाले आभूषणों में से एक ही पहन कर चल पड़ी । कोई एक ही कान में पत्र नामक आभूषण कर पायी थी, तो किसी ने एक ही पाँव में पायजेब पहन रक्खा था । कोई एक ही आँख में अञ्जन आँज पायी थी और दूसरी में बिना आँजे ही चल दी ।

**टीकानुवाद**—यहाँ नगर निवासिनी स्त्रियों की श्रीकृष्ण विषयक रति के परिणाम द्वारा यह

पुनस्तत्रैव—"लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणा काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥" इति ।

लिम्पन्त्य इति । लिम्पन्त्योऽङ्गरागं कुर्वन्त्य इत्यर्थः । अत्र व्रजसुन्दरीणां मधुररतिकृतेयमनलंकृतिरलंकृतेरधिका ॥

तथा कस्यचित्—"साहजिकरूपवत्या वपुषि भवत्या विभूषणं भारः ।
सर्वाङ्गसौरभिन्या दमनकवत्याः किमालि कुसुमेन ॥" इति ।

साहजिकेति । अत्र स्फुट एव तयोर्विपर्ययः । स चार्थन्तरन्यासेन दृढीकृतः ॥

यथा वा साहित्यदर्पणकृतोदाहृतं पद्यम्—

"विदूरे केयूरं कुरु करयुगे रत्नवलयं न वा गुर्वी ग्रीवाभरणलतिकेयं किमनया ।
नवामेकामेकावलिमपि मयि त्वं न रचयेर्न पथ्यं नेपथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ ॥" इति।

विदूर इति । अत्र कान्तायाः प्रियविषयकमधुररतिकृतेयमनलङ्कृतिः ॥

यथा वा कस्यचित्—"वदने नववीटिकानुरागो नयने कज्जलमुज्ज्वलं दुकूलम् ।
इदमाभरणं विलासिनीनामितरद्भूषणमङ्गदूषणाय ॥" इति ।

वदन इति । स्पष्टार्थानलङ्कृतिरत्र ॥

यथा वा—यावकमम्बुजसुपदां हेमसुवपुषां च भूषणं हैमम् ।

---

अनलंकृति है । इति । फिर वैसा ही वचन भा० १०-२९-७ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—कोई-कोई गोपी अपने शरीर में अङ्गराग चन्दन और उबटन लगा रही थी और कुछ आँखों में अञ्जन लगा रही थीं । वे उन्हें छोड़कर तथा उलटे-पलटे वस्त्र पहन श्रीकृष्ण के पास चल पड़ीं । इति ।

**टीकानुवाद**—'लिम्पन्त्य' का अर्थ अङ्गराग (शरीर प्रसाधन—पौडर आदि) करती हुई—यहाँ व्रज सुन्दरियों की मधुर रति कृत अनलकृति अलकृति से भी अधिक (सुभग) है । इसी प्रसंग में किसी अन्य कवि का पद्य भी है—

**श्लोकार्थ**—(कोई प्रेमी कहता है) आप तो स्वभाव से ही सुन्दर हैं । यह भूषण तो आपके शरीर में एक बोझ है । जैसे दमनक नामक लता के सब अंग सुगन्धित हैं उसमें पुष्प द्वारा सुगन्ध पृथक नहीं होती (उसमें पुष्प आता ही नहीं) ।

**टीकानुवाद**—यहाँ उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है—और वह अर्थान्तर द्वारा पुष्ट हुआ है। इति । इस विषय पर साहित्य दर्पण में एक उदाहरण है—

**श्लोकार्थ**—(कोई उत्कंठिता नायिका अपनी सखी से कहती है) इन बाजूबन्दों को दूर करो, दोनों हाथों में रत्न जटित कड़ों की भी आवश्यकता नहीं है । इस विशाल ग्रीवा के सुन्दर आभूषणों का क्या करूँगी । यह नई एकावली (एकलरी) भी मुझे नहीं रुचती । इन सब सजावटों को तू रहने दे। अनंगोत्सव के समय अधिक वेष रचना ठीक नहीं ।

**टीकानुवाद**—यहाँ किसी कान्ता की अपने प्रिय विषयक मधुर रति कृत यह अनलंकृति है । इति। इसी प्रसंग में किसी अन्य की भी उक्ति है ।

**श्लोकार्थ**—सहज सुन्दर स्त्रियों के लिये तो इतना ही आभूषण पर्याप्त है—कि उनके मुख में नवीन पान-वीड़ी की लाली हो । नेत्रों में काजर लगा हो और स्वच्छ वस्त्र पहने हो । इससे अधिक आ

**खञ्जनमञ्जुलसुदृशामञ्जनमनुरञ्जनं मनसः ।। ३४ ।।**

यावक मिति । विरहविह्वलं श्रीकृष्णं विज्ञाय राधिकान्तिकमागत्य निजभूषणादिरचनया सविलम्बां तामुपदिशन्ती सत्वरमभिसारयति । स्पष्टमन्यत् ।। ३४ ।।

**यथा वा—वलयविभूषितमेव करद्वयं कलय कज्जलमुज्ज्वलमम्बरम् ।**
**अयि न दूषय देहमदूषणं विफलमालि न भूषय भूषणम् ।। ३५ ।।**

वलयेति कस्यचिदत्रापि सैवावतारिका अर्थानलङ्कृतिः स्पष्टैव ।। ३५ ।।

**यथा वा—चल सखि सत्वरमसुसममानन्दय सहजसुन्दरैरङ्गैः ।**
**भूषयसि भूषणं चेद् व्रजभूषणमेव किं न भूषयसि ।। ३६ ।।**

चल सखीति । अत्रापि तथैव ।। ३६ ।।

**यथा वा—सुभग नवनवोद्यन्माधुरीभिर्धुरीणां धृतिमनुनय कान्तामागतां तामवेहि ।**
**प्रियपरिजनवृन्दं दृष्टिभीत्येव तस्याः सहजसुभगमङ्गं भूषणैरावृणोति ।। ३७ ।।**

---

षण अङ्गों को केवल दूषित करने के लिये ही होते हैं । इति । टीका स्पष्ट है, अनलंकृति भी स्पष्ट है ।

ग्रन्थकार की उक्ति है । श्लोकानुवाद ३४—(श्रीराधारानी के प्रति अभिसार व्यग्रा उनकी सखी कह रही है) जिनके चरण (अरुण) कमल के समान हैं उनको महावर से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं । जिसका शरीर सोने के समान आभायुक्त है उनको सोने की भूषणों की क्या अपेक्षा एवं जिनके नेत्र खञ्जन के समान परम सुन्दर हैं, उनको अञ्जन से क्या लाभ । हाँ प्रियतम के प्रति मन का अनुरञ्जन अर्थात् आसक्ति अपेक्षित है । इति ।

**टीकानुवाद**—किसी समय श्रीकृष्ण भगवान को विरह से विह्वल जानकर, श्रीराधा रानी के पास एक प्रिय सखी आई और उनको अपने आभूषणादि रचना में विलम्ब करती देखकर—उपदेश देती हुई, अभिसार के लिये शीघ्र प्रवृत्त करती हुई यह सब कह रही है ।। ३४ ।।

ग्रन्थकार का वचन है—श्लोकानुवाद ३५—(कोई सखी अपनी प्रेयसी सखी से अभिसार प्रसंग में कहती है) हे प्रिये ! हाथों में शोभा के लिये कंकण ही पर्याप्त हैं । आँखों में थोड़ा काजर, उज्ज्वल वस्त्र, शोभा के लिये—इतना ही पर्याप्त है । दोष रहित अर्थात् सहज सुन्दर देह को आभूषणों से दूषित मत करो । हे सखि ! भूषणों को भूषित करने में समय मत व्यर्थ करो ।

**टीकानुवाद**—यहाँ भी पूर्व श्लोक के समान अवतरणिका समझनी चाहिये और अनलंकृति तो स्पष्ट ही है । इति ।। ३५ ।।

ग्रन्थकार का फिर कहना है—श्लोकानुवाद ३६—हे सखि ! शीघ्र पधारो । अपने सहज सुन्दर अंगों द्वारा प्राणों के समान निज प्रियतम को प्रसन्न करो । यदि अपने अङ्गों द्वारा भूषणों को ही भूषित करती हो, तो फिर उन व्रजभूषण (श्यामसुन्दर) को ही क्यों भूषित नहीं करती हो ? ।

**टीकानुवाद**—यहाँ भी पूर्ववत अनलंकृति स्पष्ट ही है । इति ।। ३६ ।।

फिर भी ग्रन्थकार की उक्ति है । श्लोकानुवाद ३७—(विरहाकुल श्रीकृष्ण को, श्रीराधारानी के समीप से आई सखी आश्वासन दे रही है ।) हे सुन्दर ! नवीन-नवीन विकसित होती हुई माधुरी प्रवाह से परिपूर्ण उन कान्ता को बस आई (पहुँची) ही समझो । थोड़ा धैर्य धारण करो । वे अपने सहज सुन्दर अङ्गों को इसलिये ढके हुए हैं—मानो उन पर किन्हीं कुटुम्बियों की दृष्टि के भय की सम्भावना है । अर्थात् उन अङ्गों पर किसी की दृष्टि न पड़ जाय—नजर न लग जाये ।

सुभगेति । विरहविह्वलं श्रीकृष्णं राधिकान्तिकादागता सखी समाश्वासयति । भीत्येवेत्यत्र हेतूत्प्रेक्षा ।। ३७ ।।

**यथा वा—**

**किशोरकठिनां मतिं मणिसुवर्णभूषणानि विसृज्य गुणरागिणीं विसृज मञ्जुगुञ्जामपि ।**
**मयैव कलिता बलादधिनिकुञ्जमेकैव सा भवद्गलविभूषणं भवतु मालती मालिका ।।३८।।**

किशोरेति विरहविह्वलां स्वसखीं ज्ञात्वा कथञ्चिद् विलम्बमानं कृष्णं सखी सत्वरमभिसारयति। अत्र यावकेत्यारम्भ हैममित्यन्तेन प्रियाप्रियविषयकसखीजनरतिकृतेयमनलङ्कृतिः ।। ३८ ।।

**यथा वा—हैमं हेमगुणस्यूतमेकीभूतं तनुत्विषा ।**
**यथार्थनामतां याति गाङ्गेयाङ्गि तवाङ्गदम् ।। ३९ ।।**

हैममिति । अत्र अर्थानलङ्कृतिः स्पष्टा: ।। ३९ ।।

**यथोक्तम्—"नृपमिव निजकान्त्या राजितं राजकीयास्तदमितममतोद्यत्सम्पदा दर्शनीयाः ।**
**सहजसुभगमङ्गं भूषणश्रेणयोऽमूः सखि तव तनुशोभाशोभिताः शोभयन्ति ।।" इति।**

---

**टीकानुवाद**—यहाँ की अवतरणिका को श्लोक के प्रारम्भ में लिख दिया है। इस प्रसङ्ग में हेतुत्प्रेक्षा नामक अर्थालङ्कार है। इति ।। ३७ ।।

ग्रन्थकार की अपनी उक्ति है—श्रीराधारानी की सखी, श्रीकृष्ण को उन (श्रीराधा) के समीप पहुंचने की प्रेरणा करती है—

**श्लोकार्थ** ३८—हे किशोर! (अथवा किशोर लक्षणया किशोर शब्द का सुन्दर अर्थ भी हो सकता है अर्थात् सुन्दर परन्तु कठिन) जो गुणों (धागों) से प्रेम करते हैं तथा कठोर मणि सुवर्ण निर्मित हैं इन ऐसे भूषण समूहों के प्रति अपनी आसक्ति बुद्धि को छोड़कर और इस सुन्दर गुञ्जामाला को भी त्यागकर मेरे साथ चलो। मैंने बहुत (प्रयास) कठिनता से निकुञ्ज में एक मालती माला तय्यार की है अब वही आपके गले का आभूषण होने योग्य है। इति।

**टीकानुवाद**—अपनी सखी को विरहाकुल जानकर और उधर श्रीकृष्ण को कुछ विलम्ब करते देखकर सखी उनको अभिसार के लिये शीघ्र उद्यत कर रही है। यहाँ श्लोक ३४ के 'यावक' पद से लेकर अगले ३९ श्लोक के 'हैम' पद पर्यन्त प्रिया-प्रियतम विषयक सखीजन (मधुर) रतिकृत अनलंकृति के उदाहरण हैं। इति ।। ३८ ।।

ग्रन्थकार की रचना है—श्रीराधा रानी की प्रेयसी सखी उनसे कह रही है।

**श्लोकार्थ** ३९—हे गाङ्गेयाङ्गि! (गंगा की तरङ्गों के समान स्वच्छ अगोंवाली)—प्रिये! यह तुम्हारा सुवर्ण निर्मित अङ्गद (भुजा का भूषण) सोने के सूत में गुथकर तुम्हारी अंग कान्ति से बिल्कुल एकाकार हो रहा है, इसे आज ही यथार्थ नाम (अंगद) प्राप्त हुआ है। इति। (टि—श्रीराधारानी गौरवर्णा हैं और उन्हें सुवर्ण से उपमा दी जाती है। इससे ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है कि झिलमिलाती तरल सुवर्ण की कान्ति से ही उनकी समता है) टीकानुवाद—यहाँ अर्थानलंकृति स्पष्ट ही है। इति ।। ३९ ।।

**मूलानुवाद**—किसी कवि की पूर्ववत् यह भी श्रीराधा के प्रति सखी की उक्ति है।

**श्लोकार्थ**—राजा जैसे अपनी कान्ति से शोभित होते हैं और उसी के प्रभाव से उनके अभिमत राज्य सम्पति आदि दर्शनीय होते हैं। हे सखि! वैसे ही तुम्हारे अङ्ग स्वाभाविक सुन्दर हैं। यह गहनों की कतारें तुम्हारी अङ्ग शोभा से सुशोभित होकर शोभा बढ़ाती हैं। इति।

नृपमिवेति । स्पष्टमेतत् ॥

**यत्र स्त्रिय एव पुरुषाः ।**

**तथा च दशमे—कस्तांचित्स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापराननु ।**

**कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः । भा० १०-३०-१९**

कृष्णोऽहमिति । स्पष्टार्थमेव । व्रजसुन्दरीणां कृष्णविषयकमधुररतिकृतोऽयं स्त्रीपुंसोर्विपर्ययः ॥

**इत्यादीनि तत्प्रकरणे प्रायो बहूनि उदाहरणानि ।**

**तथा च जयदेवः—मुहुरवलोकितमण्डनलीला । मधुरिपुरहमितिभावनशीला ॥**

**नाथ ! हरे ! सीदति राधा वासगृहे ॥ ध्रुवम् ॥ (गीतगो० ६ सर्ग०)**

**यथा वा—कान्ते क्वासीति सालापां प्रेमामृततरङ्गितैः ।**

**लुप्तस्त्रीप्रत्ययां पश्य कुञ्जे माधव ! माधवीम् ॥ ४० ॥**

विरहाधिक्येन ध्यानबाहुल्यात् कृष्णोऽहमिति भावनाविवशां गान्धर्विकामवलोक्य, शीघ्रमागत्य, काचित्सहचरी श्रीकृष्णमभिसारयितुं कौतुकमिव कथयति—कान्ते क्वासीति । हे माधव कृष्ण ! श्लेषेण मधुवंशोत्पन्नक्षत्रियत्वात् कठिनहृदयत्वं व्यञ्जितम्, पुनस्तेनैव पदेन श्लेषेण तथा विरहविवशां तामस्मरन्तं तं लोकोक्तिरीत्या वसन्तमपि स्मारयति । कुञ्जे एकान्ते, अतिशीघ्रं गमनावसरं बोधयति । माधवीं भवतः

---

**मूलानुवाद**—उस प्रेम नगर में स्त्रियाँ ही पुरुष भाव को प्राप्त होती हैं । इति ।

**श्लोकार्थ**—भा०-१०-३०-१९—एक गोपी अपने को श्रीकृष्ण समझकर दूसरी सखी के गले में बाँह डालकर चलती और गोपियों से कहने लगती—'मित्रो ! मैं कृष्ण हूँ तुम लोग मेरी यह मनोहर चाल देखो' ॥ १९ ॥

**टीकानुवाद** - व्रज सुन्दरियों की श्रीकृष्ण विषयक मधुर रति द्वारा सम्पादित यह स्त्रि-पुरुष का विपर्यय स्पष्ट ही है । भागवत् के (रास) प्रकरण में प्रायः ऐसे बहुत उदाहरण हैं (वहाँ देखें) तथा कविवर श्रीजयदेवजी की भी इस विषय में उनके गीत गोविन्द काव्य में ऐसी उक्ति उपलब्ध हैं ।

**पद्यानुवाद**—हे नाथ ! हे हरे ! आपकी मंडन-श्रृङ्गार लीला को बार-बार देखकर श्रीराधा-रानी 'मैं ही कृष्ण हूँ' इस प्रकार की भावना में तल्लीन हैं और अपने वास भवन में वियोग के क्लेश से क्लान्त हो रही हैं । इति ।

ग्रन्थकार निज का उदाहरण है—श्लोकानुवाद ४०—एक सखी श्रीकृष्ण से कह रहा है—हे माधव ! आप कुञ्ज में पधारो । देखो आपकी प्यारी श्रीराधारानी की कैसी स्थिति हो रही है । प्रेम रूप अमृत की लहरों में अपने स्त्री भाव को भूल गई है आपके पुरुष भाव का ही अनुगमन करती 'हा कान्ते कहाँ हो' इत्यादि आलाप कर रही है । इति ।

**टीकानुवाद**—विरह की अधिकता से ध्यान की एकतान्ता वश 'कृष्णोऽहम्' इस भावना में विभोर श्रीराधाजी को देखकर, उनकी कोई सहचरी श्रीकृष्ण के पास शीघ्र आई और उनसे अभिसार (गुप्त रूप से शीघ्र चलने) के लिये कौतुक के समान वर्णन कर रही है । वह उन्हें सम्बोधन करती है, हे माधव ! श्लेष से इसका अर्थ है—मधुवंश में उत्पन्न हुए क्षत्री होने के कारण—इस विशेषण से यहाँ उनके हृदय की कठोरता व्यञ्जित की गई है । फिर उसी पद से श्लेष द्वारा यह भी स्मरण कराती है कि वे तो ऐसी विरह में विवश है और आप उनका स्मरण भी नहीं करते हो, और सुख से यहाँ बैठे हो । कुञ्ज शब्द का अर्थ एकान्त से है । इससे बहुत शीघ्र यह गमन का अवसर है इस बात को जचा रही है । माधवी पद से यह

परमप्रेयसीं माधवीमिव माधवीमिति लुप्तोपमयाऽतिशयोक्त्यैव वा श्रीराधिकाम्। यद्वा माधवीति राधिकाया नामैव, तदुक्तं सूचके श्रीकृष्णदासकविराजमहाशयैः—"राधे ! माधवि ! माधवप्रियतमे ! गान्धर्विके !" इत्यादि।

राधिकास्तुतौ माधवीति तत्सम्बुद्धिदर्शनात्। पश्य अवलोकय अलं विलम्बैरित्यर्थः। अत्र माधवीपदेन तस्याः परममृदुलत्वं विरहतीव्रताया असहिष्णुत्वञ्च ध्वनितम्। ततः तूर्णमभिसरेत्यनुध्वनिः। त्वद्ध्यानाधिक्येन भृङ्गीकीटन्यायेन त्वत्स्वरूपतां प्राप्तश्चेत् तदाविप्रतिसारं भजिष्यसीति प्रत्यनुध्वनिः। (पश्चात्तापोऽनुतापश्च विप्रतिसार इत्यादि—इत्यमरः) कथंभूताम्—कान्ते राधिके त्वं क्वासि क्व गतासीति सालापसम्प्रलपिताम्, यतः प्रेमामृतस्य तरङ्गितैः तरङ्गैर्लुप्तोऽदर्शनं प्राप्तः स्त्रीप्रत्ययः ( ङीप् ) यस्याः सा ताम्, तस्या माधव्याः स्त्रीप्रत्ययलोपे माधवरूपेणावस्थितामिति भावः। तथा श्लेषेण लुप्तो 'अहं स्त्री' इति प्रत्ययो ज्ञानं यस्याः सा 'राधिका अहम्' इति विस्मृत्य माधवम्मन्यामित्यर्थः। अत्र तरङ्गितपदेन प्रेमामृतस्य समुद्रत्वारोपः। मधुररतिकृतोऽयं विपर्य्यय इति भावार्थ स्पष्ट एव ॥ ४० ॥

**यथा वा—दर्शनीयतममेव मृगाक्ष्या रूपमद्य यदवेक्ष्य दर्पणे।**
**केलिकौशलवयोगुणाधिका राधिका दयितभावमीहते ॥ ४१ ॥**

दर्शनीयतममिति। कदाचित् काचित्सहचरी नवयौवनाविर्भावितनिजमाधुर्यातिशयमादर्शे विलोक-

---

द्योतित किया गया कि वह आपकी परम प्रेयसी-माधवी लता के समान है। वह (श्रीराधा) माधवी हैं इस अंश में 'लुप्तोपमा' अलङ्कार द्वारा अतिशयोक्ति से ही श्रीराधा अर्थ व्यक्त होता है। अथवा 'माधवी' यह श्रीराधा का नाम ही है जैसा कि अपने सूचक काव्य में श्रीकृष्णदास कविराज महाशय ने कहा है 'राधे! माधवी !' इत्यादि ॥

श्रीराधिकाजी की स्तुति में 'माधवि' यह सम्बोधन प्राप्त हुआ है। 'पश्य' का अर्थ है देखो अर्थात् अभिसार में विलम्ब मत करो यहाँ माधवि से श्रीराधारानी की अत्यन्त कोमलता वर्णित हुई है जिसका अभिप्राय यह है कि वे विरह की तीव्रता सहन करने में समर्थ नहीं—यह इसमें ध्वनि है, इसलिये आप शीघ्र पधारो यह अनुध्वनि हुई। यदि वे आपके ध्यान की प्रगाढता में—भृङ्गी कीट न्याय से आपके स्वरूप को प्राप्त हो गईं तो आपको पश्चात्ताप होगा। यहाँ यह प्रत्यनुध्वनि है। श्रीराधिका का और विशेषण देते हैं। वे 'हे कान्ते ! ' ऐसा विलाप कर रही हैं। 'कान्ते' शब्द से राधिके अर्थ लिया गया है और आप कहाँ हो इस प्रकार का प्रलाप कर रही है। क्योंकि प्रेम की तरंगों से उनमें अपने स्त्रीत्व का लोप हो गया है अर्थात् स्त्री प्रत्यय से यहाँ 'ङीप्' प्रत्यय का ग्रहण हुआ है। उन माधवी नामवती के आगे 'ङीप्' इस स्त्री प्रत्यय के लोप हो जाने पर वे माधव' रूप से उपस्थित होंगी यह भाव है और श्लेष के द्वारा लोप हो गया है—'मैं स्त्री हूँ'—यह ज्ञान जिनका—अर्थात् 'मैं राधिका हूँ' इसको भूलकर वे अपने आपको माधव समझने लग जाएगी यह अर्थ है। यहाँ 'तरङ्गित' पद से प्रेमामृत में समुद्र का आरोप हुआ है। यह मधुर रतिकृत विपर्यय है और भावार्थ स्पष्ट ही है। इति ॥ ४० ॥

ग्रन्थकार की रचना है। श्लोकानुवाद ४१—एक दिन श्रीराधारानी दर्पण में अपने रूप को देख रही थीं। वे केलि कौशल, किशोर वय, तदुचित गुण आदि से परिपूर्ण हैं ही। उस समय उन मृगनैनी ने अपने अत्यन्त सुन्दर रूप को देखकर बहुत आश्चर्य किया और मन में सहसा यह भाव उदय हुआ कि इस रूप के उपभोग के लिये दयित भाव अर्थात् कृष्ण भाव की अपेक्षा है इसलिये वे कृष्ण बनने के लिये उत्सुक हो उठीं। इति।

**टीकानुवाद**—एक समय एक सहचरी ने देखा कि श्रीराधा किशोरी दर्पण में अपने सौन्दर्य-माधुर्य

यन्तीं तत्रासक्तिमतीं तदनुभावैरनुमीय अन्तरङ्गतया तदिङ्गितज्ञानातिदूरचरं रसिकशिरोमणिं तत्राभिसरणे-नानन्दयितुं मिलितां सखीमाह—दर्शनीयतममिति। अद्य तस्या मृगाक्ष्या रूपं दर्शनीयतममेवेति सम्बन्धः। अत्र तमप्प्रत्ययः सर्वथा दर्शनीयत्वं विशदयति। पुनरवधारणेन तु अहं वर्णयितुमनीशास्मीति ध्वनितम्। तस्यागीर्गोचरत्वमनुध्वनि। नयनशीतलीकरणाय रूपामृतजीवातुकेन भवता तत्र गन्तव्यमेवेति प्रत्यनुध्वनिः। मृगाक्ष्या इति परिकरांकुरद्वारा नवयौवनोद्गम स्वभावसुलभं नयनचाञ्चल्यविशेषं व्यञ्जयति। उपलक्षणं चैतन्मन्दस्मितमृदुभाषणादीनाम्। अद्येति पूर्वतोऽपि माधुर्यातिशयं बोधयति। तथापि किञ्चिद्वर्णयेति विज्ञप्तिमतीं समासेन तदाह—यद्रूपं दर्पणे आदर्शे प्रतिबिम्बितमवेक्ष्य तत्रासक्तिमती सती दयितवत् स्वयं तदुपभोगाय दयितभावं श्रीव्रजेन्द्रनन्दनसारूप्यमीहते वाञ्छति, स्वयमेव निजमाधुर्यस्य भोगानुपपत्तेः। तत्र हेतुगर्भं विशेषणम्—केलिकौशलवयोगुणाधिकेति। कामकेलिषु यत्कौशलं दाक्षिण्यं तथा वयसो नवतारुण्यस्य ये गुणाः प्रागल्भ्यादयः तैरधिका परिपूर्णा इत्यर्थः. तत्तद्गुणातिशयपूर्त्तेरिति भावः। यत्र स्वस्याप्यासक्ति-रिति समासेन सखीं प्रति कथनमिषेण तमेव श्रावयति "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" "मनःकृतं कृतमेव" इत्यादिन्यायान्मधुररतिकृतोयं तयोर्विपर्य्ययः॥ ४१॥

**यथा वा—कस्तूरिकापङ्क कृताङ्गरागः पीताम्बरालङ्करणाङ्कभागः।**

---

को निहार रही हैं। नवीन यौवन वश प्रादुर्भूत अपने माधुर्याधिक्य को जानकर वे उसमें आसक्त हो गईं। सहचरी ने उनके तात्कालिक अनुभावों से उनकी आन्तरिक दशा का अनुमान लगा लिया। अन्तरङ्गा होने के कारण सखी को उनकी (मानसिक) चेष्टाओं का बोध होना कठिन नहीं था। वह रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण को, जो उस समय बहुत दूर थे, अभिसार प्रक्रिया से लिवा लाने जा रही थीं, जिससे श्रीकृष्ण भी उस दशा (छवि) का दर्शन करके अत्यन्त आह्लादित हों। इसी अवसर पर उसे एक सखी मिली जिसे वह यह सब हाल कहती है। आज उस मृगनैनी का रूप अत्यन्त दर्शनीय है यह सम्बन्ध है। यहाँ 'दर्शनीयम्' इस पद में 'तमप्' प्रत्यय: दर्शनीया अथवा अति सुन्दरता को ही स्पष्ट करता है, और फिर 'एव' इस अवधारण (निश्चय) से तो, मैं उसका वर्णन करने में समर्थ नहीं हूँ यह ध्वनित होता है। तथा उसका वर्णन वाणी का विषय ही नहीं है यह अनुध्वनित होता है। किंच अपने नेत्रों की शीलत करने के लिये रूप सुधा जीवी आपको वहाँ अवश्य पहुँचना चाहिये यह प्रत्यनुध्वनि हुई। 'मृगाक्ष्या' यही विशेष्य है, इसके साभिप्राय होने से इसमें परिकरांकुर नाम का अर्थालङ्कार व्यक्त होता है और इसके द्वारा यह व्यक्त होता है कि नवीन यौवन से अद्भुत तथा स्वभाव सुलभ नेत्रों की चंचलता अपना विशेष महत्व रखती है। यह मन्द मुस्कराहट एवं कोमल आलाप आदि गुणों का उपलक्षण है—यहाँ 'अद्य' पद यह बताता है कि पहले पहले की अपेक्षा भी इस समय का जौन्दर्य माधुर्य सीमा को पार कर रहा है। सुनने वाली सखी ने पहली सखी से हठ किया कि फिर भी कुछ तो वर्णन करो ही (इससे सखी की उत्कण्ठा बढ़ी)। तब वह संक्षेप में श्रीराधा नागरी की उस छबि का वर्णन करती है। अपने रूप (लावण्य) को दर्पण में प्रतिबिम्बित देखकर उस पर अत्यन्त मोहित हो उठीं। प्रियतम के समान स्वयं उसका उपभोग करने के लिये अपने में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के सारूप्य को चाहती हैं, क्योंकि अपने माधुर्य का अपने आप ही भोग संभव नहीं। उसमें कारण बताते हुए विशेषण है 'केलि ' काम सम्बन्धी क्रीड़ाओं में जो चतुराई और नव तारुण्य के प्रगल्भता भाषण पटुता आदि गुणों में परिपूर्ण है ही। अभिप्राय यह है कि उन उन गुणों की सम्पूर्ण पूर्ति उन्हीं से होती है। उन गुणों का उत्कर्ष इसी से समझ लो, कि जिनके कारण वे स्वयं उन पर अत्यन्त आसक्त हो गईं। यह बात थोड़े में सखी के प्रति वर्णन करने के बहाने उन्हीं (श्रीकृष्ण) को सुनाती है। 'जिसकी जहाँ श्रद्धा है' वह वही है (गीता वचन) और 'मन से किया गया (कर्म) यथार्थ किया गया' माना जाता है इत्यादि न्याय के अनुसार मधुर रति कृत यह उन दोनों का विपर्यय हुआ है। इति॥ ४१॥

**स कोपि बर्हार्पितभूरिभागः पायात्सखीभिः कृतरासयागः ॥ ४२ ॥**

कदाचिन्महातपसी पौर्णमासी प्रियावियोगविधुरतया श्रीवृन्दावने सखिभिः सह मनोविनोदयन् सविनयं कृतनमस्कृतिं व्रजनवयुवराजमाशीर्विशेषवितरणमिषेणैव संप्रति राधा प्रेमावेशविशेषपरवशतयाङ्गीकृतभवद्वेषा वंशीस्वनवशीकृतसकलकलाकलापकुशलललितादिसखीसहाया भवानिव रासं रचयतीति व्यञ्जयति, इति त्वमपि तथैवाङ्गीकृततन्मूर्तिवेषपेशलः स्वस्य स्वप्रेयस्याः सखीसमूहस्य च मनोनयनान्यानन्दयन् तत्केलिरसस्यैतावतीमेवापरिपूर्तिं परिहरेत्युपदिशति—कस्तूरिकेति। स कोपि परमानिर्वचनीयः परमाद्भुततमः श्रीराधाख्यो देवताविशेषस्त्वां वियोगाधिसम्भवात्तापात् पायात् रक्षतु। कथंभूतः—कस्तूरिकापङ्केन आत्मनः श्यामसुन्दरतासिद्धये कृतोऽङ्गरागो येन, पुनः कथंभूतः—पीताम्बरस्य अलङ्करणभूतौ—अङ्कस्योर्ध्वाधोभागौ यस्य, तथा—बर्हेभ्यो मयूरचन्द्रिकाभ्यः शिरसा धारणेन अर्पितो भूरिभागो बहुभाग्यं येन, एवमुपलक्षणैरन्यैरपि प्रसाधनैर्भवद्वेषधरः स्वसमानवयोगुणाभिः सखीभिः नृपमण्डलीभिरिव सह कृतः रास एव यागः राजसूयाख्यो येन सः, अतः सर्वदा तद्वशवर्त्तिना व्रजराजकुमारेण राधारूपेण अवश्यं गत्वा तत्पूर्णता विधेयेति ध्वनिः। मधुररतिकृतोऽयं व्यत्ययः ॥ ४२ ॥

---

ग्रन्थकार की उक्ति है। श्रीकृष्ण मिलन की उत्कण्ठा में श्रीराधारानी देह तथा वेषभूषा आदि से साक्षात् श्रीकृष्ण रूप को प्राप्त हुई—उसका यहाँ वर्णन है—श्लोकानुवाद ४२—कस्तूरी का लेप समस्त अङ्गों में उन्होंने कर लिया, पीताम्बर से अलंकृत हो गईं, मयूर मुकुट आदि से सुसज्जित होकर सखियों से रास करने लगीं—ऐसा एक अनिर्वचनीय श्रीकृष्ण रूप आपकी रक्षा करे। इति ॥ ४२ ॥

**टीकानुवाद**—एक बार अपने सखाओं के साथ श्रीवृन्दावन में श्रीश्यामसुन्दर प्रियतमा (श्रीजी) के वियोग से क्लान्त दशा में मनो-विनोद कर रहे थे। प्रसंग वश महातपस्विनी श्रीपौर्णमासी का उनको दर्शन हुआ। उन्होंने उनको विनय पूर्वक नमस्कार किया। श्रीपौर्णमासी ने व्रज नवयुवराज को मानो विशेष रूप से आशीर्वाद देने के मिस से बताया, कि इस समय श्रीराधा प्रेम के आवेग में विशेष परवश हैं। उसने आपके वेष को धारण किया है। वंशीनाद आदि समस्त कलाओं में कौशल और ललितादि सखियों की सहायता से आप ही के समान रास रचा है। ऐसी परिस्थिति में आप भी उसी प्रकार उनकी मूर्ति और वेष आदि से सुन्दरी बनकर अपने-अपनी प्रियतमा और सखी समूह के मन तथा नेत्र आदि को आनन्दित करते हुए, उनके उस क्रीड़ा रस की, इस कमी को पूरा करो यह उपदेश दिया–(टि–यहाँ यह अभिप्रेत है कि श्रीराधारानी के बिना रास हो ही नहीं सकता—अब जब कि राधा तो कृष्ण बन गई हैं तब राधाजी के स्थान की पूर्ति के लिये आप (कृष्ण) का राधा बनना आवश्यक हो जाता है। यहाँ इसमें एक चमत्कारिता है जिसका पौर्णमासी जैसी परम रसज्ञा और चतुर ने उन्हें उपदिष्ट किया है इति)—एक कोई परम अनिर्वचनीय और महान् अद्भुत श्रीराधा नाम का देवता विशेष है। वह वियोग रूप मानस ताप से तुम्हारी (सदा) रक्षा करे। फिर वह कैसा है, उस देवता के विशेषण कहते हैं—उसने अपनी श्याम सुन्दरता की सिद्धि के लिये अपने अङ्गों में कस्तूरी का लेप कर दिया है। फिर कैसा है—पीताम्बर के द्वारा अपने शरीर के ऊपर—नीचे के अवयवों को सुशोभित कर लिया है तथा मयूर पंखों को सिर पर धारण करके अपने को बहुत भाग्यशाली माना है। ऐसे ही और अलङ्कारों से आपके समान वेष को सजा लिया है। अपने समान अवस्था तथा गुणवाली सखियों के साथ राज मण्डली की तरह रास रूप यज्ञ कर रही है—जैसे राजा लोग राजसूय यज्ञ करते हैं। इसलिये सदा उनके वश में रहनेवाले व्रजराज कुमार (आप) का श्रीराधा रूप धारण करके वहाँ पहुँचना आवश्यक है, और उस कमी की पूर्णता करनी चाहिये यह इसमें अनुध्वनि है। मधुर रति द्वारा किया गया यह व्यत्यय है इति ॥ ४२ ॥

**यत्र पुरुषा एव स्त्रियः ।।**

यत्रेति । यद्यपि पूर्वोक्तेषु यत्राऽधर्म एव धर्म इत्यादिवाक्येषु वक्ष्यमाणेषु च यत्र धर्म एव अधर्म इत्यादिलक्षणो व्यतिरेकस्तु सर्वत्र स्वत एवाऽवभाषते, तदप्यत्र यथा स्त्रीणां तस्मिन्नायके प्रेमभरोद्भव-विरहोत्था पुरुषम्मन्यता तथा तास्वपि तस्य तज्जातिप्रमाणकप्रेमोत्थविरहोद्भवां स्त्रीमन्यतां वक्तुम-परोक्षतया व्यतिरेकोक्तिः—यत्र पुरुषाः स्त्रियः इति । अन्यथा "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" इति भगवत्वचनासिद्धिः ।। यथा श्रीभागवतेऽष्टमे—८-८-४१

**"एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्वोपायविदीश्वरः । योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम् ।।" इति ।**

एतस्मिन्निति । अत्र प्रमोराधिकारिकभक्तदिविषद्वृन्दविषयकरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः ।।

**तथा—तां श्रीसखीं कनककुण्डलचारुकर्णनासाकपोलवदनां परदेवताख्याम् ।**
**संवीक्ष्य संमुमुहुरुत्स्मितवीक्षणेन देवासुरा विगलितपट्टिकांताम् ।। ८-९-१६**

तां श्रीसखीमिति । स्वामिपादैर्व्याख्यातमेव ।।

**तथा—भा० ८-१२-२८—"ततो ददर्शोपवने परस्त्रियं विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे ।**
**विक्रीडतीं कन्दुकलीलया लसद्दुकूलपर्यस्तनितम्बमेखलाम् ।।" इत्यादि ।**

ततो ददर्शेति । इदमपि तैर्व्याख्यातमेव । अत्र प्रभोभक्ताधिराजशशाङ्कशेखरविषयकसख्यसंवलित-

---

**मूलानुवाद**—उस प्रेमराज में पुरुष ही स्त्रियें हैं । इति ।

**टीकानुवाद**—यद्यपि प्रथम वर्णन किये गये 'जहाँ अधर्म ही धर्म है' इत्यादि प्रसंगों में और अब कहे जानेवाले 'जहाँ धर्म ही अधर्म है' एवं रूप व्यतिरेक तो सभी जगह आगे अपने आप ही अवभाषित (ज्ञात) हो रहा है, तथापि यहाँ जैसे स्त्रियों में स्नेही नायक में प्रेम की अधिकता से उत्पन्न विरह दशा द्वारा अपने में पुरुषपने की मान्यता हो जाती है ऐसे ही पुरुषों में भी उसी जाति तथा प्रमाण परिमित प्रेम से उत्पन्न हुए विरह में स्त्री मान्यता का वर्णन करने के लिये प्रत्यक्ष रूप से यहाँ पर व्यतिरेक उक्ति है अर्थात् वर्णन है । 'जहाँ पुरुष ही स्त्रियें हैं' अन्यथा 'ये यथा ' यह भगवत् वाक्य सिद्ध नहीं हो सकता । जैसा कि भा० ८-८-४१ में उदाहरण है ।

**श्लोकार्थ**—इस प्रकार इधर दैत्यों में 'तू तू–मैं मैं हो रही थी और उधर सभी उपाय जाननेवालों के स्वामी चतुरशिरोमणि भगवान् ने अत्यन्त अद्भुत और अवर्णनीय स्त्री का रूप धारण किया ।

**टीकानुवाद**—यहाँ भगवान् के आधिकारिक भक्त जो देवता समूह हैं उनके ही सम्बन्ध से यह विपर्यय हुआ है । फिर और भी भा० ८-९-१८ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—सुन्दर कानों में सोने के कुण्डल थे और उसकी नासिका, कपोल बड़े ही मनोहर थे । स्वयं परदेवता भगवान् मोहिनी के रूप में ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीजी की कोई श्रेष्ठ सखी वहाँ आ गई हो । उसने अपनी मुस्कान भरी चितवन से देवता और दैत्यों की ओर देखा, तो वे सबके सब मोहित हो गये । उस समय उनके स्तनों पर से अञ्चल कुछ खिसक गया था । इति । टीकानुवाद—श्रीधर स्वामी पाद की इस पर व्याख्या इस प्रसंग में स्पष्ट है । फिर भा० ८-१२-२८ में भी कहा है—

**श्लोकार्थ**—इतने में ही उन्होंने (शिवजी ने) देखा कि सामने एक बड़ा सुन्दर उपवन है—उसमें भाँति-भाँति के वृक्ष लगे हैं, जो रंग-विरंगे फूल और लाल-लाल कोंपलों से भरे-पूरे हैं । उन्होंने यह भी देखा कि उस उपवन में एक सुन्दरी गेंद उछाल-उछाल कर खेल रही है वह बड़ी ही सुन्दर साड़ी पहने है और उसकी कमर में करधनी की लरियाँ लटक रही हैं । इति ।

**टीकानुवाद**—इसकी व्याख्या भी श्रीधर स्वामी पाद ने इसी प्रसंग में की है । यहाँ प्रभु के परम

वत्सलरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः ।।

**तथोक्तं श्रीरूपगोस्वामिचरणैः**—"मां स्नेहयति किमुच्चैर्महिलेयं द्वारकावरोधेऽत्र ।
आ ज्ञातं कुतुकार्थी वनितावेषो हरिश्चरति ।।" इति।

द्वारकाप्रतोल्यां स्त्रीवेषधरं श्रीकृष्णं दृष्ट्वा मोहितो नारदः प्राह—मां स्नेहयतीति । द्वारवतीप्रतोलिकायां स्त्रीवेषधरमभिमुखमायान्तं श्रीकृष्णं विलोक्य सस्पृहस्य नारदस्योक्तिरियम् । पद्यन्तु स्पष्टार्थमेव। अत्र श्रीकृष्णस्य द्वारवतीपुरजनविषयकवत्सलरतिकृतोऽयं विपर्य्ययः ।

**पुनरपि तैरेवोक्तं ललितमाधवे गर्भाङ्के—**

**"उद्गीर्णाद्भुतमाधुरीपरिमलस्याभीरलीलस्य मे**
**द्वैतं हन्त समक्षयन् मुहुरसौ चित्रीयते चारणः ।**
**चेतः केलिकुतूहलोत्तरलितं सद्यः सखे मामकं**
**यस्य प्रेक्ष्य सुरूपतां व्रजवधूसारूप्यमन्विच्छति ।।" इति ।**

अवलोकितनटकृतनिजप्रतिकृतिर्विस्मितमनाः श्रीकृष्णो निजान्तिकस्थितं सखायं मधुमङ्गलमाह—उद्गीर्णेति । अत्रोद्गीर्णपदं नित्यसिद्धानामेव माधुरीरूपपरिमलानामाभीरलीलायामेवाविर्भावितत्वं व्यञ्जयति । तथा परिमलपदेन माधुरीणां गन्धस्य विष्वक्प्रसरणशीलत्वं सर्वजनश्लाघनीयत्वं परमाह्लादप्रदत्वञ्च

---

भक्ताधिराज श्रीशंकर भगवान् विषयक सख्य सम्मिश्रित वत्सल रति कृत यह दोनों का विपर्यय हैं ।

श्रीरूप गो० पाद की उक्ति ग्रन्थकार उद्धृत करते हैं—

**श्लोकार्थ**—द्वारिका की (महल) गली में स्त्री वेष धारण किये श्रीकृष्ण का दर्शन करके नारदजी मोहित हो गये और कहने लगे—यहाँ द्वारिका के अन्तःपुर में यह महिला क्यों मुझे अधिक स्नेह करने के लिये प्रवृत्त कर रही है । अहो ! जान लिया—जान लिया, यह तो कौतुक प्रिय स्त्री वेशधारी स्वयं श्रीकृष्ण ही घूम रहे हैं । इति ।

**टीकानुवाद**—द्वारिका की गली में स्त्री वेष में सम्मुख आते हुए श्रीकृष्ण को देखकर स्पृहावान नारद की यह उक्ति है । पद्य का अर्थ स्पष्ट ही है । श्रीकृष्ण विषयक वत्सल रतिकृत यह विपर्यय हुआ है। इति । पुनः श्रीरूप गो० पाद का ललित माधव के गर्भाङ्क में वचन है—

**श्लोकार्थ**—एक बार भगवान् श्रीकृष्ण अपने नटवर वपु पर ऐसे मुग्ध हुए कि उस माधुरी का उपभोग करने के लिये व्रज-वधू (श्रीराधा) भाव की इच्छा करने लगे, समीप में सखा मधुमङ्गल से बोले—हे सखे ! इस मेरी आभीर-गोप लीला प्रसंग में उमड़ती हुई अद्भुत माधुरी के सौगन्ध को देखने पर यह मेरा नट रूप अद्वैत होते हुए भी बार-बार द्वैत बनने की चाहना रखता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है। मेरा यह चित्त ऐसी माधुरी को निहार कर क्रीड़ा कुतूहल के लिये लालायित हो रहा है, इसकी सुन्दरता के उपभोग के लिये व्रज वधू के समान रूप को प्राप्त हुआ चाहता है । इति ।

**टीकानुवाद**—एक बार अपनी नट रूप आकृति को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण आश्चर्य में पड़ गये। वे अपने समीपस्थ मित्र मधुमङ्गल से कहते हैं—यहाँ 'उद्गीर्ण' पद भगवान् के नित्य सिद्ध मधुर रूप, जो आभीर लीला के समय आविर्भाव होता है, उसको व्यञ्जित करता है, और 'परिमल' पद से उस माधुर्य गन्ध की चारों ओर प्रसरणशीलता अर्थात् फैलना सर्वजन प्रशंसनीयता और परम आह्लाद प्रदता ध्वनित होती है । हे सखे मधुमंगल ! मुझ अद्वितीय के भी द्विभाव को (हठात्) चाहता हुआ यह मेरा नट रूप अद्भुत आचरण कर रहा है—जिसकी सुन्दरता को देखकर मेरा मन केलि कुतूहल के लिये चंचल हो गया है और

ध्वनितम् । हे सखे मधुमङ्गल ! अद्वितीयस्यापि मम द्वैतं द्विरूपवत्त्वं समक्षयन् चारणः नटः चित्रीयते चित्र-मद्भुतमिवाचरति, यस्य सुरूपतां प्रेक्ष्य मम चेतः केलिकुतूहलाय उत्तरलितं सद् व्रजवधूनां सारूप्यमन्विच्छति मुहुर्वाञ्छति, अहं व्रजवधूर्भूत्वा एनं माधुरीपरिमलमनुभवानीति भावः । व्रजवधूभावं विना आभीरलीलस्य ममानुभवो दुर्लभ इति ध्वनिः । अत्र कृष्णस्य नटप्रकटितनिजसुन्दरस्वरूपविषयकरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव । स्वस्वरूपे स्वस्यैव रतिस्तु—

"विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्" ॥ इति भागवते तृतीयस्कन्धे श्रीमदुद्धवोक्तौ व्यक्तमेव ॥

**यथा वा—एकान्ते कान्त कान्तेति ब्रूते कलय कौतुकम् ।**
**कान्ते कान्तेन कलितं प्रेमामृतमिलावृतम् ॥ ४३ ॥**

काचित्सखी निजप्रियसखीविषयकप्रेमसम्भवविरहभराद् राधिकाम्मन्यं श्रीकृष्णं कुञ्जे स्थितमालोक्य त्वरितमागता कौतुकमिव कथयन्ती तां तूर्णमभिसारयति—एकान्तेति । हे राधिके ! कान्तेन नायकेन श्रीकृष्णेन प्रेमामृतं कलितं सेवितम्, कथंभूतं प्रेमामृतम्—इलावृतम्—इलावृतमिव, इलावृतसेवनाद् यथा सद्यः स्त्रीभावो भवति तथाप्रेमामृतसेवनेन त्वद्भावं प्राप्त इत्यर्थः । अतएव एकान्ते निर्जने कुञ्जे 'हे कान्त हे कान्त' इति वीप्सया ब्रूते, तत्कौतुकं त्वं कलयेति— गत्वा त्वं पश्येति—कौतुकस्य दर्शनीयत्वं ध्वनितम् । तत्रैव नायकस्य विरहविह्वलत्वमनुध्वनिः । तत्र च त्वरितमभिसरेति प्रत्यनुध्वनिः । एकान्तपदेन नान्यस्त-

---

अब व्रजवधू बनने की बार-बार इच्छा करता है—भाव यह है कि मैं व्रजवधु बनकर इस माधुरी परिमल का अर्थात् सौन्दर्य-माधुर्य का अनुभव करूँ ऐसी इच्छा हो रही है । व्रजवधु भाव के बिना गोपलीला परायण मुझे इस रूप का अनुभव दुर्लभ है यह ध्वनि है । यहाँ श्रीकृष्ण की नट रूप में प्रकट अपनी सुन्दर स्वरूप विषयक रति द्वारा सम्पादित उन दोनों का यह विपर्यय स्पष्ट ही है । अपने स्वरूप में अपनी ही प्रीति तो 'विस्मापनं ......' भा० ३ स्कन्ध की श्रीउद्धव की उक्ति में प्रकट है । इति ।

ग्रन्थकार की इस प्रसंग में यह उक्ति है—किसी सखी की सखी के प्रति उक्ति है—

**श्लोकार्थ ४३**—देखो यह कैसा कौतुक है कि एकान्त में यह कोई 'कान्त ! कान्त !' पुकार रही है, हे कान्ते—सुन्दरि ! मालूम पड़ता है—इलावृत प्रदेश में कान्त—प्यारे ने यह आत्म-परिवर्तन रूप प्रेमामृत का सेवन अर्थात् स्वीकार किया है । इति ॥ ४३ ॥

**टीकानुवाद**—कोई सखी अपनी प्रिय सखी विषयक प्रेम से उत्पन्न विरह की अधिकता के कारण अपने को राधिका समझते हुए श्रीकृष्ण को कुञ्ज में विराजमान देखकर बहुत शीघ्र आई और मानो एक आश्चर्य (घटना) जैसा वर्णन करती हुई उनको तुरन्त अभिसार के लिये उद्यत करने लगी । हे राधिके ! कान्त अर्थात् नायक श्रीकृष्ण ने प्रेमामृत (प्रेममग्नता) को स्वीकार किया है । 'वह प्रेमामृत कैसा है ?'—इलावृत प्रदेश का सेवन (जहाँ प्रवेश करनेवाला पुरुष स्त्री स्वरूप हो जाता है) करने से पुरुष का तुरत स्त्री भाव रूप को जैसे प्राप्त होना सुना जाता है—वैसे ही श्रीकृष्ण आपके भाव को प्राप्त हो गये हैं । इसी कारण एकान्त में निर्जन कुञ्ज में 'हे कान्त ! हे कान्त' रट रहे हैं। इस कौतुक को आप वहाँ शीघ्र पधार कर देखो । इससे कौतुक की (उत्सुकता पूर्वक) दर्शनीयता ध्वनित हुई, और वहाँ ही नायक की विरह विह्वलता भी अनुध्वनित होती है । तथा शीघ्र अभिसार (पधारो) करो यह प्रत्यनुध्वनि हुई । 'एकान्त' पद से बताया गया—कि वहाँ कोई दूसरा नहीं सुन रहा है । (कदाचित् श्रीराधा की यह शङ्का हो कि वहाँ जाने से कोई देख लेगा ?) तो एकान्त पद से उसका समाधान होकर चिन्ता दूर हो गई । तथा शीघ्र पधारो इससे यह बात बताई गई कि जाने का अवसर यही है । इति ॥ ४३ ॥

त्प्रलापं शृणोतीति तच्चित्तचिन्तानिरासः, तथा शीघ्रं तद्गमनावसरश्च दर्शितः ॥ ४३ ॥

**यथोक्तं ललितमाधवे श्रीरूपगोस्वामिचरणैः—**

**"पिङ्गलामनुसृतो मणिसङ्गी सङ्गतो युवतिवेषकलाभिः**
**आदरादनुमतो निशि देव्या तामहं रमयितास्मि मृगाक्षीम् ॥" इति ।**

पिङ्गलामिति । सूर्यपत्न्या संज्ञया सत्या सङ्गायै राधिकायै सामग्रीविशेषं दातुं प्रेषितां पिङ्गलाख्यां कामपि समागतामवलोक्य प्रियासङ्गमातिलालसः श्रीकृष्णो विचारयति—पिङ्गलामिति । एतां पिङ्गलामनुसृतः अनुगतोऽहं युवत्या इव वेषः कलाश्च—नेत्रचाञ्चल्यसस्मितभाषणादयश्च—तैः सङ्गता युक्तः सन् प्रत्यभिज्ञानिरोधिन्यां निशि देव्या श्रीरुक्मिण्या अपरिचितः तत एव अदरादनुमत आज्ञप्त इत्यर्थः । मणिसङ्गी स्यमन्तकसहितस्तां मृगाक्षीं मृगशावकनयनां रमयिता क्रीडयिता अस्मीति 'मनः कृतं कृतमेव' इति न्यायात् पुरुषस्यापि मधुररतिकृतोऽयं स्त्रीभावः प्रकट एव ॥

**यथा वा—लिप्तैवाहं मृगमदरसैरानयालं विलम्बैर्नीलं चोलं कुवलयकुलैः कल्पयाकल्पमङ्गे ।**
**दैवादेषा रजनिरजनीत्युक्तिभिस्तद्वयस्या याता नेतुं सुमुखि ! समभूत् सस्मिता विस्मिता च ॥४४॥**

विरहाधिक्येन राधिकाम्मन्यं श्रीकृष्णमभिसारयितुमागतां राधिकासखीमजानन्तं तथैव प्रलपन्तं दृष्ट्वा राधासखी दूरस्थिता यत्कौतुकमपश्यत् तद्रजनिवृत्तान्तं प्रातः काचित् स्वसखीं प्रति सस्मयविस्मयं वदति—लिप्तैवाहमिति । तत्प्रलापमेवाह—आत्मानं श्यामसुन्दरं विलोक्य लिप्तैवाहमिति तां प्रत्युक्तं

---

श्रीरूप गो० पाद का ललित-माधव का इसी प्रसंग में वचन है—श्लोकानुवाद एवं टीकानुवाद—प्रतीत होता है कि द्वारिका में श्रीराधारानी सत्या नाम से विराजती हैं । सूर्य पत्नि संज्ञा ने उनके लिये पिंगला नाम की दासी द्वारा कुछ वस्तु विशेष भेजी । उसको अन्तरंग (महल) में जाते देखकर प्रिया संगम की लालसा से श्रीकृष्ण ने विचारा कि मैं इसके पीछे-पीछे युवती वेश-नेत्र चाञ्चल्य सस्मित सम्भाषण आदि कलाओं को धारण करके वहाँ पहुंच जाऊँ । यह रात्री का समय है अतएव कोई किसी को पहचान भी नहीं सकता । रुक्मिणी को भी पता नहीं लगेगा । स्यमन्तक मणि के साथ उस मृगनैनी के साथ विहार करूँ ऐसा निर्णय किया और उस दासी के पीछे (स्त्री वेष में) हो लिये । 'मन से किया गया ही किया गया माना जाता है' इस न्याय से पुरुष की भी मधुर रति द्वारा किया गया यह स्त्री भाव प्रकट है । इति ।

ग्रन्थकार का अपना एक उदाहरण इस प्रसंग में यह श्लोक ४४ है—श्लोकानुवाद—एक बार श्रीराधिकाजी ने अपनी सखी को श्रीकृष्ण भगवान् को बुला लाने के लिये भेजा उस समय वे राधा भाव में डूबे हुए थे अर्थात अपने को राधा माने बैठे थे । श्रीराधाजी द्वारा भेजा गई सखी को श्रीकृष्ण ने (जो राधा भाव में थे) अपनी सखी माना—उस सखी तथा श्रीकृष्ण का जिस स्थिति में परस्पर वार्तालाप हुआ उसे वह सखी अपनी किसी प्रिय सखी को उस रात्री की सारी गाथा सुना रही है—श्लोकानुवाद—हे सुमुखी! (श्रीकृष्ण की राधा के आवेश में यह अवस्था थी और वे मुझ से बोले) सुन—कस्तूरी का लेप तो मैंने कर ही रखा है । (वे अपने को गौर वर्णा राधा मानकर भ्रमवश अपने कृष्ण वर्ण को कस्तूरी का लेप मान रहे थे)— (वे मुझ से फिर बोले)—विलम्ब मत कर नील वर्ण की सारी ले आ और श्याम वर्ण के कमलों द्वारा मेरे अंगों का शृङ्गार सजा दे । अँधेरी रात भी भाग्य से प्राप्त हुई है । इस बात को सुनकर मैं मुस्कराने लगी और आश्चर्य में पड़ गई (ऐसा सम्वाद राधा की सखी का अपनी सखी के साथ हुआ) । इति ॥ ४४ ॥

**टीकानुवाद**—विरह के आवेग में श्रीकृष्ण अपने आपको श्रीराधा माने बैठे थे । उसी समय श्रीराधा की सखी अभिसार मर्यादा से उनको श्रीराधा के आदेशानुसार बुलाने आई । श्रीश्यामसुन्दर को उस आवेश में यह पता ही नहीं था कि यह राधा की सखी है वे वैसे प्रलाप करते रहे । उन्हें उस दशा में

कुवलयानां नीलत्वात् कोमलत्वात् सुगन्धत्वाच्च तैरेव आकल्पमाकल्पय रचय, विलम्बैरलम्, यतः दैवाद् भाग्योदयाद् रजनिः तामसीरात्रिः अजनि जातास्ति। सुमुखीति सम्बुद्धिस्तस्या अपि तदवस्थतां व्यञ्जयति। तद्वयस्या तस्या राधिकायाः सखी तदुक्तं श्रुत्वा सस्मिता विस्मिता चाभवत्। अत्र अहं खलु नायिकया प्रेषिता एनं नायकमभिसारयितुमागता, अयन्तु नायिकारूपेणैव तिष्ठति, तत्र गत्वा किं करिष्यतीति सस्मितत्वं विस्मितत्वं च प्रेमौत्कण्ठ्यावलोकनेनैव इति। कृष्णस्य प्रियाविषयकमधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः॥ ४४॥

**यथा वा—अलं नतीनां ततिभिर्न दास्ये दधीति भीतिप्रगृहीतमौलेः।**
**प्रेमोन्मदस्यास्य मुहुः सुमुख्यः सख्यः पुरो दर्पणमर्पयन्ति॥ ४५॥**

कदाचिद् गान्धर्विकासखी सखीं प्रति नातिदूरचरस्य रसिकशिरोमणेर्निजप्राणसखीविषयकपरम-प्रेमपरिणाहपरिपाकविशेषव्याजेन अमुष्याः सौभाग्यभरमेव व्यञ्जयति—अल नतीनां ततिभिरित्यादिना पद्येन। तच्च व्याख्यायते—कदाचिदसौ मधुरतममधुरिमरसमयपरमानुरागासवमदोन्मादपरवशतया

---

देखकर दूर खड़ी श्रीराधाजी की सखी ने यह सब कौतुक देखा, जो रात्री के समय का था—उसे प्रातः किसी अपनी प्रिय सखी के प्रति हर्ष और विस्मय से कहती हुई—उनके प्रलाप को अर्णन करता है। अपने आपको श्यामसुन्दर देखकर 'मैं मृग मद से लिप्त हूँ' यह वचन (मुझ से) कहा। कुवलय जाति के कमल नीलवर्ण होते हैं और कोमल तथा सुगन्धित भी—उनसे ही मेरा शृङ्गार कर देर मत कर—कारण यह कि किसी भाग्योदय से ही यह अँधेरी रात हुई है। 'सुमुखी' यह सम्बोधन सुननेवाली सखी का भी हर्ष-विस्मय भाव का स्पष्टीकरण करता है। श्राराधिकाजी की सखी उन (श्रीकृष्ण) के उन वचनों का सुनकर मुस्कराहट सहित अचम्भे में पड़ गई। वह साचने लगी, मैं नायिका के द्वारा भेजी गई, इन नायक को ले जाने आई हूँ—परन्तु यह (स्वयं) नायिका रूप से बैठे हैं—वहाँ जाकर क्या करेंगे—प्रेम की इस प्रकार का उत्कण्ठता को देखकर वह मन्द हास तथा आश्चर्य चकित रह गई। श्रीकृष्ण का प्रियतमा विषयक मधुर रतिकृत यह विपर्यय है। इति॥ ४४॥

ग्रन्थकार का ऐसा ही दूसरा उदाहरण है, श्लोकानुवाद ४५—एक बार श्रीकृष्ण निभृत निकुंज के समीप स्वाभाविक वेष में विराजमान थे, हृदय में प्रेम समुद्र उमड़ रहा था उस समय भावावेश में अपने को प्रियाजी माने हुए थे। कौतुकवश सखियों ने उनकी चेष्टाओं से अनुमान लगाकर उनके सामने एक विशाल दर्पण लाकर रख दिया—ज्योंही लालजी ने उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखा तो उनको ऐसा भान हुआ कि श्रीकृष्ण मेरी दही की मटुकी छीनने आ गया है। उन्होंने तुरन्त अपने मुकुट का दही को मटुकी समझ कर उसे दृढ़ता से पकड़ रखा कि छीन न ले। एक भाव की लहर यह फुरी कि वह दही लेने के लिये हाथ जोड़ रहा है अतएव अनुनय विनय कर रहा है। इस भय से तुरन्त कह उठे—अरे लम्पट! चाहे तुम कितना अनुनय विनय प्रणाम करो मैं तनिक सी दही भी तुम्हें कदापि नहीं दूँगी। उनकी इस राधा भावा-क्रान्त दशा को देखकर और इस प्रकार प्रलाप को सुनकर सखियाँ हर्ष और विस्मय में डूब गई। इति॥४५

इस पद्य का भावानुवाद यह है तथा आगे ग्रन्थकार की टीका आ अनुवाद भी पढ़िये।

**टीकानुवाद**—किसी समय श्रीराधाजी की सखी ने देखा कि रसिक शिरामणि श्यामसुन्दर थोड़ी दूर पर विराजमान हैं, और अपनी प्राणेश्वरी श्रीराधाजी के उत्कट प्रेम की विशालता का स्मरण कर रहे हैं। उनकी इस दशा का वह अपनी प्रिय सखी के प्रति वर्णन करती हुई (अपनी स्वामिनी) श्रीराधजी के सौभाग्यातिशय को व्यक्त कर रही है। 'अलं नतीनां' यही इस पद के द्वारा वर्णन किया गया है। किसी समय श्रीकृष्ण अत्यन्त मधुर और माधुर्य रस पूर्ण परम अनुराग के आसव में उन्माद परवश हो रहे

आत्मानं निजसखीं राधामेवाभिमन्यमानो निकुञ्जमन्दिरं सहजारुणकमलाभ्यां शोभयामास। तदा म
स्वत एक कौतुकेन पुरतो निहित ददर्शादर्शम्। तत्र दर्शनीयं निजप्रतिबिम्बमवलोक्य दधिलुण्टाको व्रजरा
किशोरः पुरत एवागत इति भ्रमेण सविभ्रम कलशीभ्रमेण निजमुकुटाग्रमग्रहीत्। पुनस्तादृग्विधं निजाभा
समीक्ष्य दधिलुब्धो रसिकशेखरः शेखरनिहितैकहस्तो मां प्रणमतीति मत्वा प्रालपत्। तत्प्रलापमेव पल्ल
यति—हे धूर्त नतीनां ततिभिः श्रेणिभिरलं पूर्णताऽस्तु, मुधा मा रचयेत्यर्थः। निवारणार्थोऽत्रालमव्यय
"अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्"। इत्यमरः। 'दधि न दास्ये' अत्र दधीत्येकवचनेन अल्पमपि
दास्ये किं पुनः दधीनि— इति व्यञ्जितम्। इत्युक्त्वा इति शेषः। 'न दास्ये' इति मृदूक्त्या धृष्टोऽयं बल
कलशीं शिरसः उन्नेष्यतीति भीत्या भयेन पूर्वतोऽपि प्रकर्षेण गृहीतः कलशीभ्रान्त्या मौलिर्येन सः,
हेतुगर्भ विशेषणम्—प्रेमोन्मदस्येति, प्रेम्णा बहुधा गुरुजनानुरोधोक्तिरुद्धोऽपि उद् उद्गतः प्रकटीभूतो म
यस्य, अत्र मदेति पदेन प्रेम्णो माध्वीकत्वारोपः। हे सखि ! इदानीन्तु सर्वा एव सख्यः मदानीतादशदर्श
द्भूतप्रलापादिश्रवणदर्शनकौतुकं निपीय पुनरपि तत्सुखमेवावलोकयितुं जातकौतुकाः सत्यः मुहुर्वारंवार
अस्येत्यंगुल्या निर्दिशति। अस्य रसिकशेखरस्य पुरतोऽग्रे दर्पणमादर्शमर्पयन्तीति वर्तमानपदेन तादृगवस्था
प्रतिसमयोद्भवं बोधयति। एवं तस्य रसज्ञतां निर्वर्ण्य तन्मिषेण निजप्रियसखी सौभाग्यमेव व्यञ्जितम्। मधु
रतिकृत एवायं तयोर्विपर्ययः इति रसशास्त्रविद्भिः सम्यगनुभूतमेव नातोधिकमत्र वितन्यते ॥ ४५ ॥

---

थे, उस समय वे अपने आपको अपनी प्रिय सखी श्रीराधा ही माने हुए थे, और अपने स्वाभाविक रक्ति
(लाली) रञ्जित चरण कमलों से निकुञ्ज मन्दिर को शोभित कर रहे थे। उस समय मैंने अपने आप
कौतुकवश उनके सामने दर्पण स्थापित किया कि वे उसे देखने लग पड़े। उसमें देखने योग्य अपने अ
सुन्दर प्रतिविम्ब को निहार कर यह भ्रम (सहसा) हो गया कि दही लूटनेवाला यह 'व्रज नव कि
सामने आ गया है'। अपने मुकुट के अग्रभाग में उनको मानो दधि भाण्ड का भ्रम हो गया और बड़े विल
पूर्वक उन्होंने उसको पकड़ लिया। फिर वैसे ही अपने आभास को देखकर उनके मन में यह भ्रम हो ग
कि यह दही का लोभी रसिकशेखर अपने मस्तक पर एक हाथ रखकर मुझे प्रणाम कर रहा है ऐसा सम
कर वह प्रलाप करने लगे—

यहाँ उनके उस प्रलाप का ही वर्णन है। जैसे कि—हे धूर्त ! इन प्रणामों की परम्परा को व्य
मत बनाओ। यहाँ 'अलं' यह अव्यय निवारण अर्थ में प्रयुक्त है। 'मैं दही कदापि नहीं दूँगी' यहाँ द
शब्द एक वचन इस बात को व्यक्त करता है, कि मैं थोड़ा सा भी दही नहीं दूँगी अधिक की तो चर्चा
क्या ? 'न दास्ये...' यह कोमल उक्ति है, परन्तु यह धृष्ट है जबरदस्ती मेरे सिर पर से दधि भाण्ड
उतार लेगा। इस भय से पहले की अपेक्षा भी दधिभाण्ड की भ्रान्तिवश अपने सिर के मुकुट को और
दृढ़ता से पकड़ लिया। यहाँ 'हेतुगर्भ' विशेषण है। तथा वह प्रेम में मतवाले हो रहे हैं। प्रेमवश बहु
गुरुजनों के अनुरोध का भी परवाह नहीं कर रहा हूँ। क्योंकि प्रेममद में प्रमत्त हो रहा है। यहाँ '
इस पद के द्वारा प्रेम में माध्वीक (मादकता) का आरोप हुआ है। हे सखि ! उस समय सभी सखियों
द्वारा लाकर रखे गये दर्पण के देखने से प्रकट हुए प्रलाप आदि के श्रवण-अनुदर्शन एवं कौतुक आदि
अतिशयता पूर्वक देख-देखकर, फिर फिर उस सुख को ही देखने के लिये उनके मन में बार-बार कौ
हो उठा था यहाँ 'अस्य....' इस पद के द्वारा अँगुली से निर्देश किया गया है। उन रसिक शेखर के सा
दर्पण रखती है इस वर्तमान क्रिया पद के द्वारा वैसी अवस्था का समय-समय पर उदय होना बोधित कि
गया है। इसी प्रकार उन (श्रीकृष्ण) की रसज्ञता का वर्णन करके, उस बहाने अपनी प्रिय सखी (रा
के सौभाग्य का ही अभिव्यञ्जन हुआ है। मधुर रति कृत ही यह उनका विपर्यय है। रस शास्त्र के प
ही इसका भली भाँति अनुभव करेंगे, इसलिये इस विषय में अधिक विस्तार नहीं करना है। इति ॥ ४५

यथा वा—कस्तूरिकाकुंकुमलेपपेशलौ प्रियप्रियावेषधरौ प्रियाप्रियौ।
सङ्केतकुञ्जे सहजेऽपि सौरते व्यत्यस्तसम्भोगसुखं समीयतुः ॥ ४६ ॥

निरन्तरं परमप्रेमामृतसम्भृतयोर्विनयव्रीडाभरनतयोस्तयोः कयोरपि गौरश्यामलकिशोररसिकयोर्निभृतमेव रसविशेषमयकुञ्जकेलिरसपोषकप्रेमरसपूर्णया पौर्णमास्याख्यया कयापि तापस्या रजनिवृत्तान्तं पृष्टा कापि सहचरी व्यञ्जितस्वविक्रमं तत्संगमसुखविशेषं वर्णयति—कस्तूरिकेति। कस्तूरिकाकुंकुमाभ्याँ यथोचितं लेपेन अङ्गरागेण पेशलौ सुन्दराविति दुर्जनमोहनार्थं सहजाङ्गवर्णविपर्य्ययः तथा प्रियप्रियावेषधराविति वसनाभरणादिविपर्य्ययः एवंभूतौ प्रियाप्रियौ संकेतकुञ्जे तत्र सङ्गताविवत्यर्थः। सहजेऽपि सौरते। सुरतिशब्दात्स्वार्थे तद्धितः। तत्र व्यत्यस्तो विपरीतो यः सम्भोगः तस्यैव सुखं समीयतुः। मनसि तथा भावनयापीति संशब्दार्थः, तथा भावनयैव तयोस्तत्सुखावाप्तेः। एवं भवदुपदेशानुगामिन्या मया निजसखीसहायया यत्नप्रपञ्चैस्तयोः सङ्गमः सम्पादितः इति निज विक्रमः सूचितः। तथा त्वदनुग्रहात्तत्सङ्गमे सुखविशेषोऽपि जालरन्ध्रैर्मयैवानुभूतो न तु भवत्यापीति व्यञ्जितम्। अस्य पदस्यान्वयव्यतिरेकात्मकत्वात् तदुभयप्रकरणान्ते पतितमित्यवधेयम् ॥ ४६ ॥

---

पुनः ग्रन्थकार का श्लोक प्रमाण में दिया गया है। श्लोक भावानुवाद ४६—एक बार प्रिया-प्रियतम ने अपने-अपने वेष परिवर्तन कर लिये—श्रीराधाजी का वेष श्रीश्यामसुन्दरने और श्यामसुन्दर का श्रीराधारानी ने धारण कर लिया। गौर वर्ण को छिपाने के लिये कस्तूरी और श्याम को गौर करने के लिये, कुम्कुम लेप कर लिये। उस समय उनकी छवि अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रही थी, उसी रूप में वे समीप के संकेत कुंज में पधारे और स्वाभाविक वेष अनुरूप सुरत सुख में परिवर्तित केलि सुख का अनुभव करने लगे। इति ॥ ४६ ॥

**टीकानुवाद**—सदा परम प्रेम समुद्र में डूबे रहनेवाले, विनय व्रीडा आदि के भार से अवनत अर्थात युक्त, अनिर्वचनीय उन गौर-श्याम युगल किशोर के विशेष रसमय कुञ्ज केलि रस के रजनी वृतान्त को, पौर्णमासी नाम की तपस्विनी ने, जो प्रिया-प्रियतम की कुञ्ज केलि रस पोषक, प्रेम परिपाटी रस की उपासिका हैं—किसी सखी से पूछा। वह किसी तात्कालिक अपने पराक्रम को व्यक्त करनेवाले उन युगल के, उस संगम सुख विशेष का वर्णन करती है।

कस्तूरी और कुँकुम के यथोचित लेप के अङ्गराग से प्रिया-प्रियतम भली भाँति सजे हुए थे। विमुख जन को विमोहन निमित्त-यह उनका स्वाभाविक अङ्गों के वर्ण का परिवर्तन था। तथा 'प्रिय प्रिया-वेषधरौ' इस विशेषण से वस्त्र आभूषण आदि का परिवर्तन वर्णन किया गया है। इस रूप में दोनों—प्रिया-प्रियतम संकेत कुञ्ज में पधारे। सहज स्वभाव सुरत प्रसंग में भी परस्पर विपरीत सम्भोग सुख का अनुभव करने लगे। 'सुरति' शब्द से स्वार्थ में 'तद्धित' प्रत्यय होने पर 'सौरत' शब्द बना है। 'समीयतः' इसमें 'सम उपसर्ग' का यह अर्थ है कि वे दोनों मन तथा भावना से भी उस सुख में निमग्न हुए, क्योंकि वैसी भावना से ही उन दोनों को वैसी सुख प्राप्ति संभव थी। इस प्रकार आपके (पौर्णमासी के) उपदेशानुसार मैंने अपनी निज सखी की सहायता से प्रयत्न पूर्वक उनके सम्मिलन को सम्पन्न कराया। इस प्रकार सखी ने अपने उद्योग को सूचित किया। साथ ही यह भी व्यक्त किया कि आपकी कृपा से ही उनके उस संगम सुख विशेष को कुञ्ज जाल रन्ध्रों से मैंने मी अनुभव किया न कि आपने। यह पद्य अन्वय व्यतिरेक रूप से उन दोनों ही प्रकरणों में लागू हो जाता है—अर्थात् 'जहाँ पुरुष ही स्त्रियें और स्त्रियें ही पुरुष हैं—दोनों विपर्यय में समझ लेना चाहिये। इति ॥ ४६ ॥

ग्रन्थकार का अपना पद्य उदाहरण रूप में है—श्लोक भावानुवाद ४७—एक सखी दूसरी सखी

यथा वा—माधुर्य्यौको नाधुना वर्णनीयं रूपं यूनोरीहते यत्समीक्ष्य ।
रत्नादर्शे हन्त कृष्णः सतृष्णं राधाभावं राधिका कृष्णभावम् ।। ४७ ।।

काचित्सखी प्रियाप्रिययोर्नवयौवनागमस्वभावसुलभं परमोपचयमुपगतं यथावद् वर्णयितुमनीशा तयोरिङ्गितज्ञतया तन्मनोरथं कथयन्ती तयोर्माधुर्य्यातिशयं व्यञ्जयति मधुर्य्यौक इति । तयोर्यूनोर्यौवनेन सेवितयोः रूपं पूर्ववद् अधुना साम्प्रतं न वर्णनीयम्, तस्य गीर्गोचरत्वाभावात् । केवलमवलोकनीयमेवेति ध्वनिः । रूपातिशय इत्यनुध्वनिः । कथंभूतं रूपम्—माधुर्य्यौकः माधुर्य्याणां लावण्यविशेषाणामोक आस्पदम् । तथापि मत्सुखार्थं संक्षेपेणापि किञ्चित् कथयेति वदन्तीं तामाह—तौ पृथक् निजं निजं रूपं रत्नदर्पणे समीक्ष्य सम्यक् सादरमवलोक्य कृष्णः सतृष्णं यथा स्यात्तथा स्वमाधुर्य्योपभोगाय राधिकाभावमीहत इच्छति, राधिकाऽपि निजमाधुर्य्यं समीक्ष्य कृष्णभावं तत्सारूप्यमीहते । तत्तद्भावं विना तत्तन्माधुर्य्यस्य स्वयं रूपेणानुभवितुमशक्यत्वादिति भावः । हन्त इत्याश्चर्ये । एवं समासतः कथयन्ती तन्माधुर्य्यातिशयमेव व्यञ्जयति, निजनिजमाधुर्य्यासक्तौ तदनुभवलालसायाश्च स्वस्यैव माधुर्य्यातिशयैकनिदानत्वात् । एवं मधुररति कृतोऽयं तयोर्विनिमयः प्रकट एव । पद्यमेतदन्वयव्यतिरेकात्मकत्वात् पूर्ववदेवात्रलिखितम् ।। ४७ ।।

**यथा श्रीरूपगोस्वामी—**

**"अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी स्फुरित मम गरीयानेष माधुर्य्यपूरः ।**
**अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव ।।"**

---

से कहती है । प्रिया-प्रियतम के नवीन यौवनागम में स्वाभाविक विलक्षण सौन्दर्य माधुर्य्य को वर्णन करने में मैं समर्थ नहीं हूँ । वे दोनों रत्नजटित दर्पण में अपने-अपने अपूर्व रूप को देखकर मुग्ध हो जाते हैं। आश्चर्य है कि बड़ी तृष्णा के साथ श्रीराधा रूप की कामना करते हैं और और श्रीराधारानी कृष्ण रूप हो जाना चाहती हैं । इति ।। ४७ ।।

**टीकानुवाद**—कोई सखी प्रिया-प्रियतम के नवीन यौवन उद्भव से स्वभाव सुलभ प्राप्त हुई उत्कृष्टता का यथार्थ वर्णन करने में अपने आपको समर्थ नहीं समझती । केवल उन दोनों के चेष्टा ज्ञान के बल (अनुमान) पर ही वह दोनों के मनोरथ को वर्णन करने की दृष्टि से उनके परमोन्नत माधुर्य्य का व्यञ्जन (प्रकाशन) करती है । 'माधुर्यौक'—युवावस्था में पदार्पण करते समय दोनों के रूप का पहले के समान अब वर्णन करना संभव नहीं है । क्योंकि वह वाणी का विषय ही नहीं रहा, केवल दर्शन का विषय रह गया है, यह ध्वनि है । इसमें रूप का अत्याधिक्य है यह अनुध्वनि है । 'रूप कैसा है'—इस समय उनका रूप लावण्य विशेष का स्थान (निधान) बना हुआ है । सखी के आग्रह करने पर 'कि मेरे सुख के लिये थोड़े में ही कुछ तो वर्णन कर' ऐसा कहने पर वह कहती है । एक बार वे दोनों अपने-अपने रूप लावण्य को रत्न जटित दर्पण में भली भाँति बड़े आदर व चाव से निहार कर सतृष्ण हो गये । श्रीकृष्ण अपने उस माधुर्य्य के उपभोग के लिये राधिका भाव चाहने लगे—श्रीराधाजी अपने माधुर्य्य को देखकर कृष्ण सारूप्य की कामना करने लगीं । 'हन्त' का अर्थ आश्चर्य है । इस प्रकार थोड़े में वर्णन करती हुई सखी ने उनके माधुर्य्यातिशय को ही व्यक्त किया, क्योंकि—अपनी-अपनी माधुर्य्य सम्बन्धी आसक्ति और उसके अनुभव की उत्कट इच्छा में अपने-अपने माधुर्य्य सौन्दर्य की परम उत्कृष्टता ही एकमात्र मुख्य हेतु है । इस प्रकार मधुर रतिकृत, यह उन दोनों में विपर्यय स्पष्ट है । यह पद्य भी अन्वय-व्यतिरेकात्मक होने से पहले के समान है अतएव यहाँ लिखा गया है । इति ।। ४७ ।।

टि—(जो जिसके होने से हो वह अन्वय और जिसके न होने पर न हो वह व्यतिरेक कहाता है) इसी विषय में श्रीरूप गो० पाद का भी उदाहरण मिलता है ।

सौन्दर्यसागरो रसिकशिखामणि: कदाचिद्रत्नदर्पणे स्वरूपमवलोक्य विस्मिततम: स्वयमेवाह—अपरिकलित इति। अयं दर्पणे प्रत्यक्षतो दृश्यमान: कोऽसाधारण: परमाद्भुतोऽनिर्वचनीय: निरुपमो मम मदीयो माधुर्यपूर: माधुर्याणां लावण्यविशेषणां पूर: प्रवाह:। अत्र पूरशब्देन माधुर्याणां तदीयत्वारोपेण प्रतिक्षणं नवनवरसोद्वहनशालित्वम्, धैर्यधर्मादीनां निमज्जनशीलत्वम्, मनोनयनाद्यपवाहनकर्तृत्वञ्च ध्वनितम्। स्फुरति प्रकाशते। कथम्भूत:—अपरिकलितपूर्व: पूर्वं न परिकलित:—देशेऽस्मिन् देशान्तरेऽपि चित्रादौ स्वप्नेऽपि ममाप्यदृष्टचर:, तथा लोकेऽस्मिन् परत्र वा पुरन्दरादिवद् अतीतानागतविदां गर्गादिमुनीनां मुखादपि मया अश्रुतचर:, किमुतान्यै: कुत: पुनर्दृष्टचर:, तथा ध्याने मनोरथे च मनसाप्यननुभूतचर:। मया, किमुतान्यैरित्याद्यर्थत्रयं कलतिधातो: कामधेनुत्वात्। पुन: कथम्भूत:—चमत्कारकारी ममापि चमत्कारं करोतीति तथा, किमुतान्येषाम्। पुन: कथम्भूत:—गरीयान् गुरुतर:, गिरिवरधारिणापि मया यथाकथञ्चिदेव वोढुं शक्य:, प्रायो मम मूर्तेस्त्रिभङ्गललितत्वापादक:। यं माधुर्यपूरं ससम्भ्रमं प्रेक्ष्य अहम्—यस्यायं प्रतिबिम्ब: स बिम्बरूपोऽपि—ससंम्भ्रमं लुब्धचेता भवितुं योग्यमयोग्यम्, उचितमनुचितञ्चेत्यादिविचारं विनैव लुब्धं लोभाभिभूतं चेतो यस्य तथाभूत: सन् सरभसं ससंभ्रममेव राधिकात्वं तपोभि: प्राप्य, उपभोक्तुं सरभ-

---

**श्लोकार्थ**—यह श्रीकृष्ण की उक्ति है। वे एक बार दर्पण में अपने रूप का दर्शन करके विस्मय में निमग्न हो गये और सोचने लगे—यह माधुर्य्य की बाढ़ कहाँ से उमड़ पड़ी, इसका मैंने आज तक कभी दर्शन नहीं किया। यह तो अत्यन्त चमत्कार पूर्ण है और गम्भीर भी। अकस्मात् आज यह मेरे हृदय में स्फुरित हुई है—बड़ा आश्चर्य है कि मैं भी इसको देखकर स्वयं लोभाक्रान्त हो गया हूँ और श्रीराधिका के समान आवेग पूर्वक इसका उपभोग करना चाहता हूँ। इति।

**टीकानुवाद**—सौन्दर्य के समुद्र रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण एक बार रत्न जटित दर्पण में अपने रूप को देखकर अत्यन्त आश्चर्य चकित रह गये। अपने आप से ही कहने लगे। यह दर्पण में प्रत्यक्ष दीख रहा असाधारण—अनिर्वचनीय, परम अद्भुत और उपमा रहित, यह कौन—कहाँ से, मेरे लावण्य विशेषों का प्रवाह उद्भूत हो रहा है। यहाँ 'पूर:' शब्द से अपनी मधुरिमाओं का प्रतिक्षण नवीन-नवीन रसो का उद्वेलन और धैर्य धर्म आदिकों को डुबो देनेवाला तथा मन एवं नेत्र आदियों का आकर्षण कर्त्ता आदि ध्वनित होता है। 'स्फुरति' का अर्थ प्रकाशन है। फिर कैसा है? वह 'अपरिकलित ' है—अर्थात् यहाँ अथवा अन्यत्र, चित्र या स्वप्न में भी मैंने कभी नहीं देखा, तथा इस लोक में और इन्द्रादि के समान परलोक में, एवं गर्गादि मुनियों के मुख से—जो भूत-भविष्यत के ज्ञाता हैं—कभी नहीं सुना है, फिर और से तो सुनता ही कहाँ अथवा देखने की तो चर्चा ही क्या है? तथा यह ध्यान में भी अनुभव का विषय नहीं है। मैं भी उसे समझ नहीं सकता तब औरों की बात ही क्या चलाएँ आदि तीनों अर्थ 'कलति' धातु से प्रकट होते हैं क्योंकि 'कल' कामधेनु कही गई हैं।

टि—(यह विचार 'अपरिकलितपूर्व:' इस विशेषण में कलित शब्द पर है और यह 'कलित' कल धातु में 'त' प्रत्यय करने पर बना है। भगवान् सोचते हैं कि जब यह मेरे रूप की चमत्कारिता मेरे को भी विस्मय से डाल रही है तब औरों की तो बात ही क्या है। एवं 'गरीयान्' अर्थात् इसका भर-बोझ महान् है, मैंने गिरिराज के भार को तो किसी प्रकार धारण कर भी लिया था परन्तु इस रूप के बोझ ने ही असमर्थ करके प्राय: मुझे ललित त्रिभंगी बना दिया है। जिस माधुर्य के वेग को बड़े आश्चर्य से देखकर मैं—जिसका यह प्रतिबिम्ब है वह बिंब रूप, स्वयं भी इसके आश्चर्य से लोभी चित्त हो जाने से, मेरे लिये योग्य या अयोग्य, उचित है या अनुचित है—इत्यादि विचारों के बिना ही लोभाभिभूत चित्त हो गया हूँ और बहुत शीघ्र तपस्या द्वारा राधिका भाव को प्राप्त करके इसका उपभोग करना चाहता हूँ। यहाँ 'सरभसम्' एक ही क्रिया विशेषण का चार प्रकार से सम्बन्ध है। भाव यह है कि जैसे मेरे रूप माधुर्य्य

समेव कामये। एवमेकस्यैव क्रियाविशेषणस्य चतुर्धा सम्बन्धः। यथा मम माधुर्यपूरं राधिका मधुरस्नेहमय मनस्तया ससम्भ्रमं यथावदुपभुङ्क्ते, तथा स्वमेव माधुर्यं तद्रूपः सन् भोक्तुं कामय इति भावः। तस्य एव यथावन्मम माधुर्योपभोगयोग्यत्वात्। स्वस्यैव रूपे स्वस्यासक्तिरित्यत्र प्रमाणं तु पूर्वं लिखितमेव, अतः नात्र पुनर्लिख्यते। एवं स्वप्रतिबिम्बविषयकमधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्ययः॥

**यत्राज्ञानमेव ज्ञानम्। यथा दशमे—१०-१४-३८**

**"जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो। मनसो वचसो वाचो वैभवं तव गोचरः"।**

जानन्त इति। तैर्व्याख्यातमेव। अत्र दास्यरतिकृतोऽयमज्ञानज्ञानयोर्विपर्ययः प्रकट एव॥

**यथोक्तं श्रीवराहं प्रति ब्रह्मणा तृतीये—१८-२२।२७।२५।२६।२८**

एष ते देवदेवानामांघ्रिमूलमुपेयुषाम्। विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम्॥
अधुनैषोऽभिजिन्नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात्। शिवाय नस्त्वं सुहृदामाशु निस्तर दुस्तरम्॥
न यावदेष वर्द्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः। स्वां देवमायामास्थाय तावज्जह्यघमच्युत॥
एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छम्बट्करी प्रभो। उपसर्पति सर्वात्मन् सुराणां जयमावह॥
दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युमयमासादितः स्वयम्। विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि॥ इति
एष इति। अत्र देव! अच्युत! प्रभो! विश्वात्मन्! इत्यादिसम्बोधनैस्तमीश्वरं जानतो ब्रह्मणः

---

पूर को राधिका मधुर स्नेहमय मन से संभ्रम पूर्वक निसंकोच उपभोग करने में समर्थ है वैसे ही मैं भी अपने इस रूप-माधुर्य्य का राधिका रूप होकर उपभोग करने को लालायित हो रहा हूं। क्योंकि मेरे इस माधुर्य का निसंकोचता से उपभोग उसके द्वारा ही संभव है। अपने ही रूप में अपनी ही आसक्ति इस विषय में प्रमाण पीछे (विस्मापनं स्वस्य ......) लिखा जा चुका है दुबारा नहीं लिखा है। इस प्रकार अपने प्रतिबिम्ब विषयक मधर रति कृत यह दोनों का विपर्य्यय है। इति।

**मूलानुवाद**–जिस प्रेम नगर में अज्ञान ही ज्ञान माना जाता है। जैसा–भा० १०-१४-३८ में कहा है

**श्लोकार्थ**—मेरे स्वामी! बहुत कहने की आवश्यकता नहीं—जो लोग आपकी महिमा जानते हैं वे जानते रहें, मेरे मन, वाणी और शरीर तो आपकी महिमा जानने में असमर्थ हैं। इति।

**टीकानुवाद**—इसकी व्याख्या श्रीधर स्वामी पाद ने की है। यहाँ दास्य रति कृत यह अज्ञान-ज्ञान का विपर्यय है। ऐसे ही वराह भगवान् के प्रति ब्रह्मा का वचन भा० ३-१८-२२,२७,२५,२६,२८ में कहा है—पाँच श्लोकों का अनुवाद क्रम से प्रमाण में लिखा है।

देव! मुझसे वर पाकर यह दुष्ट दैत्य बड़ा प्रबल हो गया है। इस समय यह आपके चरणों की शरण में रहनेवाले देवताओं, ब्राह्मणों, गौओं तथा अन्य निरपराध जीवों को बहुत ही हानि पहुँचाने वाला, दुःखदायी और भयप्रद हो रहा है॥ २२॥

इस समय अभिजित नामक मङ्गलमय मुहूर्त्त का भी योग आ गया है, अतः अपने सुहृद हम लोगों के कल्याण के लिये शीघ्र ही इस दुर्जय दैत्य से निपट लीजिये॥ २७॥

देव! अच्युत! जब तक यह दारुण दैत्य अपनी बल वृद्धि की वेला को पाकर प्रबल हो, उसके पहले ही आप अपनी योगमाया को स्वीकार करके इस पापी को मार डालिये॥ २५॥

प्रभो देखिये लोकों का संहार करनेवाली सन्ध्या की भयंकर वेला आना ही चाहती है, सर्वात्मन्! आप उससे पूर्व ही इस असुर को मारकर देवताओं को विजय प्रदान कीजिये॥ २६॥

प्रभो! इसकी मृत्यु आपके ही हाथ बदी है। हम लोगों के बड़े भाग्य हैं, कि यह स्वयं ही अपने काल रूप आपके पास आ पहुँचा है। अब आप युद्ध में बलपूर्वक इसे मारकर हमें शान्ति प्रदान करें॥२८॥

स्तथोक्तिः "अनिष्टाशङ्कीनि बन्धुहृदयानि" इति न्यायेन प्रेम्णैव, अज्ञानप्रचुरापि ज्ञानाधिका। अत एव मैत्रेयेणापि अग्रत एवोक्तम्—"प्रहस्य प्रेमगर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत्।" इत्यपाङ्गेन भगवताङ्गीकृतं तद्वद् अत्र प्रेमगर्भेणेत्यपाङ्गविशेषणं तद्वचसः प्रेमगर्भत्वं व्यञ्जयति "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति भगवदुक्तेः। दास्यरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्ययः। अत्र विश्वात्मन्निति सम्बुद्धिः मम प्रणयसंभिन्नतया एवमुक्तिरिति त्वं विश्वात्मतया जानास्येवेति साभिप्राया॥

**तथा च दशमे—१०-८-२५—**

**"शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।**
**गृह्याणि कर्त्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्॥" इति।**

शृङ्ग्यग्निरिति। अत्र व्रजेश्वर्या मनसश्चाञ्चल्यं पुत्रविषयकरतिकृतत्वादज्ञदृष्ट्याऽज्ञानमेव, परन्तु ज्ञानिनां ज्ञानं व्रजवासिनामेवंविधाऽज्ञानोपरि निर्मञ्छनीक्रियते—इति श्रीशुकदेवाभिप्रायः, अस्य पद्यस्य श्रीव्रजेश्वरीयशोदास्तुतिप्रकरणे लिखितत्वात् व्रजवासिनां संसारस्य कृष्णमयत्वाच्च॥

**यथा वा—प्रौढप्रेममयं भाति यद् व्रजे व्रजवासिनाम्।**

---

**टीकानुवाद**—यहाँ देव! अच्युत! प्रभो! विश्वात्मन्! आदि सम्बोधनों से उन ईश्वर को जानते हुए भी ब्रह्मा द्वारा वैसा (अज्ञान) वर्णन किया गया है। प्रेमी बन्धुओं के हृदय अनिष्ट की आशंका किया करते हैं—इस न्याय से प्रेम के कारण ही अज्ञान प्रचुर उक्ति भी यहाँ ज्ञान से अधिक मानी गई है। इसीलिये मैत्रेयजी ने भी पहले कहा है भा० ३-१९-१—

**श्लोकार्थ**—मैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी! ब्रह्माजी के ये निष्कपट अमृतमय वचन सुनकर भगवान् ने उनके भोले पन पर मुसकरा कर अपने प्रेमपूर्ण कटाक्ष के द्वारा उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इति॥१॥

इस प्रकार 'अपांगेन' का अर्थ है तिरछी दृष्टि से भगवान के ब्रह्मा की उक्ति को स्वीकार किया। वैसे ही यहाँ 'प्रेमगर्भेण ' इत्यादि, यह अपांग का विशेषण उनकी वाणी की प्रेमयुक्तता का व्यञ्जन करता है। जैसा गीता में भगवान् का वचन है 'जो मुझे जैसा भजे मैं भी वैसा ही उसे भजता हूँ'। यहाँ दास्य रति कृत दोनों में विपर्यय है। यहाँ विश्वात्मन्!' यह सम्बोधन इस बात को स्पष्ट करता है कि मेरी यह उक्ति प्रेम से मिली हुई है अतएव विश्वात्मन् होने के कारण आप जानते ही हो इस अभिप्राय को व्यक्त करती है। इसी प्रसंग में भा० १०-८-२५ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—कन्हैया और बलराम दोनों चंचल और बड़े खिलारी थे। वे कहीं हरिन, गाय आदि सींग वाले पशुओं के पास दौड़ जाते, तो कहीं धधकती आग से खेलने को कूद पड़ते। कभी दाँत से काटने वाले कुत्तों के पास पहुँच जाते, तो कभी आँख बचाकर तलवार उठा लेते। कभी कुएँ या जल के गड्ढे के पास जल में गिरते-गिरते बचते, कभी मोर आदि पक्षियों के निकट जाते और कभी काँटों की ओर बढ़ जाते थे। माताएँ बहुत रोकतीं परन्तु उनकी एक न चलती। ऐसी स्थिति में वे घर का काम-धन्धा न सँभाल पातीं। उनका चित्त बच्चों को भय की वस्तुओं से बचाने के लिये अत्यन्त चंचल रहता था। इति॥२५

**टीकानुवाद**—यहाँ व्रजेश्वरी यशोदा के मन की चंचलता पुत्र विषयक (वत्सल) रति द्वारा हो रही है। परन्तु अज्ञानियों की दृष्टि में यह अज्ञान ही है और ज्ञानियों का ज्ञान व्रजवासियों के ऐसे अज्ञान पर न्यौछावर कर दिया जाता है। यही श्रीशुकदेवजी को अभिप्रेत है। यह पद्य श्रीव्रजेश्वरी यशोदा की स्तुति प्रकरण में लिखित होने के कारण व्रजवासियों का समस्त संसार श्रीकृष्णमय ही है यह निर्दिष्ट करता है।

अज्ञानं तदभिज्ञानां विज्ञानादधिकं मतम् ॥ ४८ ॥

कश्चिद् गुरुतरगुरुचरणकरुणया युगलचरणकमलपरिचरणपरायणः श्रीव्रजजनचरणरेणुसर्वस्व परमानन्यो निजान्तेवासिनं विमुखदेशविशेषनिवासिनमत एवासत्सम्प्रदायाऽशुद्धसिद्धान्तनिबद्धश्रद्धाम पारमार्थिकसम्बन्धसम्भवस्नेहनिबन्धनया करुणया बहिर्मुखजनसङ्गसम्भूतमुखरतापरिरम्भितं भ्रान्ततया ऽसाध्यमपि । शनैरुपदिशति—प्रौढप्रेममयमिति । हे महापण्डित ! प्रौढं ज्ञानवैराग्यादिसहायानपेक्षतया परमसमर्थं तत्प्रेम च तन्मयं प्रौढप्रेममयमित्यर्थः । प्रौढप्रेमात्मकं सिताक्रीडनकवद् यद्व्रजवासिनामज्ञा भाति प्रकाशते, तद् बालदृष्ट्या शास्त्रदृष्ट्या वा अहन्ताममतात्मकत्वेन अज्ञानमिव भासमानमप्यभिज्ञानां न त्वद्विधानां विज्ञानामपरोक्षब्रह्मज्ञानादधिकं मतं सम्मतम् ।

तथा श्रीभागवते एकादशस्कन्धे—२०-३१—

"तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै महात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥"

तथा च श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ—

"ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्द्धगुणीकृतः । नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥"

यथा च श्रीहरिभक्तिसुधोदये—

"त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे । सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो ॥"

तथा च भावार्थदीपिकायाम्—

"त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः । कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥" इति ।

---

ग्रन्थकार का यह पद्य इस प्रसंग में है—श्लोकानुवाद ४८— कोई गुरु अपने शिष्य को व्रजवासियों की महिमा के प्रसंग में उपदेश देता है—व्रज में व्रजवासियों का जो उच्चकोटि का प्रेमपूर्ण अज्ञान दीख पड़ता है वह ज्ञानियों के विज्ञान से भी अधिक (महत्वपूर्ण) माना गया है । इति ॥ ४८ ॥

**टीकानुवाद**—कोई अतिशय गुरु चरणों की कृपा से श्रीराधा-माधव के चरण-कमलों के सेवा भाव में आसक्त और व्रजवासियों की चरण धूलि को ही सर्वस्व समझनेवाला परम अनन्य व्यक्ति, जो (हरि विमुखों के देश का निवासी, असत् सम्प्रदाय और अशुद्ध सिद्धान्त में श्रद्धा रखनेवाले, बहिर्मुखों के संग से मुखरता (अधिक बोलने वाला) आदि दोषों से आक्रान्त और भ्रान्त होने के कारण असाध्य भी, अपने शिष्य को पारमार्थिक (वास्तविक) सम्बन्ध से उत्पन्न स्नेह पूर्वक करुणा से धीरे-धीरे उपदेश देते हैं। हे महा पंडित ! ज्ञान वैराग्य आदि की सहायता के बिना वह प्रेम परम समर्थ है। 'प्रौढप्रेममय' का यह अर्थ है। ऐसे प्रौढ प्रेम से युक्त व्रजवासियों का अज्ञान है । वही मिश्री के खिलौनों की तरह प्रकाशित रहता है वह बाल दृष्टि से अथवा शास्त्र दृष्टि से अहन्ता-ममता के कारण अज्ञान की तरह भासित होने पर भी अभिज्ञों (ज्ञानियों) के लिये, न कि तेरे जैसे के लिये अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान से भी अधिक माना गया है। जैसा कि भा० ११-२०-३१ से कहा है ।

**श्लोकार्थ**—इसी से जो योगी मेरी भक्ति से युक्त और मेरे चिन्तन में मग्न रहता है उनके लिये ज्ञान अथवा वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्ति द्वारा ही हो जाता है ॥ ३१ ॥ ऐसा ही भक्तिरसामृत सिन्धु में कहा है—यदि ब्रह्मानन्द को परार्ध संख्या में गुणा किया जाय तो भी भक्ति सुख समुद्र के एक परमाणु के तुल्य नहीं हो सकता है । इति । ऐसा ही हरि भक्ति सुधोदय में भी कहा है—

**श्लोकार्थ**—हे जगद्गुरो ! आपके दर्शन से जो आनन्द का विशुद्ध समुद्र मेरे हृदय में उमड़ रहा है, उसके सामने अनन्त ब्रह्म सुख भी गाय के खुर के बराबर है । इति । ऐसे ही भावार्थ दीपिका का प्रमाण है—

तथा च "नायं सुखाय" इत्यादिबहूनि वचनानि ततः "शब्दब्रह्म परब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ।" इति षष्ठे चित्रकेतुं प्रति श्रीमदनन्तोक्तेः । तथा "यस्य प्रभा" इत्यादिब्रह्मसंहितादिवाक्यैर्भगवतः श्रीकृष्णस्य सूर्यसमत्वं तदुक्तस्य ब्रह्मणस्तत्प्रभात्वं प्रसिद्धमेव । अतो बहिर्मुखजनोपदिष्टमसत्सम्प्रदायश्रद्धाभरमपास्य भक्तजनोपास्यतमं तमञ्जनत्विषं विशङ्कं सततं भजेति निष्कर्षः । अत्र मत्योह्वयसञ्चारिभावसंवलितशिष्य-विषयकवत्सलरतिकृतोऽयं तस्यानन्यरसिकस्य मनस्युद्भूतस्तयोर्विपर्य्ययः ॥ ४८ ॥

**यथा वा—अङ्गालंकृतभूषणे रतिपतेरङ्गप्रभादूषणे**
**वृष्णिवंशविभूषणे रसमये कृष्णे परब्रह्मणि ।**
**लोके गोकुलवासिनां प्रविलसज्ज्ञानानुरागात्मिका-**
**विद्योद्योतमवेत्य हन्त मुनयः शोचन्त्यविद्योज्झिताः ॥ ४९ ॥**

कदाचिद् भक्ताधिराजेन श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्दलुब्धमधुव्रतेन श्रीमदुमावल्लभेन निखिल-संसारिजनवृजिननिरसनायाङ्गीकृतसततपरिभ्रमसुलभो निरन्तरं वल्लकीवल्लभो निजरमण गुणगानरस-महासारवारिदो नारदो गोकुलपालकबालकस्य मत्प्रभोः किञ्चिदुदन्तं कथयेति सम्पृष्टः प्रेमामृतसिन्धु-

---

**श्लोकार्थ**—आपके कथा सुधा-सागर में विहार करनेवाले प्रसन्न चित्त कुछ पुण्यात्मा जन चतुर-वर्ग (धर्म अर्थ काम मोक्ष) को तृण के समान (तुच्छ) समझते हैं। ऐसा भागवत १०-६-२१ में कहा है ऐसे ही और भी बहुत से वचन हैं। ऐसे ही चित्र केतु के प्रति शेष भगवान् का वचन—भा० छटे स्कन्ध में है—शब्द ब्रह्म और परब्रह्म दोनों मेरे नित्य शरीर हैं। ब्रह्मसंहिता आदि के वाक्यों से भगवान् कृष्ण की सूर्य तुल्यता वर्णन हुई है और उनमें वर्णित ब्रह्म उन श्रीकृष्ण की कान्ति-मात्र है। ऐसा उसमें प्रसिद्ध है। इसलिये बहिर्मुखों द्वारा उपदिष्ट असत् सम्प्रदाय में उत्पन्न श्रद्धा को दूर हटाकर भक्तजनों के उपास्य श्याम कान्ति श्रीकृष्ण का निशंक सदा भजन कर यह निष्कर्ष है। यहाँ मति नाम वाले संचारी भाव से सम्मिलित शिष्य विषयक वत्सल रति द्वारा किया गया यह उस अनन्य रसिक के मन में उत्पन्न अज्ञान-ज्ञान का विपर्यय स्पष्ट ही है। इति ॥ ४८ ॥

ग्रन्थ रचयिता की निज उक्ति है—श्लोक भावार्थ ४९—एक बार श्रीनारदजी कैलाश पहुंचे। श्रीशंकर ने श्रीकृष्ण लीला श्रवण की इच्छा प्रकट की। इस पर श्रीनारदजी बोले—भगवान् श्रीकृष्ण बड़े ही सुन्दर हैं, भूषणजी उनके अंगों से सुशोभित होते हैं। कामदेव की कान्ति तो उनके सामने फीकी पड़ जाती है। वे वृष्णि-यादव वंश को विभूषित करनेवाले हैं, एवं साक्षात् रसमय परब्रह्म हैं—अपने सौन्दर्य माधुर्य्य से प्रेमियों के चित्त को आकर्षण करने के कारण वास्तविक कृष्ण तो है ही। लोक में गोकुलवासी उनसे अत्यन्त अनुराग करते हैं अथवा लोक में गोकुलवासियों के अनुराग के स्थान हैं। व्रजवासियों का उनमें इतना उत्कृष्ट अनुराग है कि वे उनके सामने किसी को कुछ नहीं गिनते है। ज्ञानियों की दृष्टि में उनका यह अनुराग अविद्या रूप सूर्य अथवा आतप के सदृश है, परन्तु उनके उस सुखातिशय को जानकर बड़े दुख के साथ मुनिजन, जो अविद्या से मुक्त हो गये हैं अर्थात् जीवन मुक्त हैं वे शोकाकुल होते हैं ॥४९॥

विशेष व्याख्या ग्रन्थकार की टीका के अनुवाद में उनके शब्दों में पढ़िये।

**टीकानुवाद**—किसी समय भक्तराज शंकर जो श्रीगोविन्द चरणारविन्द मधु के लोभी भ्रमर समान हैं, उन उमा वल्लभ ने श्रीनारदजी से प्रश्न किया कि हमारे प्रभु के कुछ (मधुर) समाचार सुनाओ—नारदजी का तो स्वभाव ही भगवल्लीला गान है। समस्त विश्व के ताप संतप्तजनों के पाप दूर करने के लिये सदा भ्रमण करते रहने का व्रत उन्होंने अंगीकार किया हुआ है अतएव वह सबको सुलभ हैं। वे सदा वल्लकी नाम की वीणा बजाते—हरि यशगाते, अपने प्रभु के गुणगान के आनन्द को वर्षाते फिरते रहते हैं।

प्रविष्टोऽसौ जीवनमुक्तानामनुतापवर्णनव्याजेन तस्य प्रभोरानन्दप्रदत्वादिगुणवर्णनपूर्वकं घोषनिवासिनां प्रेम-परमोन्नतेः परमपुरुषार्थतां व्यञ्जयति—अङ्गालङ्कृतभूषण इति। कृष्णे भुवनत्रयस्य परमानन्ददानाय सच्चिदानन्दमयसर्वचित्ताकर्षकरूपे तमालश्यामलत्विषि यशोदानन्दने व्रजवासिनां श्रीयशोदानन्दप्रभृतीनां सर्वेषामेव प्रविलसन्नानानुरागात्मिकाविद्योद्योतं प्रकर्षेण लसन्तः ज्ञानयोगादिभ्योऽपि विराजमाना ये नाना-विधा अनुरागप्रेमपर्य्यायाः तदात्मिकाः तद्रूपा या अविद्या अज्ञानं तस्या उद्योत आतपः तमवेत्य ज्ञात्वा, न तु दृष्ट्वा, तेषां तादृशभाग्याभावात्। हन्त इति खेदे। मुनयो जीवनमुक्ताः शोचन्ति पश्चातापं कुर्वन्ति, तादृग्विधप्रेमाभावात्। तेषां मनस्यनुतापेनाविर्भूतमिति भावः। कीदृशास्ते—अविद्योज्झिता अविद्यया अज्ञानेनोज्झितास्त्यक्ताः। इदानीं तदज्ञानं यदि परावृत्यागतं स्यात्तदानुगतव्रजवासिजनकरुणया मनोभिलषितं कदाचित्स्यादिति भावः। अतस्तदज्ञानं निजज्ञानादधिकं मत्वा बन्धुमिव शोचन्ति। अथ पूर्वोक्तं परमानन्द-प्रदत्वं षड्भिर्विशेषणैर्विशदयति। कीदृशे कृष्णे—अङ्गालङ्कृतभूषणे अङ्गैरलङ्कृतानि भूषणानि येन स तस्मिन्निति ध्वनितेन परमसौन्दर्य्येण सामान्यतः सर्वचक्षुष्मतां दर्शनीयतमत्वेन परमानन्दप्रदत्वमुक्तम्। पुनः कीदृशे—रतिपतेः कन्दर्पस्याङ्गप्रभादूषणे अङ्गप्रभां दूषयतीति तथा तस्मिन्निति ध्वनितेन लावण्यातिशयेन त्रिभुवनभुवामनन्तनतभ्रुवां चित्ताकर्षकत्वेन परमानन्दप्रदत्वं प्रोक्तम्। पुनः कीदृशे—वृष्णेर्वंशस्य गोपयदु-कुलस्य विभूषणे परमशोभाप्रदे, एतेन ध्वनितेन सकलकल्याणगुणनिलयत्वेन गोपानां यदूनाञ्च निजवंशोत्त-

---

वे भक्तों के लिये मेघ के समान अविच्छिन्न प्रेमानन्द की वर्षा करते ही रहते हैं। शिवजी के प्रश्न को सुनकर वे प्रेम सागर में डूब गये और गोकुल पालक-बालमुकुन्द श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन करने लगे। व्रजवासी जन श्रीश्यामसुन्दर के साथ अगाध प्रीति करके जिस (अलौकिक) सुख का आस्वादन करते हैं उसे देखकर जीवन मुक्तों को भी (उसे पाने की लालसा से) महान् पश्चाताप होता है। इस वर्णन के व्याज (मिस) से, वे भगवान श्यामसुन्दर के आनन्द प्रदत्व आदि गुण वर्णन के साथ-साथ, घोष निवासी (गोप-गोपी) जन के प्रेम की परम उन्नति का, जो कि एकमात्र परम पुरुषार्थ है—व्यञ्जन करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकों के लिये सच्चिदानन्द और सर्व चित्ताकर्षक रूप हैं। तमाल के समान श्यामल कान्ति, उन यशोदा-नन्दन में, मैया यशोदा, नन्दबाबा आदि सभी व्रजवासी जनों की अगाध प्रीति है। वे (व्रजजन) अपनी गाढ रागात्मक अविद्या के प्रकर्ष से युक्त होते हुए, ज्ञान योग आदियों की अपेक्षा भी अधिक शोभाय-मान है। उनके अनेक विध अनुराग अथवा प्रेम के पर्यायवाली अविद्या अर्थात् अज्ञान उद्योत—सूर्य सदृश प्रभाव को जानकर—न कि देखकर जीवनमुक्त मुनि दुःखपूर्वक पश्चाताप करते हैं, क्योंकि उनका वैसा भाव ही नहीं है, न ही वैसा प्रेम है। इसीलिये उनके मन में सदा अनुताप बना ही रहता है। वे मुनि जन अज्ञान (वृति) से छुटकारा पा चुके हैं—भाव यह है कि वे सोचते हैं कि इस समय यदि वह अज्ञान लौटकर हमको प्राप्त हुआ होता तो व्रजवासी जनों की कृपा से, उनकी तरह हमारा मनोभिलाषा भी कदाचित् पूर्ण हो पाता। इसलिये व्रजवासियों के गाढानुराग रूप अज्ञान को अपने ज्ञान की अपेक्षा अधिक समझ कर वे उसके लिये किसी निज कुटुम्बी (बन्धु) की तरह शोक करते रहते हैं। भगवान् के पूर्वोक्त परमानन्द प्रदत्व का अब ६ विशेषणों के द्वारा टीकाकार स्पष्टीकरण करते हैं। १—भगवान् कैसे हैं—अपने परम मनोहर मुख-कर-चरण आदि अंगों से आभूषणों को भी जो भूषित करते हैं इस विशेषण की ध्वनि द्वारा अपनी परम सुन्दरता आदि से साधारणतया सभी नेत्र आदि ज्ञान इन्द्रिय वालों के लिये देखने योग्य, परम सुन्दर रूप द्वारा परमानन्द दान करते हैं यह बात बताई गई है। २—फिर उनके सम्मुख कामदेव की कान्ति (शोभा) भी फीकी पड़ जाती है, इससे ध्वनित हुआ कि वे अपने लावण्यतिशय से तीनों लोकों की अनन्त अंगनाओं के चित्त को आकृष्ट करके परमानन्द प्रदान करनेवाले हैं जैसा पहले कहा है। ३—फिर वह यदुवंश और गोपवंश के भूषण (शिरोमणि) है अर्थात् उन्हें सुशोभित करनेवाले हैं, इससे यह व्यक्त हुआ

मत्वेन परमानन्दप्रदत्वमुक्तम्। पुनः कीदृशे—परे परमेश्वरे, एतेन सकामनिष्कामाणां प्रीतिभक्तिमतां सर्वपुरुषार्थप्रदत्वेन परमपुरुषार्थत्वेन च परमानन्दप्रदत्वमुक्तम्। पुनः कीदृशे—ब्रह्मणि परमात्मनि, एतेन ब्रह्मविदां शान्तभक्तिमतां सौन्दर्यानुभवेऽपि परमात्मत्वेनैव परमानन्दप्रदत्वमुक्तम्। एवं हे चन्द्रशेखर! तव प्रभोः नन्दनन्दनस्य माधुर्यादिभिः समस्तं जगत् परमानन्दमवाप, किन्तु जीवन्मुक्ता एव तापेन शोचन्ते। तस्माद् गोकुलवासिनामज्ञानमेव ज्ञानमिति सिद्धम्। अत्र श्रीदेवर्षेर्दास्यरतिकृतोऽयं विपर्ययः॥ ४९॥

**यत्र पराजय एव जयः। यथा तृतीये—३१-१८**

**"येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश! संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन।**
**स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात्॥"**

येनेदृशीमिति। पुरुदयेन परमकृपालुना येन भवता ईदृशीं स्वाभाविकस्वविषयकप्रीतिभक्तिमयीं गतिं संग्राहितः सम्यक्प्रकारेण हृदि नैसर्गिकदास्यभावनापूर्वकमिति संशब्दार्थः। कीदृशेन येन—भवादृशेन भवानेव भवत्सदृशो नान्य इति व्यञ्जितेनानन्वयालङ्कारेण निरुपत्वं ध्वनितम्। स दीननाथः अस्मद्विधानां परिपालकः स्वेनकृतेनैवोपकारेण तुष्यतु, अञ्जलिं विना। नाम इति प्रसिद्धार्थकमव्ययम्। कः प्रतिकुर्यात् प्रत्युपकारं कुर्यात्। तदेवं गर्भगतस्य जीवस्य तस्य अविद्यागर्भगतस्यात्मनो निखिलजीवसङ्घस्य च

---

कि वे समस्त कल्याण गुण-गण निधि हैं अर्थात् इसलिये गोपवंश और यदुवंश को उत्तमता युक्त करके परमानन्द प्रदान करते हैं। ४—फिर वे परमेश्वर हैं—इस विशेषण से सकाम व निष्काम प्रीति-भक्ति करनेवाले जनों को समस्त पुरुषार्थों का दान करते रहते हैं एवं परम पुरुषार्थ रूप से (निज) परमानन्द प्रदान करते हैं। ५—फिर वे परब्रह्म अर्थात् परमात्मा है—इस विशेषण से यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म ज्ञानी जो शान्त रस के माध्यम से भक्ति करते हैं उन्हें सौन्दर्य-माधुर्य आदि का अनुभव होने पर भी परमात्म रूप से परमानन्द का दान करते हैं। ६—नारदजी कहते हैं हे चन्द्रशेखर! आपके प्रभु नन्दनन्दन के सौन्दर्य, माधुर्य, कारुण्य, वात्सल्य आदि द्वारा समस्त संसार को परमानन्द प्राप्त हुआ है, किन्तु केवल जीवन मुक्त ही संतप्त हैं—शोकाकुल हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि गोकुलवासियों का अज्ञान ही ज्ञान है। यहाँ देवर्षि नारद की दास्य रति द्वारा यह विपर्यय स्पष्ट ही है। इति॥ ४९॥

**मूलानुवाद**—जिस प्रेम नगर में पराजय ही जय समझी जाती है। प्रमाण में भा० ३-३१-१८ का उल्लेख किया गया है—

**श्लोकार्थ**—स्वामिन्! आप बड़े दयालु हैं, आप जैसे उदार प्रभु ने इस दस मास के जीव को ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान दिया है। दीनबन्धो! इस अपने किये हुए उपकार से आप प्रसन्न हों, क्योंकि आपको हाथ जोड़ने के सिवा आपके उस उपकार का बदला तो कोई दे भी क्या सकता है। इति।

**टीकानुवाद**—'पुरुदयेन' का अर्थ है—परम कृपालु। आप परम कृपालु हैं। जिस आपने ऐसी स्वाभाविक, अपने विषय की प्रीति और भक्तिमयी गति को प्रदान किया है। 'संग्राहिरः'—सं उपसर्ग का अर्थ है भली भाँति हृदय में स्वाभाविक रूप से दास्य भावना पूर्वक, वह प्रीति आपने हमको प्रदान की है। फिर आप कैसे हैं—इस बात को 'भवादृशेन' शब्द से बताया है—अर्थात् आपके जैसे तो आप ही हैं और कोई (कहीं) नहीं है। इस प्रकार व्यक्त हुए अनन्वय नामक अर्थालङ्कार द्वारा भगवान की निरुपमता ध्वनित हुई। वे दीनानाथ हमारे जैसों के परिपालक अपने ही द्वारा किये गये उपकार से संतुष्ट हों। यह जीव तो प्रार्थना के लिये अपने बल से अंजुली बाँधने को भी समर्थ नहीं है। 'नाम' यह प्रसिद्धि अर्थ में अव्यय है। (टि—जो सब वचन, विभक्ति, लिंगों में समान होता है उसे अव्यय कहते हैं) 'कः' ऐसे परम दयालु आपके उपकार का बदला कौन चुका सकता है। इस प्रकार गर्भ में आनेवाले जीव महा दुःखी होते

भवत्करुणाप्रथमांशस्फुरितया जीवस्य स्वाभाविकभगवद्विषयकदास्यरत्या दैन्येन तत्सेवासाधनसामर्थ्य सम्भावनातिरस्कारेण निजपराजयमननं जयादधिकम्, तथैव क्रमेण भगवद्वशीकृतिसिद्धेः। दास्यरतिकृतोऽयं विपर्य्ययः ॥

**यथा दशमे श्रीभगवद्वाक्यम्—१०-६०-५७**

**"दूतस्त्वयात्मलभने सुविविक्तमन्त्रः प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत् ।**
**मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः ॥" इति।**

दूत इति । वयं प्रतिनन्दयाम इति वयं प्रतिनन्दनं श्लाघनं तन्मात्रे समर्थाः, न तु तथा प्रतिकर्त्तुमिति आत्मनः पराजयमननं जयादधिकम् । अन्यद् व्याख्यातमेव श्रीधरस्वामिभिः ॥

**तथा दशमे भगवद्वाक्यम्—१०-३२-२२**

**"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।**
**या माऽभजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥" इति ।**

न पारयेऽहमिति । वो युष्माकं स्वसाधुकृत्यं भवतीभिः कृतं निरवद्यप्रेमलक्षणमसाधारणमुपकारमहं कर्त्तुं न पारये न समर्थोऽस्मि, ततः भवत्कृतं तद् वो युष्माकमेव साधुना तेनैवोक्तकृतेन प्रतियातु प्रतिकृतं

---

हैं। जीव का अविद्या गर्भ में रहना स्वाभाविक है। सभी जीवों की यह स्थिति है। प्रथम बार स्फुरित हुई, भगवत् करुणा में ही यह सामर्थ्य है कि वह स्वाभाविक रूप से (उस जीव में) आत्मा भगवद विषयक दास्य रति का प्रादुर्भाव करती है और उससे उदित हुई जीव की यह दीनता—कि वह भगवत् सेवा के साधन और सामर्थ्य की सम्भावना ही नहीं कर सकता। अतः यों उसमें तिरस्कार की भावना का उदय होता है और इस प्रकार जीव का अपना पराजय, जय से भी कहीं अधिक है। क्योंकि ऐसे ही क्रम से भगवदाधीन होना सिद्ध होता है। दास्य रति कृत यह (पराजय-जय का) विपर्यय है।

जैसा कि भा० १०-६०-५७ में भगवद्वाक्य है।

**श्लोकार्थ**—तुमने मेरी प्राप्ति के लिये दूत के द्वारा अपना गुप्त संदेश भेजा था, परन्तु जब तुमने मेरे पहुँचने में विलम्ब देखा, तब तुम्हें यह सारा संसार सूना दीखने लगा। उस समय तुमने अपना यह सर्वाङ्ग सुन्दर शरीर किसी दूसरे के योग्य न समझ कर इसे छोड़ने का संकल्प कर लिया था। तुम्हारा यह प्रेम भाव तुम्हारे ही अन्दर रहे। हम इसका बदला नहीं चुका सकते। तुम्हारे इस सर्वोच्च प्रेम-भाव का केवल अभिनन्दन करते हैं। इति ॥ ५७ ॥

**टीकानुवाद**—'वयं.......' इसका अभिप्राय है कि हम केवल श्लाघा या प्रशंसा ही करने में समर्थ हैं न कि प्रत्युपकार करने में। इस प्रकार अपना पराजय स्वीकार करना जय से अधिक है और श्रीधर स्वामी पाद ने विशेष व्याख्यान किया है। इति। जैसा कि भा० १०-३२-२२ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—मेरी प्यारी गोपियो ! तुमने मेरे लिये घर गृहस्थी की उन बेड़ियों को तोड़ डाला है—जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीर से, अनन्त काल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्याग का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। तुम अपने सौम्य स्वभाव से, प्रेम से मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणि ही हूँ ॥ २२ ॥

**टीकानुवाद**—आप लोगों द्वारा किये गये दोष रहित अनुरागात्मक असाधारण उपकार का बदला चुकाने में मैं सर्वथा समर्थ नहीं हूँ। अतः आप लोगों ने जो साधुता अपने अतिशय प्रेम के रूप में प्रकट की

भवतु, तथा कर्त्तुं वयं न प्रभवाम इत्यर्थः। अत्र सर्वसामर्थ्यवतोऽपि भगवतस्तथोक्तिः व्रजसुन्दरीविषयक-मधुररतिकृतत्वात् तत्र पराजयमननमपि जयादधिकम्, परमप्रेम्णस्तथैव स्वभावात् ॥

**यथा कस्यचिन्महानुभावस्य—**

**त्वय्यैव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकाङ्क्षति ॥ इति।**

त्वयीति। अत्रापि हे कपे! इति सम्बुद्धिः श्रीरामचन्द्रस्याञ्जनीसुतं प्रति तत्र यत्त्वयोपकृतं तत्त्वय्येव तिष्ठतु, नाहं मनसा स्मरामि, यतः प्रतिकर्त्तुमक्षम इत्येवार्थः। 'नरः प्रत्युपकारार्थी' इत्युत्तरार्द्धन्तु युक्तिमात्रकथनं पूर्वार्द्धार्थपोषणार्थमेव, ततः पूर्ववदात्मनः पराजयमननं जयादधिकमिति तथैव परम-कृपालुता संवलितभगवत्तासिद्धेः। श्रीरघुवरस्य भक्तविषयकवत्सलरतिकृतोऽयं तथा श्रीजानक्यां मधुर-रतिकृतोऽयं विपर्य्ययः ॥

**यथा वा कस्यापि—"भिन्नवीरवलयोऽपि नाशकद्गन्तुमेष सुहृशो भुजान्तरात्।**
**वेणुपर्व मधुपेन भिद्यते न क्वचित्कमलकुड्मलं पुनः ॥" इति।**

काचित्सहचरी स्वप्रियसखीपुरतः शिरीषकुसुमसुकुमार्य्या अपि निजसख्या विक्रमं कथयन्ती नायकशिरोमणे रसज्ञतामेव व्यञ्जयति—भिन्नवीरवलयेति। मल्लयुद्धकौतुके सुबलादिभिर्निजभुजबलनिबद्धे-नापि येन भिन्नं निजाङ्गाद् बलेनापसारितं वीराणां तेषां सखीनां वलयमण्डलं येन तथा सुविक्रमोऽपि एष

---

है वही उसके प्रत्युपकार रूप में रहने योग्य है। हम आप लोगों के प्रेम का बदला देने में असमर्थ हैं। यह अर्थ होता है। यहाँ इतना समझना है कि समस्त सामर्थ्यवान भगवान् का ऐसा कहना, व्रज सुन्दरी विषयक मधुर रति के हेतु से है। इस प्रसंग में पराजय स्वीकार करना, जय से भी अधिक माना गया है, क्योंकि उच्च कोटि के प्रेम का स्वभाव ही ऐसा है। इति। किसी अन्य महानुभाव का भी वचन इस प्रसंग में उद्धृत किया गया है—

**श्लोकार्थ**—हे कपि! तुमने जो उपकार किया है वह तुम में ही रहे अर्थात् वह आपकी महत्ता है। क्योंकि प्रत्युपकार करने की (बदला चुकाने की) इच्छा वाला मनुष्य अपने हितैषी की विपत्ति चाहता है। इति।

**टीकानुवाद**—यहाँ भी हे कपे! यह सम्बोधन जो श्रीराघवेन्द्र द्वारा अञ्जनी सुत के प्रति प्रयुक्त हुआ है, इसी बात को बताता है। वे कहते हैं कि तुमने जो उपकार किया है वह तुम में ही रहे। मैं उसका मन से स्मरण भी नहीं करना चाहता क्योंकि मैं उसका प्रतिकार करने में समर्थ नहीं हूं। 'नरः ' यह उत्तरार्ध तो युक्तिमात्र का कथन है, केवल पूर्वार्ध पोषण के लिये समझना चाहिये। इसमें पूर्ववत अपना पराजय मानना जय से भी अधिक है। क्योंकि वैसा मानने से ही परम कृपालुता पूर्ण भगवत्ता सिद्धि—इस रूप में है। श्रीरघुवीर का भक्त विषयक वत्सल रति कृत, तथा श्रीजानकी में मधुर रति कृत यह विपर्यय हुआ है। इति। किसी अन्य कवि का भी उदाहरण इस पद्य द्वारा ग्रन्थकार देते हैं—

**श्लोकार्थ**—बड़े-बड़े वीरों के समूह (मंडल) को भी छिन्न-भिन्न करके निकल आनेवाला भी यह वीर, आज इस सुनयना के बाहुपाश से छूटने में समर्थ नहीं है। भाँवरा बाँस की गाँठ को भेदन करने में सामर्थवान होने पर भी कमल की कोमल पाँखुरी को नहीं छेद सकता। प्रेम की महिमा का स्पष्टीकरण किया गया है। इति।

**टीकानुवाद**—कोई सहचरी प्रिय सखी के सामने शिरीष से भी कोमल अपनी सखी के विक्रम का बखान करते हुए नायक शिरोमणि (श्रीकृष्ण) की रसज्ञता वर्णन करती कह रही है। मल्ल युद्ध के कौतुक में सुबल आदि मित्रों के द्वारा अपनी भुज बल में जकड़े जाने पर भी—(श्रीकृष्ण) ने अपने भुजा

श्रीनन्दनन्दनन्दन: सुदृश: चपलनेत्राया: कुमार्य्या अपि मम सख्या भुजान्तरात् बाहुमध्याद् गन्तुं नाशकद्
समर्थो बभूवेति प्रकट एव पराजय: । स च रसविशेषोदयाज्जयादधिक इति रसविदां स्फुट एव । उत्तरार्द्धे
अर्थान्तरन्यासार्थ: स्फुट एव । एवं मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्यय: । कदाचिद्रसावेशविशेषोदयात्तया दयित
भुजाभ्यां गृहीत इति ज्ञेयं विधृता: प्रियस्य केशा इतिवत् ।।

**यथाह गोवर्द्धन:—"आसाद्य भङ्गमनया द्यूते विहिताभिरुचितकेलिपणे ।**
**निस्सारयताक्षानिति कपटरुषोत्सारिता: सख्य: ।।" इति ।**

आसाद्येति । विहितोऽभिरुचिता केलिरेव पणो यस्मिद् तद् द्यूतं तस्मिन् जयमासाद्य प्राप्य । शे
स्पष्टम् । अत्राभिरुचितकेलिसम्पादकत्वात्पराजयोऽयं जयादधिक: । मधुररतिकृतोऽयं विपर्य्यय: ।।

**यथा वा—विशङ्कमस्या: पिबत: स्वनिर्जयात् समानमानन्दितमाननाम्बुजम् ।**
**द्यूते मुकुन्दस्य विनोदमोदभू: पराजयोऽभूदपराजयादपि ।। ५० ।।**

दीपमालिकारजन्यां मुख्यसखीसहाययोस्तयोर्द्यूतकौतुकमवलोक्य काश्चन सख्यो नातिदूरस्थिता
स्तत्सुखमन्योन्यमास्वादयन्ति—विशङ्कमिति । हे सखि ! पश्य पश्य अस्मिन्द्यूते मुकुन्दस्य परमानन्दप्रद
सखीसहायया तया कान्तयाजितस्यापि स पराजय: अपराजयात्तत्प्रतियोगिनो विजयादपि विनोदमोदभू:—
विनोद: कौतुकं मोदो महानन्दस्तयोर्भू: क्षेत्रमास्पदमिति यावद्—अभुद् बभूव । कीदृशस्यास्येति कान्ता

---

पराक्रम से वीर सखाओं के घेरे को तोड़ दिया और निकल गये । ऐसे महा विक्रमी भी यह श्रीनन्दनन्द
उन चञ्चल नयनी और सुकुमारी भी, मेरी सखी (श्रीराधा) के बाहुपाश से निकल जाने में समर्थ नहीं हुए
इस प्रसंग में पराजय स्पष्ट ही है और वह रस विशेष के उदय से जय से भी बढ़कर है । यह बात रसिक
के समक्ष स्पष्ट ही है । उत्तरार्ध में अर्थान्तरन्यास नामक अर्थालङ्कार भी स्पष्ट है । इस प्रकार मधुर रति
द्वारा संपादित उन दोनों का विपर्यय है । किसी समय रस विशेष के आवेश वश प्रियतमा द्वारा वे वल्ल
भुजाओं से जकड़ लिये गये । 'विधृता ......' प्रिय के केश के समान यह भाव है । जैसा कि श्रीगोवर्द्ध
कवि का कहना है ।

**श्लोकार्थ**—दो प्रेमी प्रेमिकाओं में चौपर क्रीड़ा-द्यूत प्रसंग में यह शर्त निर्णय हुई कि जो जी
वह अपने को अच्छी लगनेवाली रस क्रीड़ा को सम्पादित करे । प्रियतम उस द्यूत में हार गये । वह पा
नहीं बता रहे थे । तब कपट रोष से प्रेयसी ने कहा—'पासे निकालिये' इस अभिप्राय को तत्काल उपस्थि
सखियाँ समझ कर वहाँ से (इधर-उधर) चली गईं । इति ।

**टीकानुवाद**—श्लोक की उत्थानिका में टीका का भाव आ गया है । यहाँ मनोनुसारिणी केलि
का सम्पादन होना स्पष्ट ही है जो पराजय-जय से भी अधिक है । यह मधुर रति द्वारा विपर्यय हुआ है ।

ग्रन्थकार का अपना पद्य उदाहरण में है । श्लोकानुवाद ५०—एक बार द्यूत में मुखाम्बुज पा
का पण—(शर्त) निश्चित हुआ । इसमें प्रियतम के पराजित हो जाने से, निशंक भाव से वे मुकुन्द प्रियतम
के गर्व पूर्ण मुख कमल को हर्ष पूर्वक और सादर अवलोकन (दर्शन) करने लगे और वह इनका विनो
सखियों के हर्ष का स्थान बन गया तथा यह हार, जीत से भी बढ़कर हुई । इति ।। ५० ।।

**टीकानुवाद**—दीपमाला की रात्री में मुख्य-मुख्य सखियों की सहायता से प्रिया-प्रियतम द्यू
कौतुक में प्रवृत्त हुए । कुछ सखी उनके उस द्यूत को देखकर समीपस्थ सखियों के प्रति उस सुख का परस्प
आस्वादन करती कह रही हैं । हे सखि ! देखो देखो—इस द्यूत में सखियों की सहायता से इस कान्ता
परमानन्द देनेवाले मुकन्द का पराजय कर दिया है । यह पराजय अपने प्रतियोगी विजय की अपेक्षा
अधिक विनोद और हर्ष का स्थान बन गया है । फिर वह मुखाम्बुज कैसा है सखी अँगुली के निर्देश से बता

मंगुल्या निर्दिशति—आननाम्बुजं मुखकमलं पिबत: सादरमवलोकयत इत्यर्थ:। अत्र मुख्यस्याम्बुजरूपकेण पिबत इति पदेन च कान्तनयनयोर्मधुपत्वं मुखशोभाया मधुत्वञ्चारोपितम्। कीदृशमाननाम्बुजम्—स्वनिर्जयात्स्वकर्तृकस्य कान्तकर्मकनिर्जयादानन्दितम्। पुन: कीदृशं तत्—समानं द्यूतकेलिवित्तया विख्यातोऽपि असौ मया जित इति सगर्वम्, तत एव विशङ्कं व्रीडापरित्यागोद्भूतललितादिप्रखरसखीशङ्कारहितम्। एवं कान्ताविषयककान्ताश्रयमधुररतिकृतोऽयं जयपराजययोर्विपर्य्यय:॥ ५०॥

**यत्र सुखमेव दु:खं। यथा तृतीये चतुस्सन:—३-१५-४८**

**"नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।**

**येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणं भवत: कथाया: कीर्त्तन्यतीर्थयशस: कुशला रसज्ञा:॥" इति।**

नात्यन्तिकमिति। अत्र रसज्ञा: कुशला अर्थादेकान्तभक्ता आत्यन्तिकं ते प्रसादं परमानन्दमयं मोक्षं सुखत्वेन न गणयन्ति नाद्रियन्त इति तदानन्दस्य दु:खरूपत्वमेवोक्तम्, तस्यात्यन्तिकप्रलयरूपत्वात्, भक्तानां तदेकदर्शनजीवातुकत्वाच्च। ततोयुक्तमेवोक्तम्—"यत्र सुखमेव दु:खम्" इति॥

**पुनस्तत्रैव देवान्प्रति ब्रह्मणोक्तम्—३-१५-१७**

---

है कि मुख कमल का पान करते हुए—यहाँ पान का अर्थ आदर पूर्वक दर्शन करना है। इस विशेषण से से मुख में कमल का आरोप किया गया है। और 'पिबत' इस पद से प्रियतम के नेत्रों को मधुप की रूपकता दी गई है, तथा मुख की शोभा में मधु का आरोप किया गया है। श्रीराधा रानी का मुखकमल उस समय प्रसन्नता से खिलखिला रहा था, क्योंकि उन्होंने 'स्वकर्तृक' अर्थात् अपने द्वारा 'कान्तकर्मक' अर्थात् प्रियतम को अपने द्यूत कौशल से पराजित कर दिया था। (यहाँ पराजित कर्त्ता राधाजी हैं और पराजित होनेवाले श्यामसुन्दर हैं)—इस पद का यह सारांश है—यहाँ 'स्वनिर्जयात्' पद में दो अर्थ भासित हैं—१-अपने द्वारा जीत लिये गये होने से, २-अपने पराजय से। दूसरा विशेषण श्रीराधाजी के मुख का 'समानं' है जिसका अर्थ है—गर्व युक्त। अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्ण जो द्यूत क्रीड़ा में परम चतुर तथा बिख्यात हैं उनको मैंने जीत लिया अतएव उनका मुख 'विशंक' शंका रहित है—भाव यह है कि तात्कालिक क्रीड़ा के परित्याग से उत्पन्न ललितादि प्रखर-शिक्षक सखीजन की शङ्का से भी रहित था।

टि—(प्रखर सखी का वर्णन उ० नी० मणि सखी प्रकरण में कारिका ६ में देखना चाहिये)। इस प्रकार यहाँ यह जय-पराजय सम्बन्धी विपर्यय कान्ता विषयक तथा कान्ता आश्रयक मधुर रतिकृत है। अर्थात् यहाँ मधुर रति का विषय और आश्रय—कान्ता श्रीराधारानी ही हैं। इति॥ ५०॥

**मूलानुवाद**—उस प्रेम नगर में सुख ही दुख माना गया—जैसा कि भा० ३-१५-४८ में सनकादि का वचन है—

**श्लोकार्थ**—प्रभो! आपका सुयश अत्यन्त कीर्तनीय और सांसारिक दुखों की निवृत्ति करनेवाला है। आपके चरणों की शरण में रहनेवाले जो महाभाग आपकी कथाओं के रसिक हैं वे आपके आत्यन्तिक प्रसाद मोक्ष पद को भी कुछ अधिक नहीं गिनते, फिर जिन्हें आपकी जरा-सी टेढ़ी भौंह ही भयभीत कर देती है, उन इन्द्र पद आदि अन्य भोगों के विषय में तो कहना ही क्या है।

**टीकानुवाद**—यहाँ 'रसज्ञ' से कहा गया है कुशल अर्थात भगवान् के एकान्त भक्त, जो मोक्ष रूप दीयमान भगवत् प्रसाद को महत्व नहीं देते। यद्यपि वे परमानन्द मग्न हैं तथापि वे लोग सुख रूप से उसका आदर नहीं करते कारण—मोक्ष का आनन्द उनके लिये दु:ख रूप ही है। क्योंकि वह आनन्द आत्यन्तिक अर्थात् प्रलय रूप है। भक्तों के लिये तो भगवद् दर्शन ही जीवन सर्वस्व है मोक्ष में जीव का लय हो जाने के द्वारा उन्हें भगवद् दर्शन के सौन्दर्य माधुर्य का आस्वादन नहीं हो सकता। अतएव भक्ति

"वैमानिकाः सललनाश्चरितानि विष्णोर्गायन्ति लोकशमलक्षपणानि भर्त्तुः।
अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः ॥" इति।

अत्रसुखदमप्यनिलं श्रीभगवद्गुणगानविक्षेपकतया दुःखबुद्धया क्षिपन्तस्तिरस्कुवन्तः। एवमेवाभि-प्रेत्य तैर्व्याख्यातम्—"अनेन भगवद्भक्तानां निरतिशयविषयसुखेऽपि भगवद्भजनानन्दशक्तिर्दर्शिता" इति॥

**चतुर्थे यथा—भा० ४-९-१०—**

"या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ! मा भूत् किन्त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥" इति

या निर्वृतिरिति। अत्र तव पादपद्मध्यानात् त्वज्जनकथाश्रवणाच्च या निर्वृतिः परमानन्दः स्यात्, सा स्वमहिमनि स्वस्य भगवतो महिमनि व्यापकरूपे ब्रह्मणि निर्विशेषे मा भूद् न स्याद् इत्येकान्तिना तत्सेवासुखमेव सुखतया जानतां तद् ब्रह्मसुखं दुःखमेवेति। सेवासुखमयमधुरामृतसिन्धुनिमग्नानां ब्रह्मसुखस्य क्षाराब्धिरसतुल्यत्वादिति भावः॥

**यथा दशमस्कन्धे नागपत्न्यः—१०-१६-३७—**

"न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥" इति।

---

साम्राज्य में उसका कोई आदर नहीं है। इसलिये ठीक ही कहा गया कि जहाँ सुख ही दुःख है। इति।

फिर वहीं देवताओं के प्रति ब्रह्माजी ने भी कहा है। श्लोकानुवाद—वहाँ विमानधारी गन्धर्वगण अपनी प्रियाओं के सहित अपने प्रभु की पवित्र लीलाओं का गान करते रहते हैं। जो लोगों की सम्पूर्ण पाप राशि को भस्म कर देनेवाली हैं। उस समय सरोवरों में खिली हुई मकरन्द पूर्ण वासन्तिक माधवी लता की सुमधुर गन्ध उनके चित्त को अपनी ओर खींचना चाहती है, परन्तु वे उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते, वरं उस गन्ध को उड़ा लानेवाली वायु को ही बुरा-भला कहते हैं। इति।

**टीकानुवाद**—यहाँ वायु की सुखप्रदता—भगवद् गुण गान में विक्षेपक होने के कारण देवताओं द्वारा दुःख बुद्धि से तिरस्कृत कर दी गई। इसी अभिप्राय से श्रीधर स्वामीपाद ने इस प्रसंग की व्याख्या में बताया कि इसके द्वारा भगवद् भक्तों को नितान्त प्रचुर विषय सुख में भी भगवद् भजनानन्द शक्ति का ही अनुभव होता है। ऐसे ही भा० ४-९-१० में कहा है—

**श्लोकार्थ**—नाथ! आपके चरण कमलों का ध्यान करने से और आपके भक्तों के पवित्र चरित्र सुनने से प्राणियों को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्द स्वरूप ब्रह्म में भी नहीं मिल सकता। फिर जिन्हें काल की तलवार काट डालती है उन स्वर्गीय विमानों से गिरनेवाले पुरुषों को तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है। इति।

**टीकानुवाद**—इसमें यह वस्तु निर्दिष्ट हुई कि हे भगवन्! आपके चरण कमलों के ध्यान और आपके भक्तों की कथा के श्रवण से जो परमानन्द की प्राप्ति होती है वैसी (प्राप्ति) आपके महिमा व्यापक रूप निर्विशेष ब्रह्म में नहीं होती। इस प्रकार भगवत् सेवा सुख को सुख स्वरूप जाननेवाले अनन्य भक्तों को वह ब्रह्म-सुख-दुःख रूप ही है। भाव यह है कि नित्य सुखमय मधुर सुधा सिन्धु में डूबे हुए भक्तों के लिये ब्रह्म सुख खारे जल के समुद्र के समान है। इति। जैसा कि—भागवत् १०-१६-३७ में नागपत्नियों का कहना है—

**श्लोकार्थ**—प्रभो! जो आपकी चरण धूलि की शरण ले लेते हैं। वे भक्तजन स्वर्ग का राज्य, या

न पारमेष्ठ्यमिति । अत्रापि पूर्ववदेव प्रपत्तिमात्रेणैव तत्सुखापेक्षया पारमेष्ठ्यादिसुखमपवर्गसुखञ्च दुखरूपमेव मत्वा न वाञ्छन्ति रसज्ञा माधुर्यतत्पराः । एवं पद्य चतुष्टये प्रीतिरतिकृतोऽयं विपर्य्ययः ।।

**यथा वा—ध्यायन्तु ते सुखधिया परमात्मतत्त्वं यत्त्वं ब्रवीषि सुधियोऽनुगतस्वभावाः ।**
**एता वयं मधुपकान्तिसुधातिसान्द्र वृन्दावनेन्दुवदनेन्दुचकोरनेत्राः ।। ५१ ।।**

तासां प्रेमपरीक्षार्थं रसिकशेखरेण विलिख्य प्रेषितमात्मतत्त्वमुपदिशन्तमुद्धवं व्रजसीमन्तिन्यः सहासाधिक्षेपं प्रतिवदन्ति—ध्यायन्त्विति । ते प्रसिद्धाः सुधियः, अर्थाद्वयन्तु न तथा, यत्त्वं ब्रवीषि तत्परं श्रेष्ठमात्मतत्त्वं सुखधिया सुखबुद्ध्या ध्यायन्तु तस्य दर्शनयोग्यत्वाभावाद् ध्मानमात्रं कुर्वन्तु । कीदृशास्ते—अनुगतस्वभावा अनुगतो हृदि संलग्नो शास्त्रोक्तदुःखे च सुखमानिन एतल्लक्षणः स्वभावो येषान्ते तथा । हे मधुप ! श्लेषेण मधुपेति साक्षेपसम्बुद्धिचा सहासाधिक्षेपं तन्मन्दतां व्यञ्जयति । एता वयं कान्तिरेव सुधा तयातिसान्द्रो घनीभूतो यो वृन्दावनेन्दोर्वृन्दावनचन्द्रस्य वदनमेव इन्दुस्तस्य चकोरा इव तद्दर्शनैकजीवना नेत्राणि यासां ताः, ततोऽस्माकं तन्मुखदर्शने एव सुखबुद्धिः, तत्र तु दु.खबुद्धिरेवेति ते एव तदुपदेशाधिकारिणः, न तु वयमिति भावः । मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः ।। ५१ ।।

---

पृथ्वी की बादशाही नहीं चाहते, न वे रसातल का राज्य चाहते और न ब्रह्मा का पद ही लेना चाहते हैं । उन्हें अणिमादि योग सिद्धियों की भी चाह नहीं होती । यहाँ तक की वे जन्म मृत्यु से छुड़ानेवाले मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते । इति ।

**टीकानुवाद**—पहले के समान यहाँ भी समझ लेना चाहिये, कि भगवत् शरणागति मात्र से जो सुखानुभूति होती है, उसकी अपेक्षा इन्द्रादि, परमेष्ठ्यादि पद की प्राप्ति में जो सुख और अपवर्ग अर्थात् मोक्ष सुख, यह सब दुःख रूप ही है, ऐसा समझकर मधुर रसानुभवी प्रेमी उन्हें नहीं चाहते हैं । इस प्रकार पूर्वोक्त चारों पद्यों में प्रीति रति कृत विपर्यय हुआ है ।

ग्रन्थकार की उक्ति इस पद्य द्वारा दी गई है—श्लोकानुवाद ५१—उद्धवजी भगवान् का सन्देश लेकर गोपाङ्गनों के पास गये । उन्होंने उसको उपहास में उड़ा दिया इसी का इस पद्य में वर्णन है—उद्धवजी के प्रति गोपी ने कहा, शास्त्र संस्कारों से संस्कृत बुद्धिवाले विद्वान लोग बड़े सुख पूर्वक उस परम तत्व का ध्यान करें, जिसका तुमने वर्णन किया है । परन्तु हे मधुप ! हम तो घनी कान्ति की सुधा से सुन्दर वृन्दावनचन्द्र के मुख की चकोरी है । हमारे नेत्र चकोरी समान दर्शन सुख के प्यासे हैं यह भाव है ।

**टीकानुवाद**-गोपियों के प्रेम की परीक्षा के लिये रसिकशेखर श्रीकृष्ण ने लिखकर भेजे, आत्मतत्व का उपदेश देनेवाले उद्धव के प्रतिहास और आक्षेप पूर्वक व्रजसीमन्तनियें उत्तर देती हैं । जो कुछ तुम कह रहे हो उस आत्मतत्व का वे प्रसिद्ध विद्वान लोग सुख बुद्धि से ध्यान करें—हम नहीं, क्योंकि उन लोगों को दर्शन की योग्यता ही नहीं है अतएव (भले ही) ध्यानमात्र करते रहें । 'सुधियः' का दूसरा विशेषण है 'अनुगत ' —शास्त्रोक्त दुःख में सुख मानना यही जिनका स्वभाव है और ऐसी ही बातें जिनके हृदय में घर किये बैठी हैं । हे मधुप ! श्लेष से मधुप इस आक्षेप युक्त सम्बोधन से उपहास पूर्वक, उसकी मन्दता (निकृष्टता) व्यक्त की गई है । चन्द्रमा में उनकी कान्ति ही मुख्य है वही सुधा स्थानीय है उससे वह घनीभूत है । वह चन्द्रमा ही वृन्दावन का चन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र ही है । उनके मुखचन्द्र का दर्शन हमारा जीवन है, जैसे चकोरों के लिये चन्द्र दर्शन, इसलिये हमारे उनके मुख दर्शन में ही सुख बुद्धि है और परब्रह्म के ध्यान में दुःख बुद्धि है । इस दशा में तुम्हारे इस उपदेश के वे विद्वान ही अधिकारी हैं न कि हम । यह भाव यहाँ है । मधुर रति द्वारा किया गया उन दोनों का यह विपर्यय स्पष्ट है । इति ।। ५१ ।।

श्रीरूपगोस्वामीपाद ने भ० र० सिं०, प० वि० २ ल—७०१ में भी कहा है ।

**यथोक्तं श्रीरूपगोस्वामिचरणै-—भ०र०सि०प०वि०श्ल ७०१—**

**"अङ्गस्तम्भारम्भमुत्तम्भयन्तं प्रेमानन्दं दारुको नाभ्यनन्दत् ।**
**कंसारातेर्वीजने येन साक्षादक्षोदीयानन्तरायो व्यधायि ।।" इति ।**

अत्र कश्चित्कृष्णे सेवारसिकोऽनन्यभक्तो दारुकदृष्टान्तेन भगवत्सेवायां महासावधानतां नवनिज-शिष्यायोपदिशति—अङ्गस्तम्भारम्भमिति । अरे, दारुकः सततं कृष्णसेवाभिज्ञोऽपि प्रेमानन्दं तन्मुखमाधु-र्यामृतपानसम्भवं प्रेमहेतुकमानन्दं नाभ्यनन्दद् नादृतवान्, यतो येनान्देन कंसारातेः कंसशत्रोः । कंसारातिपदेन मातुल्यस्यापि अपराधिनो दण्डप्रदत्वेन भयसम्भावना बोधिता । वीजने ग्रीष्मे व्यञ्जनचालनसेवायां तत्रापि साक्षात् न तु प्रस्वापादितदृक्परोक्षेऽपि अक्षोदीयान् अक्षुण्णतमो महानित्यर्थः, अन्तरायः प्रत्यूहोव्यधायि कृतः । तत्र हेतुगर्भं विशेषणम्—अङ्गस्तम्भारम्भमुत्तम्भयन्तमिति, अङ्गे स्तम्भः स्तम्भादिसात्विकस्तस्यारम्भस्तमुत्तम्भयन्तमुत्थापयन्तं वर्द्धयन्तमित्यर्थः । एवं तस्यानन्दस्य भयलज्जांशजनकत्वेन स्तम्भोत्तम्भकत्वेन च प्रीतिभक्तौ रसाभासापादकत्वात् तदानन्दं सुखबुद्धया नाभ्यनन्दत्, किन्तु तत्प्रतियोगिन्या बुद्धचा नादृतवानित्यर्थः । एवं दास्यरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः ।।

**यथा वा कस्यचित्—"गोविन्दप्रेक्षणाक्षेपिवाष्पपूराभिवर्षिणम् ।**
**उच्चैरनिन्ददानन्दमरविन्दविलोचना ।।" इति ।**

गोविन्देति । अत्र मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः । अर्थस्तु स्फुट एव ।।

---

**श्लोकार्थ**—दारुक (नामक) कृष्ण सेवक ने अङ्गों में स्तम्भ रूप (सात्विक) भाव को बढानेवाले प्रेमानन्द को पसन्द नहीं किया, क्योंकि उसने श्रीकृष्ण के ऊपर पंखा करने को सेवा रूप कार्य में बड़ा विघ्न उपस्थित कर दिया ।। ७०१ ।।

**टीकानुवाद**—यहाँ कोई एक रसिक अनन्य भक्त दारुक की, श्रीकृष्ण विषयक सेवा में अत्यन्त सावधानता का दृष्टान्त अपने नये शिष्य के प्रति उपदेश देता है ।

देखो बेटा ! दारुक निरन्तर श्रीकृष्ण की सेवा की विशेष जानकारी रखनेवाला है । तो भी उनके अमृत मय मुख माधुर्य के पान से उत्पन्न हुए प्रेमानन्द का आदर नहीं करता, क्योंकि उससे सेवा में बाधा पहुँचती है । यहाँ श्रीकृष्ण के लिये 'कंसारातेः' पद का प्रयोग यह बात बताता है कि अपराधी मामा कंस को भी दण्ड देने में श्रीकृष्ण को कोई संकोच नहीं है इस प्रकार भय की सम्भावना बताई गई । ग्रीष्मकाल में भगवान् की व्यजन चालन अर्थात् 'न तु .. ....' न कि निद्रित दशा के परोक्ष काल में प्रेमानन्द के उदय होने पर एक महान् विघ्न उपस्थित हो गया, उसी का यह हेतु गर्भ विशेषण है । 'अङ्ग....' अङ्गों में स्तम्भादि सात्विक भावों के फलस्वरूप प्रेमानन्द की वृद्धि होने से सेवा कार्य में बाधा पड़ती है । इस प्रकार प्रेमानन्द के उदय से सेवक में भय, लज्जा, अंशों की उत्पत्ति होने पर और स्तम्भादि के भी उद्दक्त हो जाने से प्रीति भक्ति (दास्य) में रसाभास आ जाता है । इसलिये दारुक ने उसका सुख बुद्धि से अभिनन्दन नहीं किया । किन्तु उसके विपरीत बुद्धि से उसका अनादर किया । इस प्रकार दास्य रति कृत यह उन (सुख-दुःख) का विपर्यय हुआ है । किसी अन्य कवि का भी पद्य देते हैं ।

**श्लोकार्थ**—कोई प्रेमिका भगवान् गोविन्द के दर्शन को अत्यन्त उत्सुक थी । भाग्यवशात् उसको श्रीगोविन्द दर्शन प्राप्त हुआ परन्तु आनन्दोद्रेक वश नेत्रों में से प्रेमाश्रु बहने लगे । इस कारण दर्शन में विघ्न पड़ गया, उस कमलनयना देवी ने उस आनन्द की घोर निन्दा की । यहाँ मधुर रति कृत यह विपर्यय साफ ही है । जैसा कि भा० १-८-२५ में श्रीधर्मराज युधिष्ठिर को जननी कुन्तीदेवी का कथन है—

**श्लोकार्थ**—जगद्गुरो ! हमारे जीवन में पद-पद पर विपत्तियाँ आती रहें—क्योंकि विपत्ति

**तथोक्तं प्रथमे श्रीधर्मराजमात्रा कुन्तिदेव्वा—१.८-२५**

**"विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥" इति।**

विपद इति अत्र सुखदसम्पदामपि कृष्णदर्शनं विना दुःखस्वरूपमेवाभिप्रेतम्। एवं वात्सल्यांश-संवलितप्रीतिरतिकृतोऽयं सुख-दुःखयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव॥

**यथा वा—मां वीक्ष्य दयितपुरतो रसिकोत्तंसस्तवागतोऽयमिति।**
**देवि वचो भवदीयं मदीयमनिशं मनस्तुदति॥ ५२॥**

एतत्सन्दर्भकर्तुः कवेः "रसिकोत्तंसो हरिर्जयति" इति पद्यं विधाय, भगवति समर्प्य, सुप्तस्य सहसा स्वप्नमभूत्। तत्र विराजमानयोः प्रियाप्रियतमयोरन्तिकमागतं मामवलोक्य शनैः प्रियया प्रियं प्रत्युक्तम्—"तवायमागतो रसिकोत्तंसः (पुन्स्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे।)" इति तन्निशम्य जात-जागरः प्रातस्तां सविनयं सखेदं विज्ञापयति—मां वीक्ष्येति। अत्र चेटकभावस्यममागमने तथोक्तिः मदुपरि कृपयैवेति सुखप्रदत्वेऽपि त्वदीयोऽयं न तु मदीय इति व्यञ्जनया हे देवि! अलौकिकदिव्यमङ्गलविग्रहे! मदीयस्वामिनि! श्रीराधे! भवदीयं तद्वचो मदीयं मनस्तुदति व्यथयतीत्यर्थः, न ममायमित्यनङ्गीकार-व्यक्तेः। अतः कारणात् सुखमपि दुःखमेवेति स्फुट एव तयोर्विपर्य्ययः॥ एतन्नामधेयप्राप्तिकारणञ्च स्वप्ने तस्यास्तथोक्तिरेवेति निर्णीतमवधेयम्। दास्यरतिकृतोऽयं विपर्य्ययः॥ ५२॥

---

में ही निश्चित रूप से आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन होने पर फिर जन्म मृत्यु के चक्कर में नहीं आना पड़ता। इति।

**टीकानुवाद**—यहाँ सुख देनेवाली सम्पत्ति भी श्रीकृष्ण दर्शन के बिना दुःख रूप ही मान रही हैं यह बताया गया है। इस प्रकार वात्सल्यांश मिश्रित प्रीति रतिकृत यहाँ सुख दुःख का विपर्यय स्पष्ट ही है।

जैसा कि ग्रन्थकार का पद्य है। श्लोकानुवाद ५२—इस पद्य में कवि ने अपने नामकरण को सुस्पष्ट करते हुए सुख दुःख का विपर्यय बताया है—मेरे को देखकर प्रियतम के सामने प्रियतमा ने कहा, कि यह तुम्हारा रसिकोत्तांस आ गया है।' देवि! यह आपका वचन मेरे मन को सदा व्यथा पहुंचाता है (कवि ने ऐसा अनुभव किया।)

**टीकानुवाद**—इस ग्रन्थ के कर्त्ता कवि ने 'रसिकोत्तांस' यह पद्य निर्माण किया और भगवान् को समर्पित कर दिया और सो गये। उस समय एकाएक उन्हें स्वप्न हुआ और उसमें देखा। कि श्यामा श्याम दोनों विराजमान हैं। प्रियाजी मेरे को समीप में आया देखकर प्रियतम के प्रति धीरे से कहा 'यह तुम्हारा रसिकोत्तांस आया'। इसे सुनकर निद्रा भंग हो गई। प्रातःकाल कवि उनके प्रति विनय और खेद पूर्वक विज्ञप्ति करने लगे। 'मां वीक्ष्य ....' यहाँ मेरे आने पर कौतुक भाव से उनका वैसा कहना मेरे ऊपर कृपा पूर्वक ही है और सुखप्रद भी है। तथापि 'यह तुम्हारा है न कि मेरा' इस व्यञ्जना से, हे देवि! अर्थात् अलौकिक दिव्य मंगलमय शरीर धारिणी! मेरी स्वामिनी! श्रीराधे! आपका यह वचन मेरे मन को व्यथा पहुँचा रहा है। क्योंकि 'यह मेरा नहीं' इस वचन (अनुध्वनि) से अस्वीकृत भाव की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण ऐसा सुख भी दुःख ही है। यहाँ यह दोनों का विपर्यय स्फुट ही है। कवि के इस नाम की प्राप्ति का कारण स्वप्न में श्रीराधा रानी की वैसी उक्ति है। यह निर्णय भी यहाँ किया गया है। दास्य रतिकृत यह दोनों का विपर्यय है।

(टि—श्लोक ५२ कवि के इस पद्य से यह प्रतीत होता है कि वह नित्य मार्मिक भावों के पद्य की रचना कर उसे युगल दष्ट को अर्पित करते थे—जिसे प्रिया-प्रियतम अपने नित्य लीला विहार में आस्वादन करते तथा प्रियाजी लालजी से कहती होगीं कि यह आपका रसिकोत्तांस परम प्रेमी है—अचिन्त्य लीला शक्ति

**यथा वा—मामागतस्य नेतुं मम पितुरर्थनमुरीकृतं गुरुभिः ।**
**हन्त नमामि विधातर्नाथस्तन्नानुमोदयतु ॥ ५३ ॥**

मामागतस्येति । अत्र पितृगृहगमनं सुखमपि कृष्णासक्तायाः कस्याश्चिद् दुःखमेव । नाथः पति-म्मन्यः । अत्र मधुररतिकृतो विपर्य्ययः स्फुट एव ॥ ५३ ॥

**यथा वा—पीतैरन्यसखीजनैरपि समं कान्तस्य रूपामृतै-**
**र्माधुर्य्योक्तिसुधारसैरपि धियं धिन्वन्तु धन्याः स्त्रियः ।**
**स्वान्तं स्नेहरसोज्झितं मम तु तैर्वान्तैरिवालंकृतं**
**रोषामर्षविषादवह्निविषमज्वालाजटालङ्कृतम् ॥ ५४ ॥**

पीतैरिति । अत्र सखीभिः सह कान्तदर्शनतद्वचःश्रवणैः सुखमेव भवति तथापि मधुररतिस्वभाव-सुलभम्—एताः किमिति मम प्रियं पश्यन्ति वदन्ति चेति—स्त्रीणामसूयाग्रस्तत्वं दुःखमेवेति कृतस्तयो-र्विपर्य्ययः ॥ ५४ ॥

**यत्र दुःखमेव सुखम् । यथा दशमे व्रजसुन्दरीणामुक्तिः— १०-२९-३५—**
**"सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।**
**नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ! ते ॥" इति ।**

---

ने कवि के स्वप्न का प्रसंग जिस रात्री जुटाया-उस समय पूर्व स्वभाव वश प्रियाजी के मुख से हठात् निकला 'यह तुम्हारा रसिकोत्तंस आया' इस पद्य ५२ में उसका वर्णन किया गया है ।

फिर कवि का वचन है—श्लोकानुवाद ५३—नन्दग्राम की किसी वधु को उसका पिता पीहर लिवा ले जाने आया । परन्तु श्रीकृष्णासक्ति के कारण वह जाना नहीं चाहती—इस भाव का इस पद्य में वर्णन है । वह कहती है—मेरे पिता मुझे अपने घर अपने साथ लिवा ले जाने आया उसकी प्रार्थना को श्वसुर सास ने स्वीकार कर लिया परन्तु वह जाना नहीं चाहती है । तब विधाता से प्रार्थना करती है हे विधाता ! मैं आपको नमस्कार करती हूँ, आप कोई ऐसी रचना उपस्थित करें, जिससे मेरा पति इस बात को अर्थात् मेरे घर जाने को न माने । यहाँ पीहर में जाना स्त्रियों के लिये सुख की बात होती है तथापि श्रीकृष्ण में आसक्तिवश उसे यह दुःख रूप ही है । 'नाथ' का अर्थ है, अपने को केवल नाम मात्र का पति माननेवाला ! यहाँ यह मधुर रति कृत विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ५३ ॥

कवि का पद्य है—श्लोकानुवाद ५४—कुछ स्त्रियें ऐसी होती हैं जिनके पति का भी रूप, लावण्य अमृत से भरी मीठी बातें, अन्य स्त्रियें भी उन माधुर्य्य सौन्दर्य आदि का अनुभव करें तो भी उन्हें कष्ट नहीं होता है । अतएव जिनकी बुद्धि में कोई विकार नहीं होता वे स्त्रियाँ धन्य हैं । परन्तु मेरा तो मन उसके विपरीत दशा को ग्रहण करता है, स्नेह रस को त्याग देता है—और रोष, विशाद मात्सर्य आदि उत्पन्न हो जाते हैं । एवं अग्नि के समान उनकी विषम ज्वाला का समूह मेरे मन में उदित हो जाता है कि दूसरी स्त्रियां मेरे पति से इस प्रकार बातें करें, यह मुझे (वान्त) वमन के समान सर्वथा अच्छा नहीं लगता ॥५४॥

**टीकानुवाद**—यहाँ अपनी सखियों के साथ पति का दर्शन उनके वचनों का श्रवण सुख ही उत्पन्न करता तथापि मधुर रति का यह सहज स्वभाव है कि पत्नि को औरों के प्रति—जो उसके पति को देखतीं हैं और बातें करती हैं—उनके प्रति रोष असूया आदि उत्पन्न हो ही जाते हैं । यह स्त्रियों का असूया भाव दुख ही है इस प्रकार यह विपर्यय है ॥ ५४ ॥

**मूलानुवाद**—जहाँ दुख ही सुख माना गया—जैसे भा० १०-२९-३५ में व्रज सुन्दरियों का वचन है

सिञ्चाङ्ग न इति । अङ्ग भोः, त्वदधरामृतपूरकेण तवैवाधरामृतस्य पूरकेण प्रवाहेण । स्वार्थे कः । हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्, अर्थात्तवैव यो हासावलोकः कलं मधुरगीतं ताभ्यां जातो यो हृच्छयाग्निः कामाग्निस्तं सिञ्च । अत्र पूरकेणेति पदेन, सिञ्चेति पदेन च हृच्छयाग्नेर्बाहुल्यं व्यञ्जितम् । नो चेद् यदि न सिञ्चेस्तर्हि विरहजाग्न्युपयुक्तदेहाः, अर्थात् तव विरहादुत्पन्नो यो हृच्छयाग्निस्तेनोपयुक्त उपयोगं नीतो देहो यासान्ताः प्रायो दशमीमवस्थां प्राप्ताः, अत एव त्वच्च सम्यग् वृत्तम् । परन्तु त्वद्विरहेण त्वद्ध्यानेनैव मरणे पुनर्जन्मान्तरेऽपि महाकितवस्य तव कदाचिद्दर्शनं स्यादिति भिया महाविपद्गताः । नायं मनुष्यः, किन्तु भगवान्, एतत्पदध्यानेन मुनयो मुक्तिं यान्तीति भगवतीवचनं श्रुतम् । तत्र मनुष्यत्वन्तु त्वयि प्रत्यक्षमेव दृष्टम् ततस्तस्या वचने विश्वासविशेषोदयाद् । इदानीं भगवतस्तव पादयोर्ध्यानेन त्वत्पादसम्बन्धिनीं गतिं साधारणीं सायुज्याभिधां याम यथा बहिरन्तरसितस्य तव पुनः सम्बन्धगन्धोऽपि न स्यादिति परमप्रणयकोपोक्तिः । याम इति प्रार्थनायां लोट् । यत्र हेतुः 'सखे' इति सम्बुद्धिः । भवतोऽपि सख्यांशेन कदाचित्करुणयापि पुनर्विप्रतिसारः स्यादिति मुधा भयेन प्रार्थयाम इति भावः । एवं तत्सङ्गस्य दुःखरूपत्वेन आत्यन्तिकप्रलयस्य सामान्यभक्तानामपि विषभक्षणादिवद् अनभीप्सितस्य सुखतया ताभिरङ्गीकारलक्षणो मधुररतिकृतो दुःखसुखयोर्विनिमयः स्फुट एव ॥

---

**श्लोकार्थ**—प्राणवल्लभ ! हमारे प्यारे सखा ! तुम्हारी मन्द-मन्द मधुर मुस्कान, प्रेम भरी चितवन और मनोहर संगीत ने हमारे हृदय में तुम्हारे प्रेम और मिलन की आग धधका दी है । उसे अपने अधरों की रस धारा से बुझा दो । नहीं तो प्रियतम ! हम सब कहती हैं, तुम्हारी विरह व्यथा की आग से हम अपने-अपने शरीर जला देंगी और ध्यान द्वारा तुम्हारे चरण कमलों को प्राप्त कर लेंगी । इति ।

**टीकानुवाद**—हे सखे ! आप अपने ही अधरामृत के प्रवाह से और अपने ही हास मिश्रित दृष्टि (चितवन) से तथा सूक्ष्म मधुर संगीत से उत्पन्न हुए कामाग्नि को सिञ्चित करो । यहाँ 'पूरक.......' शब्द में 'क' प्रत्यय स्वार्थ में हुआ है—अर्थात् 'पूरः' एव 'पूरकः' । यहाँ 'पूरक' और 'सिञ्च' इन पदों से कामाग्नि की अधिकता व्यक्त होती है । यदि आप इसका सिञ्चन नहीं करोगे तो विरह से उत्पन्न अग्नि में हम अपनी देह की आहुति दे देंगी । अर्थात् दशमी दशा को प्राप्त हो जाएँगी और हमारा यह भला ही हुआ ऐसा लगेगा । परन्तु भय एक ही है कि आपके वियोग से और ध्यान से मरने पर दूसरे जन्म में भी कहीं आप जैसे महा कपटी (धूर्त) का कदाचिद् दर्शन फिर हो गया तो वह (हमारे लिये) महा विपत्ति होगी । भगवती ने बताया है कि यह श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं किन्तु भगवान् है । इनके चरण कमल का ध्यान करके मुनिजन मुक्ति प्राप्त करते हैं । सो मनुष्यता का तो आप में प्रत्यक्ष ही दर्शन हो गया । इससे उनके वचन में मुख्यतया विश्वास दृढ़ हो चुका है । अब आपके चरण कमलों के ध्यान से आपके चरण सम्बन्धिनी गति, जो साधारणतया सायुज्य नाम है, उसको हमें प्राप्त होना बाकी है । जिससे कि बाहर-भीतर में कृष्ण आपका फिर सम्बन्ध गन्ध भी संभव न हो क्योंकि जब मुक्त हो हो गईं तो किसी प्रकार के संबन्ध का प्रश्न ही नहीं रह जाता । यहाँ यह उन (गोपियों) की परम प्रणय पूर्ण कोपोक्ति है—अर्थात् ऐसी बातें वे उच्च-स्तर के प्रेम के आवेश में कह रही हैं । 'याम' यह प्रार्थना में लोट लकार है । उसका कारण 'सखे !' यह सम्बोधन है । कदाचित् सखि भाव अथवा करुणावश भी आपको वृथा फिर विप्रतिसार हो (अर्थात् हमें न प्राप्त करके फिर आपको पश्चात्ताप करना पड़े) इस आशंका से भयभीत हम प्रार्थना करती हैं यह भाव है । इस प्रकार उनके संग की दुःख रूपता अभीष्ट नहीं है, क्योंकि आत्यन्तिक प्रलय रूप मोक्ष सामान्य भक्तों को भी विष भक्षणादि के समान अभीष्ठ (वांछित) नहीं है—इस तरह श्रीकृष्ण संग गोपाङ्गनाओं के लिये दुःख रूप न होकर सुख रूप ही है । इस पद्य में उनके द्वारा सुख रूप से उसको स्वीकार करना रूप मधुर रति कृत दुःख सुख का विनिमय स्पष्ट ही है । इति । गोपाङ्गनाओं का ऐसा ही भा० १०-२९-३७ में

पुनस्तत्रैव ताभिरेवोक्तम्—१०-२९:३७—

"श्रीर्यत्पादाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासस्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥" इति।

श्रीरिति। अत्र तुलस्या सह सापत्न्यं भृत्यजुष्टतया समर्दं दुःखमपि सुखमेव मत्वा श्रीर्यत् कामयते, तथा वयमपि तत्त्रितयं दुःखमपि सुखं मत्वा तव पादरजः प्रपन्ना इति मधुररतिकृतोऽयं विपर्ययः॥

यथोक्तमुज्ज्वले—"तीव्रार्कद्युतिदीपितैरसिलताधाराकरालाश्रिभि-
मार्तण्डोपलमण्डलैः स्थपुटितेऽप्यद्रेस्तटे तस्थुषी।
पश्यन्ती पशुपेन्द्रनन्दनमसाविन्दीवरैरास्तृते
तल्पे न्यस्तपदाम्बुजेव मुदिता न स्पन्दते राधिका॥" इति।

काश्चित् सख्यः कान्ताया रागदशां प्राप्तं कान्तविषयकं प्रेम परस्परं सानुरागमास्वादयन्ति—तीव्रार्कद्युतीति। हे सखि! पश्य मार्तण्डोपलमण्डलैर्मार्तण्डोपलानां सूर्यकान्तमणीनां मण्डलैः समूहैस्थपुटिते नोन्नतीभूतेऽद्रेः श्रीगोवर्द्धनस्य तटे निकटस्थले तस्थुषी संस्थिताऽसौ प्रत्यक्षतो दृश्यमाना राधिका न स्पन्दते। कीदृशैर्मार्तण्डोपलमण्डलैः—तीव्रार्कद्युतिदीपितैः तीव्रो वृषराशिस्थितो मध्याह्नगतोयोऽर्कस्तस्य दीप्तिभिरा-

---

फिर वचन है—

**श्लोकार्थ**—हमारे स्वामी! निज लक्ष्मीजी का कृपा कटाक्ष प्राप्त करने के लिये बड़े-बड़े देवता तपस्या करते रहते हैं—वह लक्ष्मीजी तुम्हारे वक्षःस्थल में बिना किसी की प्रतिद्वन्द्विता के स्थान प्राप्त करके भी अपनी सौत तुलसी के साथ तुम्हारे चरणों की रज पाने की अभिलाषा किया करती हैं। अब तक के सभी भक्तों ने उस चरण रज का सेवन किया है। उन्हीं के समान हम भी तुम्हारी उसी चरण रज की शरण में आयी हैं। इति।

**टीकानुवाद**—यहाँ तुलसी के साथ लक्ष्मी को सापत्न्य होने पर और दासों से सेवित होने की भीड़ भार की अधिकता से, भगवान् के चरण कमलों में निवास दुःख ही है तो भी लक्ष्मी उसे सुख समझकर वहीं निवास करना चाहती है। वैसे ही हम भी उन तीनों दुःखों को सुख मानकर आपकी पाद धूलि की शरण ग्रहण करती हैं। यह मधुर रतिकृत विपर्यय है। श्रीरूप गोस्वामि पाद ने उज्ज्वल नीलमणि में स्थायि भाव का ११९ में इस प्रसंग में कहा है—

**श्लोकार्थ**—श्रीराधारानी श्रीराधा रानी श्रीकृष्ण दर्शन करने में विभोर हैं। जहाँ दूर खड़ी होकर वे उनका दर्शन कर रही हैं वहाँ चारों तरफ सूर्य कान्त मणि फैली हुई हैं—उन पर सूर्य की प्रचण्ड किरण पड़ रहीं हैं और वे मणियाँ अत्यन्त तप रही हैं। उनके ऊपर के शिखिर तलवार की धार के समान पैने हैं। उस दशा में वह गोर्धन की समतल भूमि में खड़ी हैं और नन्दनन्दन का दर्शन कर रही हैं। उस समय उनको ऐसा अनुभव हो रहा है मानो वे कमलों के बिछौने पर ही पदार्पण किये बैठी हैं। उस दशा में जरा भी हिल डुल नहीं रही हैं।

**टीकानुवाद**—कुछ सखियों के प्रति, ललिताजी (श्रीराधा को दूर से श्रीकृष्ण दर्शन करते देख) उनको राग दशा प्राप्त जानकर-कान्त विषयक प्रेम का परस्पर अनुराग पूर्वक आस्वादन करती हुई (कहती है) हे सखि! देख यह राधिका सूर्यकान्त मणि के समूहों वाली समतल भूमि जो गोवर्धन के समीप है—वे वहाँ खड़ी रहकर जरा भी हिल-डुल नहीं रही हैं। यह हम प्रत्क्ष देख रही हैं। वे सूर्यकान्त मणि वृषराशि स्थित, ग्रीष्मकालिक मध्याह्न के सूर्य के प्रखर ताप से जाज्वल्यमान हो रही हैं। फिर उनके अग्रभाग खड्ग

तपैर्दीपितैः सन्तापितैरपि । पुनः कीदृशैः—असिलताधाराकरालाश्रिभिः असिरेव लता तस्या धारा तद्वत् कराला अश्रयः कोटयोऽग्रभागा येषां ते तैः । अत्र हेतुगर्भं विशेषणं कीदृशी राधिका-पशुपेन्द्रनन्दनं पशुपाना-मिन्द्रः श्रीनन्दस्तस्य नन्दनस्तं व्रजनवयुवराजचन्द्रं शेखरीकृतशैलराजं श्रीकृष्णचन्द्रं पश्यन्ती, अत एव मुदिता । का इव इन्दीवरैरिति रात्रिविकाशितया दिनकरकरनिकरपरामर्शाभावाद् अन्यनीरजापेक्षया अतिशीतलैरास्तृते रचितास्तरणे तल्पे शय्यायां न्यस्ते पदकमले यया तादृग्विधेव । एवं प्रियमुखाव-लोकनसुखेन विस्मृतनिजाङ्गसखीगुरुजनसमूहा मुदिता किञ्चिदपि न चलतीति मधुररतिकृतो दुःखसुख-योर्व्यत्ययः स्पष्ट एव ॥

**तथा रसामृतसिन्धौ—प्र० वि० द्वि० ल० का० ४६।७१६**

**"गुरुरपि भुजगाद्भीस्तक्षकात्प्राज्यराज्यच्युतिरतिशयिनी च प्रायचर्या च गुर्वी ।**
**अतनुत मुदमुच्चैः कृष्णलीलासुधान्तर्विहरणसचिवत्वादौत्तरेयस्य राज्ञः ॥" इति ।**

(उत्ताराया अपत्यं पुमान् औत्तरेयः "स्त्रीभ्यो ढक्" इति ढक् । तस्यऔत्तरेयस्य परीक्षिन्नृपस्य ।

गुरुरपीति । अत्र परीक्षितस्तक्षकाद् भयं तथा राज्यभ्रंशः प्रायचर्य्या अनशनमेतत्त्रयं दुःखदमपि मुदं सुखमेव ततान । तत्र हेतुः कृष्णलीलासुधान्तर्विहरणसचिवत्वादिति । दास्यरतिकृतोऽयं विपर्ययः ॥

**यथा वा—पश्यालि ! विष्वग् गुरवः ससंभ्रमं भ्रमन्ति दावानलभीतचेतसः ।**

---

रूप लता की धार के समान कराल हैं अर्थात् पैने हैं । इस स्थिति में श्रीराधिका नन्दनन्दन के दर्शन करने में तदाकार एकटक प्रसन्न हो रही हैं । यह उनका विशेषण हेतु गर्भ है—पशुओं का पालन करनेवाले—पशुप, उनके इन्द्र श्रीनन्द और उनके नन्दन व्रजनवयुवराज चन्द्र, जिन्होंने शैलराज गोवर्धन को कनिष्ठिका अंगुली से मस्तक का मुकुट बना लिया था, उनके दर्शन में अत्यन्त तल्लीन हैं । उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वे इन्दीवर नाम के रात्री विकासी कमलों की अपेक्षा अति शीतल हैं और उनसे निर्मित शय्या पर वे चरण कमल स्थापित किये हुए दर्शन कर रही हैं—(टि—अर्थात् श्रीराधाजी को तप्त सूर्यकान्त मणियें—शीतल कमलों की शय्या समान बनी हुई है यह लीला शक्ति का विलास है) । इस प्रकार अपने प्रियतम के मुख दर्शन सुख के आगे उनको अपना अंग, साथी और गुरुजन समूह तक का विस्मरण हो गया है, तथा उस आनन्द स्थिति में वे तनिक भी विचलित नहीं हो रही हैं—यह मधुर रतिकृत दुःख सुख दोनों का परिवर्तन स्पष्ट ही है । इति ।

ऐसा ही भक्ति रसामृत सिंधु प्र० वि० द्वि० का ४६।७१६ में भी प्रमाण है—

**श्लोकार्थ**—नागराज तक्षक से अत्यन्त भय होने पर भी, विशाल राज्य नाश की सम्भावना होने पर भी और (गुर्वी प्रायचर्या अर्थात्) प्राणान्त पर्यन्त अनशन के प्राप्त होने पर भी उत्तरा के नन्दन राजा परीक्षित कृष्णलीला के सुधा सागर के भीतर विहरण करने में परम आनन्द का अनुभव कर रहे थे—इति ॥ ७१६ ॥

**टीकानुवाद**—यहाँ परीक्षित के लिये तक्षक से भय, राजच्युति और अनशन इन तीनों दुःख देनेवाली वस्तुओं ने सुख का ही विस्तार किया । उसमें कारण यह है कि राजा, महामुनि श्रीशुकदेव के मुख से श्रीकृष्ण लीलामृत का अन्तर, बाहिर आनन्दानुभव कर रहे थे । यह दास्य रतिकृत विपर्य्यय स्पष्ट ही है । इति ॥ ग्रन्थकार की उक्ति पद्य ५५ में दी गई है—

**श्लोकार्थ**—कालिय नाग लीला के प्रसंग में, जब रात्री को सहसा दावाग्नि से व्रजवासी आक्रान्त थे उस समय का वर्णन सखी किसी सखी के प्रति कर रही है—

हे सखि ! देख दावाग्नि के (महान्) भय से गुरुजन (हड़बड़ा) घबड़ा कर इधर-उधर भाग रहे

**तदातपे राधिकया स्वसंमुखं मुखं मुकुन्दस्य सुखं समीक्ष्यते ॥ ५५ ॥**

काचित् सहचरी कान्ताकान्तयोर्निरवद्यमन्मथवेद्यं (निरवद्यमनन्यवेद्यम्—इति वा पाठः स्यात्) परम प्रेष्ठतमं यत्प्रेम तल्लक्षणं दूरादवलोक्य निजसखीपुरतोऽनुवर्णयति पश्य लीति । हे आलि ! पश्य, गुरवः सर्वे गुरुजना विष्वक् समन्ततः ससम्भ्रमं सवेगं यथा स्यात्तथा भ्रमन्ति इतस्ततो धावन्ति । कीदृशा गुरवः— दावानलभीतचेतसः कालीयदमनानन्तरं ग्रीष्मातपनीरसे कालिन्दीरोधसि निशीथे सहसोद्भूतेन दावानलेन भीतानि चेतांसि येषान्ते । राधिकया तु भयानकेऽपि तस्मिन् समये मुकुन्दस्य परमानन्दप्रदस्य निजप्रियतमस्य मुखं तदातपे यस्य दावानलस्य परमप्रकाशे सुखं गुरुजनभयाभावेन अथेच्छं यथा स्यात्तथा समीक्ष्यते सं सम्यग् ईक्ष्यते विलोक्यते । कीदृशं मुकुन्दस्य मुखम्— स्वसंमुखमिति विशेषणं तस्यापि तस्यां तादृशप्रेम्णा निभृत तन्मुखावलोकनलालसां बोधयति । एवं तस्मिन्नतिदुःखमये समये तयोः परं सुखमेवाभूदिति दुःखसुखयोर्विपर्ययो मधुररतिकृतः स्फुट एव ॥ ५५ ॥

**यथा वा—आयातु पातु मथुराधिपतिः स्वगोष्ठं किं नोऽधुना मधुप ! तेनसुसाधुनापि ।**
**यत्तस्य हन्त विविधैर्विनयैरुपेतास्त्वेता वयं दयितनेत्रचकोरचन्द्राः ॥ ५६ ॥**

काचित् परमाभिरामा वामा व्रजरामागणमणि "मधुप ! कितव बन्धो ! मा स्पृश" इत्यादि मधुरनिजप्रणयोन्मादप्रलपितामृतपानसञ्जातमहोद्धवं निजभावविशेषलाभसम्भावनाभावभावनानिरुद्धविशुद्ध

---

हैं, परन्तु यह प्रिया श्रीराधा उसके प्रकाश में अपने सम्मुख उपस्थित श्रीश्यामसुन्दर के मुख (चन्द्र) का सुख पूर्वक दर्शन कर रहीं हैं ॥ ५५ ॥

**टीकानुवाद**—कोई एक सखी प्रिया-प्रियतम के दोष रहित मनोज वेद्य (बोध गम्य) परम उत्कृष्ट प्रेम को दूर से दिखाती हुई अपनी निज सखी के प्रति वर्णन कर रही है । हे सखि ! देख सभी गुरुजन चारों तरफ वेग पूर्वक अस्त-व्यस्त दशा में दौड़ रहे हैं । कारण यह है कि कालिय दमन के अनन्तर ग्रीष्म ताप से तपे हुए और जमुना किनारे इस अर्धरात्री में एकाएक दावाग्नि के भड़क उठने से इनके चित्त अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं । किन्तु प्यारी राधा तो ऐसे भयानक (दुःख के) समय में भी, उसी दावाग्नि के विशाल प्रकाश में परमानन्द प्रद अपने प्रियतम की मुख (माधुरी) का गुरुजनों के भय से मुक्त यथेच्छ—भली भाँति दर्शन कर रही हैं । भगवान् के मुख का विशेषण है—'स्वसम्मुखम्' जिससे यह बोधित होता है कि श्रीराधा रानी के प्रति उनके प्यारे के मन में भी उसी जाति के प्रेमाधिक्य से एकटक प्यारी के मुख अवलोकन की लालसा है । इस प्रकार ऐसे महान् दुःख के समय में उन दोनों को परम सुख ही हुआ—यह दुःख सुख का विपर्यय मधुर रतिकृत स्पष्ट ही है । इति ॥ ५५ ॥

पुनः ग्रन्थकार का पद्य इसी प्रसंग में प्रमाण है । श्लाकानुवाद ५६—श्रीकृष्ण के आदेश से श्रीउद्धव गोकुल पधारे । गोपाङ्गनाओं को सान्त्वना देने के लिये श्रीश्यामसुन्दर ने उन्हें भेजा था । उनकी बातें सुनकर इस पद्य में श्रीराधारानी की उक्ति है—

हे मधुप ! वे मथुराधिपति अपने गोष्ठ में आवें और उसकी रक्षा करें । वे बहुत सज्जन (साधु स्वभाव) भी हैं, परन्तु अब हमें उनसे क्या प्रयोजन ? बड़े खेद की बात है, वे उस समय नाना प्रकार से अनुनय विनय करते थे और हम उनके नयन चकोरों के लिये चन्द्रमा थीं । इति ॥ ५६ ॥

**टीकानुवाद**—कोई परम सुन्दरी व्रजललनामणि श्रीउद्धव के प्रति मधुप के व्यपदेश (मिस) से अपने स्वाभाविक वाम भाव द्वारा आक्षेप करती है, और उद्धव उसके 'मधुप !....' इत्यादि मीठे और प्रेमोन्मादवश उच्चारित प्रलाप रूप अमृत के पान से बड़े हर्ष को प्राप्त हो रहे थे । उद्धवजी उनके भाव विशेषों के ज्ञान की प्राप्ति में अशक्य थे । उनकी सम्भावना भी वे नहीं कर सक रहे थे । किंकर्तव्य रूप

बुद्धिमुद्धवं 'तमत्रागतमेव जानीत नीतिनिरतमस्मत्प्रभुम्' इति मुहुः प्रलपन्तं विप्रयोगविवशापि स्वभाव-परवशा मधुपापदेशेन सवाम्यमेव आक्षिपति—आयात्विति । मथुराधिपतिरिदानीमेवं प्राप्तमथुराधिपत्यत्यक्त-व्रजाधिपत्य इति ध्वनिः । सुखं यथेच्छमायातु । पितृपितामहीयत्त्वेन निजप्रजात्वेन वा स्वं स्वकीयं गोष्ठं गोकुलं पातु पालयतु । परन्तु हे मधुप ! इति श्लेषेण साक्षेपसम्बुद्धिः तेनाधुना साधुना नृपत्वेन निरस्तपूर्व-स्वभावत्वेन—प्रीत्यादिनिरतेनापि नोऽस्माकं सर्वासामेव न किंचिदपि प्रयोजनमित्यर्थः, कुतः यद् यस्मात्तस्य गोकुलयुवराजस्य । हन्त इति खेदे । विविधैर्बहुप्रकारकैस्त्वत्पुरतो वक्तुमप्यशक्यैर्विनयैः प्राणामादिलक्षणै-रुपसमीपमर्थात्तस्यैव इताः कदाचित् कथमपि पूर्वं सविधमात्रं प्राप्तास्ता एता वयन्तु तस्यैव दयितस्य नेत्रे एव चकोरौ तयोश्चन्द्राः । चकोरयोश्चन्द्र इव तन्नेत्रयोरस्मन्मुखावलोकनमित्यर्थः । अयं भावः—तस्य पूव-वदेवास्मद्दयितत्वं तदैव स्याद् यदा तन्नेत्रयोरस्मन्मुखावलोकनजीवनत्वं पूर्ववदेव स्यात्तथा विविधविनयादि-कर्त्तृत्वञ्च स्यात् तदैवास्मत्प्रयोजनसिद्धिः । इदानीन्तु मधुरपुरपुरन्दरस्य नीतिनिरतस्य तथात्वे कथमपि न सम्भवतीति तेन किं प्रयोजनमिति एवं तस्य सम्प्रति स्वसम्पादितेन तथात्वेन तत्सङ्गमसुखापेक्षया एतद्वि-रहदुःखमेव अस्माकं तस्यपूर्वरूपस्य यथावद् ध्यानसम्पादकत्वात् परमसुखसिति मधुररतिकृतोऽयं दुःख-सुखयोर्विपर्य्ययः ।। ५६ ।।

**यथा वा—शृण्वन्तु सख्यः सुखमेकमद्य श्रीकृष्णसौन्दर्य्यसुधां निपीय ।**
**अहं यथा यूयमहो महोग्रा मन्दा ननान्दाऽपि भृशं ननन्द ।। ५७ ।।**

---

उनकी विशुद्ध बुद्धि कुण्ठित हो रही थी । वे कह रहे थे, हमारे प्रभु नीतिज्ञ हैं—उन्हें आप यहाँ आया ही समझिये' । परन्तु विप्रयोग दशा में निमग्न गोपियाँ उनकी इस बात को प्रलाप समझ रही थीं । इस पद्य में 'मधुप ' में यह पद आया है जिसमें यह ध्वनि है कि अब व्रज के आधिपत्य को छोड़कर मथुराधिपति बन गये हैं !—गोपाङ्गनाएँ कह रही हैं जब उनकी इच्छा हो, आवें और अपने पिता, माता—महा परम्परा से चलती आ रही अपनी प्रजा स्थानीय गोकुल की पालना (रक्षा) करें। वे फिर श्लेष से आक्षेपपूर्वक सम्बो-धन देते हुए कहतीं हैं—अब हमको उनसे, भले वे प्रेमी कहाते हैं—राजा हो जाने पर भी कोई प्रयोजन नहीं है। उनका अब पहले जैसा स्वभाव नहीं रहा, क्योंकि वे गोकुल के युवराज हैं। 'हन्त' का अर्थ खेद है। किसी समय वे माधव हमारे सम्मुख नाना प्रकार अनुनय विनय (चाटुकारी) प्रणाम आदि करते थे जिनका तुम्हारे सामने वर्णन भी शक्य नहीं है। उस समय हम उनके मनुहार करने पर बड़ी कठिनता से किसी तरह उनके समीप जाती थीं, और उन प्रियतम के नयन चकोरों के लिये हम चन्द्र स्थानीय होती थीं, अर्थात् जैसे दो चकोर चन्द्रमा के दर्शन में तल्लीन होते हैं वे हमारे मुख का तद्वत दर्शन करते थे। यह भाव है कि यदि उनका पहले ही के समान हमारे प्रति प्रियता का भाव हो तथा उनके नेत्रों में हमारे दर्शन को जीवन रूप समझने की पहले ही के समान भावना हो एवं अनेक प्रकार के विनय आदि भी करें तभी हमारे प्रयोजन की सिद्धि (संभव) है। इस समय तो वे मथुरा के इन्द्र और नीति विशारद हैं, ऐसी स्थिति में भी उनसे हमारा क्या प्रयोजन संभव है। इस प्रकार इस समय तो उनके द्वारा सम्पादित उनके संगम सुख की अपेक्षा यह विरह दुःख ही हमारे लिये उनके पूर्व रूप का भली भाँति ध्यान का सम्पादक होने स महान् सुख है। यहाँ यह मधुर रतिकृत दुःख-सुख का विपर्यय उपस्थापित है। इति ।। ५६ ।।

ग्रन्थकार ने पद्य ५७ में भी प्रमाण दिया है। श्लोकानुवाद ५७—परकीया भाव में श्वसुर गृह विराजमान श्रीराधारानी अपनी सखियों से कहती हैं। हे सखियो ! एक सुख की वार्ता आज सुनो। श्रीकृष्ण की सौन्दर्य सुधा का पान करके जैसे मैं और तुम प्रसन्न होते हैं ऐसे ही आज बड़ी उग्र नीरस, यह ननद भी बड़ी प्रसन्न हो रही हैं। इति ।। ५७ ।।

कदाचित्कृष्णदयिता सखीसंसदि किमप्यपूर्ववृत्तान्तं दृष्ट्वा सानन्दमाह—शृण्वन्त्विति। हे सख्यः एकमपूर्वं सुखं शृण्वन्तु श्रीकृष्णस्य सर्वचित्ताकर्षकस्य सौन्दर्य्यमेव सुधा तां निपीय सादरमवलोक्य। अत्र सुधापदेन श्रीकृष्णस्य चन्द्रत्वारोपः। अहो इत्याश्चर्ये। महोग्रा अतिभयप्रदाः। मन्दा रसानभिज्ञापि ननान्दा अर्थान्मम। यथा अहं ननन्द, यथा यूयं ननन्द, तथा सापि भृशं ननन्द। अत्र पद्ये टुनदि धातोः प्रथमपुरुषैकवचनं मध्यमपुरुषबहुवचनमुत्तमपुरुषैकवचनं ननन्देत्येकेन पदेनोक्तमिति व्याकरणचित्रमवधेयम्। प्रियस्यान्यथा कृतमवलोकनं प्रेयसीनां दुःखमेव। अत्र तु तदेव सुखमिति मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्ययः॥५७

**यथा वा—सुखदा कदापि तस्मिन् ममेव दयितस्य मयि रतिर्मास्तु।**

**इममेव देव ! सवितर्वितर मे वरं कृपया॥ ५८॥**

"रतिरनिशनिसर्गोष्णप्रबलतरानन्दसान्द्ररूपैव। उष्माणमपि वमन्ती सुधांशुकोटेरपि स्वाद्वी॥
पीडाभिर्नवकालकूटकटुतावर्गस्य निर्वासनो निष्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कारसङ्कोचनः।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥"

इति महानुभाव श्रीरूपगोस्वामिवचनानुसारेण कृष्णरतेरात्यन्तिकदुःखसुखयोराधारतया दुस्सहप्रियवियोगबाधामगाधाशयतया अन्तरेवानुभवन्ती परमासाधारणनुरागती राधा निबद्धाञ्जलिः प्रसारिताञ्चला निजेष्टदेवं भास्करमयाचितचरं वरमसुलभमभियाचते—सुखदेति। तस्मिन्नवकुवलयदलकोमलकमनीयकलेवरे

---

**टीकानुवाद**—किसी समय श्रीकृष्णवल्लभा सखी, सखियों के समाज में कोई एक नई घटना देखकर बड़ी उत्सुकता पूर्वक प्रसन्नता से कह उठीं। हे सखियो ! एक अपूर्व सुख की बात सुनो। सबके चित्त के आकर्षक श्रीकृष्ण के सौन्दर्य माधुर्य्य सुधा का पान करके अर्थात आदर पूर्वक उनका दर्शन करके जैसे मैं, तुम प्रसन्न होते हैं ऐसे ही यह अति भय देनेवाली और रसनभिज्ञा मेरी ननद भी प्रसन्न हो गई है। यहाँ सुधा पद से श्रीकृष्ण में चन्द्र का आरोप किया गया है। इस पद्य में 'टुनदि' धातु के 'लिटलकार' के प्रथम पुरुष के एक वचन, मध्यम पुरुष के बहु वचन और उत्तम पुरुष के एक वचन में ननद, यह एक ही रूप बनता है। यह व्याकरण की विशेषता कवि की कला में जानने योग्य है अपने प्रिय का रूपान्तर से देखना प्रेयसियों के लिये दुःख ही है परन्तु यहाँ वही सुख बन गया है इस प्रकार मधुर रतिकृत यह उनका विपर्यय हुआ है। इति॥ ५७॥

ग्रन्थकार और भी पद्य है। श्लोकानुवाद ५८—एक समय श्रीराधाजी अंजुली बाँधकर भगवान सूर्य से प्रार्थना करती है—हे देव ! जैसे प्रियतम में मेरी प्रीति सुखप्रद है वैसी मेरे में उनकी कभी मत हो, आप कृपा करके यही वरदान मुझे दीजिये। इति॥ ५८॥

**टीकानुवाद—श्लोकार्थ**—श्रीरूप गो० पाद—१–श्रीकृष्ण की रति सतत सहज सन्तापदायिनी होने पर भी, अधिकाधिक सघन आनन्द रूप ही है। यह ऊष्मा को उगलती हुई भी कोटि-कोटि सुधाकर समूह से भी अधिक स्वाद है। इति। २–हे सुन्दरि अपनी पीड़ाओं से नूतन काल कूट की कटुता के गर्व को निर्वासित करनेवाला एवं अपने आनन्द के स्रोत से सुधा की माधुरी के अहङ्कार को धिक्कार देनेवाला, श्रीकृष्ण का प्रेम जिस (किसी) के चित्त में जग जाता है। वही व्यक्ति उसकी कुटिल एवं कमनीय विक्रान्ति (चाल) को साफ-साफ जान सकता है। इति।

यह दो पद्य श्रूप गो० पाद के वचनानुसार श्रीकृष्ण विषयक प्रेम के आत्यन्तिक दुःख-सुख के आधार का वर्णन करने के प्रसंग में उद्धृत हैं। श्रीराधा रानी का आशय अगाध है। वे प्रियतम के दुस्सह वियोग की बाधा का अन्तर में अनुभव करती हैं। उनका अनुराग परम-असाधारण है अर्थात् बहुत उच्च-कोटि का है। वे अंजुली बाँध, अञ्चल पसार कर अपने इष्ट देव सूर्य (सूर्य वंश की होने से) से, जिनसे पहले

दयिते ममेव यथा मम रतिस्तथा दयितस्य प्राणादधिकप्रियस्य तस्य मयि कदापि रतिर्मास्तु, इममेव नान्यं वरं मह्यं वितर देहि। किम्भूता रतिः—सुखदापि, अपि शब्दस्यात्रापि सम्बन्धः। यद्यपि प्रियस्य प्रियायामति-प्रीतिस्तस्याः सुखप्रदा, तथापि सा मयि मास्तु। तेन सुखेन ममालमिति भावः। यद्वा, हेतुगर्भमिदं विशेषणम्, यतः सुखदा प्रत्यक्षानुभूयमानसुखप्रदेति विरुद्धलक्षणयात्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिना विरहदुःखप्रदेति तत्प्रति-योगिनमेवार्थं व्यञ्जयति। यद्वा, यतः सुखदा सुखं सर्वमेव सर्वदैव द्यति खण्डयतीति तथा। "दोऽवखण्डने" इत्यस्मात्। ननु वरस्त्वयायमयाचिताऽदत्तचरः कथं प्रार्थ्यते? इत्यपेक्षायां वरं विशिनष्टि—मे वरमिति। ममायमेव प्रवरो वर इति भावः। "देवा भक्तेप्सितप्रदाः" इत्यनुस्मारयन्ती सम्बोधयति—हे देवेति। तत्र 'कृपया' इत्युक्त्वा निजेप्सितस्य देवोत्तमकरुणैकसाध्यत्वं विशदयन्त्या दुर्घटत्वं ध्वनितम्। तस्य रसज्ञत्वम्, गुणज्ञत्वम्, कृतज्ञत्वम्, प्रेमवश्यत्वावश्यकत्वञ्चानुध्वनिः। आत्मनः प्रेमगुणमाधुर्य्यादिगर्वितात्वं प्रत्यनुध्वनिः। तस्मिन्मम इव यदि मयि तस्य रतिरभविष्यत्तदाऽहमिव सोऽपि विरहवेदनामन्वभविष्यदिति भावः। अत्रापि मधुररतिकृतो विपर्य्ययस्तयोरिति स्फुटमेव ॥ ५८ ॥

**यत्र निकृष्टत्वमेवोत्कृष्टत्वम्। यथा तृतीये श्रीसनकादयः—३-१५-४९**

**"कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्तात्चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयो रमेत।**
**वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः पूर्य्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥" इति।**

---

कभी याचना नहीं की, यह वर माँगती हैं। नील कमल के नवीन पल्लव समान कोमल और सुन्दर देहधारी, अति-वल्लभ उन श्रीकृष्ण में जैसी मेरी प्रीति है, वैसी-प्रान से भी अधिक प्रिय, उन प्रियतम की मेरे में कभी मत हो। यह वर दीजिये और (कोई भी) नहीं। 'रति' पद का विशेषण 'सुखदा'—सुख देनेवाला और 'अपि' शब्द का यहाँ भी सम्बन्ध है। यद्यपि प्रियतम की प्रियतमा में अति प्रीति का होना उनके लिये सुखप्रद ही है तथापि वह प्रीति मेरे प्रति मत हो। उस सुख से मैं पूर्ण हूँ यह भाव है अथवा हेतु गर्भ विशेषण है। क्योंकि प्रीति प्रत्यक्ष अनुभव रूप से सुखप्रद है—इस विपरीत लक्षणा द्वारा अन्त्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि से विरह दुःख देनेवाली है ऐसे विरोधी अर्थ का ही 'सुखदा' यह 'विशेषण' व्यञ्जन करता है। (टि—ध्वनि के अनेक भेदों में यह भी एक भेद है) अथवा सुखदा के भावार्थ सर्वकाल में, और सब प्रकार के ही सुख का खण्डन करती है। 'अवखण्डनार्थ' के 'दा' धातु से यहाँ-द-यह रूप बना है। कोई जिज्ञासा करे कि ऐसे अनयाचित और कभी न दिये गये वर के लिये आप प्रार्थना ही क्यों करती हैं? इसके समा-धान में वर का विशेषण है 'मे वरं' मैं इस वर को श्रेष्ठ गिनती (समझती) हूँ। यह भाव है कि देवता भक्तों के अभिलषित को देनेवाले होते हैं इसका स्मरण कराती हुई सूर्य को सम्बोधित करती है। हे देव! इस प्रसंग में 'कृपया' इस पद से श्रीराधाजी ने यह ध्वनित किया कि मेरा वांछित वर उन उत्तम देव सूर्य की एकमात्र करुणा से ही साध्य है अथवा वह दुर्घट है। साथ ही यहाँ श्रीकृष्ण की रसज्ञता, गुणज्ञता, कृतज्ञता और प्रेम वश्यता आदि की अनुध्वनि होती है, और अपने विषय में प्रेम, माधुर्य्य आदि गुण से उत्पन्न अभिमानता (गौरव) प्रत्यनुध्वनित है—भाव यह है कि यदि मेरी जैसी उनमें रति है वैसे ही उनकी मेरे प्रति होती, तो मेरे ही समान वे भी विरह दुख वेदना आ अनुभव करते। यहाँ भी दुःख-सुख दोनों का विपर्यय मधुर रतिकृत साफ ही है। इति ॥ ५८ ॥

**मूलानुवाद**—जहाँ निकृष्टता ही उत्कृष्टता समझी जाती है—जैसे भागवत् ३-१५-४९ में श्रीसनकादिक का वचन है—

**श्लोकार्थ**—भगवन्! यदि हमारा चित्त भौंरे की तरह आपके चरण कमलों में ही रमण करता रहे, हमारी वाणी तुलसी के समान आपके चरण सम्बन्ध से ही सुशोभित हो और हमारे कान आपकी

काममिति । अत्र ब्रह्मानन्दानुभविनां तेषां तत्सुखापेक्षया इतरानन्दानां निकृष्टत्वमेवेति निर्णी तथापि भवत्कृपया सञ्जातस्वरूपदर्शनानां पूर्वसुखादपि निरयादिनिवासेऽपि भजनानन्दस्योत्कृष्टत्वेन मन मननमिति स्फुट एव निकृष्टत्वोत्कृष्टत्वयोर्विपर्य्ययः । स च ज्ञानिवराणां भगवत्कृपालेशसञ्जातदर्शनोद् शान्तिरतिलेशकृतः । अन्यत्तैर्व्याख्यातमेव ॥

**तथा दशमे ब्रह्मणोक्तम्— १०-१४-३०**

**"तदस्तु मे नाथ ! स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।**
**येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥" इति ।**

तदस्त्विति । अत्र परमोत्कृष्टेऽपि पारमेष्ठ्यपदे स्थितो ब्रह्मा तिर्यग्योनावपि तत्पादपल्लवसेव भूरिभाग्यत्वेन प्रार्थयतीति प्रीतिरतिकृतोऽयं तयार्विपर्य्यय । अन्यत्स्माभिभिर्व्याख्यातमेव ॥

**तथा तत्रैव—१०-१४-३४**

**"तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमांघ्रिरजोऽभिषेकम् ।**

---

सुयश सुधा से ही परिपूर्ण रहें तो अपने पापों के कारण भले ही हमारा जन्म नरकादि योनियों में हो जाय इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ यह बात समझनी चाहिये कि ब्रह्मानन्द में लीन उन (सनकादि) लोगों सुख की अपेक्षा, उसके अतिरिक्त और भी जितने आनन्द सुख (संभव) हैं वे सब निकृष्ट ही हैं यद्यपि निर्णीत है तथापि आपकी कृपा से स्वरूप दर्शन हो जाने पर पूर्व (ब्रह्म) सुख की अपेक्षा नरकादि निवास में भी भजनानन्द की मन में उत्कृष्टता का समझना यह स्पष्ट ही दोनों निकृष्टता और उत्कृष्टता विपर्यय है । ज्ञानियों को भगवत् कृपा के एक लेश से स्वरूप दर्शन होता है और उसमें उनको शान्ति-सु प्राप्त होता है । यहाँ शान्ति रति के एक लेश से यह विपर्यय संभव हुआ है । इसकी और व्याख्या श्रीध स्वामी पाद ने भी की है (वहाँ देखनी चाहिये) इति । ऐसे ही भा० १०-१४-३० में श्रीब्रह्माजी की उक्ति है

**श्लोकार्थ**—इसलिये भगवन् ! मुझे इस जन्म में, दूसरे जन्म में अथवा किसी पशु-पक्षी आदि जन्म में ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं आपके दासों में एक दास हो जाऊँ और फिर आपके चरण कमल की सेवा करूँ । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ ब्रह्म लोक पद सब से उत्कृष्ट है ब्रह्माजी वहाँ निवास करते हैं परन्तु वे पशु पक्षी योनि में जन्म लेकर भी भगवान् की पाद पल्लव सेवा को अपना अहोभाग्य समझ कर (इसे उत्कृ मान) इसके लिये प्रार्थना कर रहे हैं । यह दास्य रतिकृत इन दोनों का विपर्यय है । इसकी और व्याख्या श्रीधर पाद ने की है । इति । पुनः वहीं और भी ब्रह्माजी की उक्ति भा० १०-१४-३४ में है—

**श्लोकार्थ**—प्रभो ! इस व्रज भूमि के किसी वन में और विशेष करके गोकुल में किसी भी योनि में जन्म हो जाय, यही हमारे लिये बड़े सौभाग्य की बात होगी । क्योंकि तब आपके किसी न किसी प्रेमी के चरणों की धूलि अपने ऊपर पड़ ही जायगी । प्रभो ! आपके इन प्रेमी व्रजजनों का सम्पूर्ण जीवन आप ही जीवन है । आप एक मात्र इनके जीवन सर्वस्व हैं । इसलिये उनकी चरण धूलि मिलना आपकी चरण धूलि मिलना है जिस आपकी चरण धूलि को अनादि काल से श्रुतियाँ अब तक ढूँढ रही हैं । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ भी ब्रह्माजी अपने ब्रह्मपद की अपेक्षा गोकुलवासियों में जिस किसी की भी चरण रज को मस्तक पर धारण करने के लिये प्रार्थना करते हैं और इसमें अपना परम भाग्य मानते हैं इस प्रसङ्ग में निकृष्टता-उत्कृष्टता का विपर्यय स्पष्ट है । इति । वैसे ही भागवत् १०-४७-६१ में श्रीउद्धव की उक्ति है—

**यज्जीवितन्तु निखिलं भगवान्मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥" इति ।**

तद् भूरिभाग्यमिति । अत्रापि परमेष्ठिनोऽपि तस्य गोकुलवासिनां मध्ये यस्य कस्यापि चरण-रजोऽभिषेकलक्षणं भूरिभाग्यमर्थयतः प्रकट एव निकृष्टत्वोत्कृष्टत्वयोर्विनिमयः ॥

**तथा दशमे उद्धवोक्तिः—१०-४७-३१**

**"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।**
**या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥" इति ।**

आसामिति । अत्रापि—"नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः" भा० ३-४-३१ इत्यादिभिः श्रीमुखसंस्तुतस्यापि तस्य श्रीकृष्णे परमानुरागवतीनां श्रीव्रजसुन्दरीणां चरणरेणुजुषां लतौषधीनां मध्ये यत्किञ्चिज्जन्मप्रार्थन-लक्षणस्तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव । स च मधुररतिशबलितदास्यरतिकृतः ॥

**प्रथमे सूतोक्तिः—१-१६-१६**

**"सारथ्यपारिषदसेवनसख्यदौत्यवीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान् ।**
**स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिञ्च विष्णोर्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ॥" इति ।**

सारथ्येति । अत्रापि जगत्प्रणतस्यापि श्रीकृष्णस्य सारथ्यादिसामान्यकर्मकर्त्तृत्वं निकृष्टत्वमेव, तदपि भक्तिं करोतीत्युत्कृष्णत्वमेवोपपादितम् । एवं तस्य युधिष्ठिरादीनाञ्च वात्सल्यसख्यदास्यादिसम्भवय-थोचितभक्तवात्सल्यादिरतिकृतोऽयं स्फुट एव तयोर्विपर्य्ययः ॥

---

**श्लोकार्थ**—मेरे लिये तो सबसे भली बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावन धाम में कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि बन जाऊँ । अहा ! यदि ऐसा हो तो मुझे इन व्रज गोपियों की चरण धूलि निरन्तर प्राप्त होगी और मैं धन्य हो जाऊँगा । धन्य हैं यह गोपियां देखो, जिनका त्याग अति कठिन है, उन स्वजनों तथा लोक वेद की आर्य मर्यादा का परित्याग करके इन्होंने भगवान् की पदवी, उनमें तन्मयता और उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—और की क्या बात, समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भगवद्वाणी भी अब तक परन प्रेममय स्वरूप को ढूँढती हुई भी प्राप्त नहीं कर पातीं । इति ।

**टीकानुवाद**—भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमुख से कहा कि उद्धव मेरे से अणु भर भी न्यून नहीं है—(भा० ३-४-३१ में कहा है) ऐसे उद्धव भी श्रीकृष्णासक्त परम प्रेमवती व्रज सुन्दरियों की चरण रेणु का स्पर्श करनेवाली लता ओषधि बन जाने की प्रार्थना करते हैं यह दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है और यह मधुर रति से संवलित दास्य रति कृत हुआ है । इति । भा० १-१६-१६ में श्रीसूतजी की उक्ति है ।

**श्लोकार्थ**—वे सुनते कि भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रेम परवश पाण्डवों के सारथि का काम किया—उनके सभासद बने और उनकी मन चाही सेवा भी की, उनके सखा तो थे दूत भी बने । वे रात को शस्त्र ग्रहण करके वीरासन से उनके शिविर का पहरा देते—पीछे पीछे चलते, स्तुति करके प्रणाम करते इतना ही नहीं सारे जगत् को उनके चरणों में झुका दिया, तब परीक्षित की भक्ति श्रीकृष्ण चरणों में और भी दृढ़ होती । इति ।

**टीकानुवाद**—इस प्रसंग में भी सारा संसार जिन्हें (उत्कृष्ट मान) प्रणाम करता है वे ही श्रीकृष्ण सारथ्यादि कर्म करते जो निकृष्ट ही है तथापि (पाण्डवों की) भक्ति करते हैं । इस उक्ति से उनकी उत्कृष्टता ही समर्थित होती है इस प्रकार उनके और युधिष्ठिर आदि में वात्सल्य, सख्य और दास्य आदि से उत्पन्न यथोचित भक्त वात्सल्य आदि रति कृत उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है ।

ग्रन्थकार का पद्य प्रमाण में है—श्लोकानुवाद ५९—श्रीराधा रानी को मनाने के लिये श्रीश्याम-

**यथा वा—कृष्णस्त्वया यो नयनाञ्जनीकृतो हारीकृतो नीलमणीन्द्रमञ्जुलः।**
**मानिन्ययं सम्प्रति गन्तुमीहते प्रियोनुरक्तः पदयोरलक्तताम् ॥ ५९ ॥**

काचित्सखी यत्नसहस्रैरपि गुरुमानवतीं कान्तामनुनेतुमनीशा कान्तमेव तदन्तिकमानीय सोऽयं चरणतलं शिरसा स्प्रष्टुमिच्छति तत्कृपया वितरेति मानिनीं दाक्षिण्यविशेषेणार्थयति—कृष्णस्त्वयेति। हे मानिनि ! अयं पुरतोऽञ्जलिं बद्ध्वा स्थित इत्यंगुल्या निर्दिशति। पादयोः अर्थात्तवैव अलक्ततां यावकत्वं गन्तु प्राप्तुमीहते वाञ्छति। कीदृशोऽयम्—यस्त्वया नयनाञ्जनीकृतः नयनयोरञ्जनतां नीतः। अत्र नयनपदान्ते कमलादिरूपकानुक्तिः अनन्वयेन निरुपमत्वं बोधयति। यतः कृष्णः श्यामसुन्दरः, तथा हारीकृतो हृदयहारतां नीतः, हृदयेन सादरमलंकृत इत्यर्थः। यतो नीलमणीन्द्रमञ्जुलो नीलश्चासौ मणीन्द्रस्ततोऽपि मृदुलाङ्गत्वेन मञ्जुल इति पञ्चमीतत्पुरुषः। अत्र तद्भाव इति। पुनः कीदृशोऽयम्—सम्प्रति इदानीन्त्वनुरक्तोऽतीवानुरागवान् अत एव यावकत्वमिच्छतीत्ययं भावः। बहिरन्तः श्यामतामस्य विजानन्त्यापि त्वयैव न तु सख्यादिशिक्षया प्रष्टव्योऽयम्। "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" इति न्यायेनैवं व्याख्यातम्। नेत्रकण्ठैरलंकृत्य परमादृतः अत एवेदानीमागतवैयात्यः परमानुरक्तः सन् यावकवत् पादतलसंलग्नतयात्मानं शोभयितुमिच्छति। तथा मम तव चरणसंलग्नत्वमेव यथा सदैव स्यात्तथैवाधुनाऽनुग्रहो विधेय इति प्रच्छन्नप्रार्थनया सदैव मानाभावं प्रार्थयति। एवं नेत्रहृदयनिवासिनस्तस्य पदयावकत्वप्रार्थनरूपपराजयः स्फुट इति तयोर्मधुररतिकृतोऽयं विपर्य्ययः ॥ ५९ ॥

---

सुन्दर उनके चरणों का स्पर्श करना चाहत हैं इस रसमय पद्य में उसका वर्णन है–हे मानिनि ! यह श्रीकृष्ण जिनको तुम ने अपने नेत्रों में अञ्जन बताया है और श्रेष्ठ नीलमणि निर्मित सुन्दर हार समान वक्षस्थल पर स्थापित किया है। अब वे प्रिय, अनुरक्त श्रीकृष्ण आपके चरणों में महावर बनना चाहते हैं। इति।

**टीकानुवाद**—कोई सखी हजारों प्रयत्न करके भी महा-मान में स्थित कान्ता (श्रीराधा) को अनुनय विनय द्वारा भी शान्त न कर सकी तब कान्त श्रीकृष्ण को उनके समीप ले आई और कहने लगी, वे ये श्रीकृष्ण आपके चरण तल को सिर झुकाना चाहते हैं। सो कृपा करके वैसी आज्ञा दीजिये। इस इस प्रकार सखी उन मानिनी के प्रति बड़ी चातुरी से प्रार्थना करती हैं। सामने खड़े श्रीकृष्ण के प्रति अंगुली निर्देश पूर्वक वह कहती है। हे मानिनि ! यह श्रीकृष्ण केवल तुम्हारे ही चरणों में महावर बनना चाहते हैं। ये वे ही तो हैं—जिनको तुमने अपने नेत्रों में अञ्जन बनाकर रखा—यहाँ 'नयन' पद के अन्त में कमल आदि रूपक पद का प्रयोग न करना अनन्वय नामक अर्थालंकार से नेत्र की निरुपमता का बोधन कराया है। क्योंकि श्रीकृष्ण श्यामसुन्दर हैं तथा उनको अपने हृदय का हार बनाया है अर्थात् आदर पूर्वक हृदय में उन्हें अलंकृत किया है। क्योंकि वे उत्तम जाति की नीलमणि की अपेक्षा भी अत्यन्त मृदुल और परम सुन्दर हैं। इसमें पंचमी तत्पुरुष करना चाहिये। उनमें नीलमणि का साम्य स्पष्ट है। परन्तु इस समय तो यह अतीव अनुराग वान हो रहे हैं अतएव लालवर्ण का महावर बनने की लालसा रखते हैं। यह भाव है। सखियों की शिक्षा बिना ही इनकी बाहिर-भीतर से श्मामता को तो आप स्वयं जानती ही हैं। इसलिये अब आप (स्वयं) ही इनसे पूछ लो कि यह राग (लाली) इन (आप) में कहाँ से आ गई। पद 'सर्वं ......' इस न्याय से व्याख्यात होता है। ये नेत्र और कण्ठ मैं अलंकृत होकर परम आदर को प्राप्त हो चुके हैं। अतएव धृष्टता या (निर्लज्जता) से परमासक्ति वश अब यावक तुल्य आपके चरणों में लिपट कर अपने आपको सुशोभित करना चाहते हैं। तथा यह गुप्त प्रार्थना भी करना चाहते हैं कि मैं सदा आपके चरणों में ही रहूँ ऐसी कृपा करो यह भाव है। अब कभी मान मत करना। इस प्रकार नेत्र हृदय के उत्कृष्ट स्थान को प्राप्त करके भी उनका चरणों का यावक बनने की प्रार्थना रूप पराजय स्पष्ट ही है। यह उन दोनों

**यत्र तम एव प्रकाशः । यथोक्तं श्रीरूपगोस्वामिचरणैः—**

**"हरिमुद्दिशते रजोभरः पुरतः सङ्गमयत्यमुं तमः ।**
**व्रजवामदृशां न पद्धतिर्विदिता सर्वदृशः श्रुतेरपि ।।" इति ।**

कश्चन पाण्डित्याभिमानिनां किञ्चिच्छ्रीवृन्दावननिवासादिप्रभावोदितमृदुश्रद्धतया निजान्तिकमागतं तत्र रजस्तमोभ्यामसम्भिन्नशुद्धसत्त्वात्मके मनसि भगवत्प्रादुर्भावो नान्यथेति श्रुतिशास्त्रादिवचनैर्वावदूकतया तथैव सिद्धान्तं समर्थयन्तं कश्चित् श्रीवृन्दावननिवासैकजीवनः परिणतानन्यरसिको निजरसमयालङ्कारिकरीत्यैव तन्मतमव्याप्तिग्रस्ततयाऽऽक्षिपन् कृपालुतया किञ्चित्स्वरहस्यमप्युपदिशति—हरिमिति । हे महापण्डित ! शृणु, व्रजवामदृशामस्मत्सम्प्रदायाचार्य्यरूपाणां श्रीव्रजसुन्दरीणाम् । तासामाचार्य्यत्वञ्च श्रीमदुद्धवेनोक्तम्—"भक्तिः प्रवर्तिता दिष्टया मुनीनामपि दुर्लभा ।" इति । तासां पद्धतिः पदवी भगवत्प्राप्त्युपायः सर्वदृशः सर्वज्ञायाः श्रुतेरपि किमुत शास्त्रादेः किमुत सुतरां पुनस्तव विदिता ज्ञानगोचरा, यतः तासां सम्प्रदाये रजोभरोरजसः—गोरजसः श्लेषेण रजोगुणस्य भरो हरिमुद्दिशति—आगतं कथयति । तथा तमोऽन्धकारः श्लेषेण तमोगुणः, अमुं श्रीकृष्णं पुरतः अग्रतः साक्षादित्यर्थः, सङ्गमयति तत्सङ्गमं सम्पादयति । अतो रजस्तमोभ्यामेव साक्षात्प्राप्तिरिति भवद्वचसोऽव्याप्तिग्रस्तत्वमेवेति । किञ्च प्राचीनैरप्युक्तम्—

---

का विपर्यय मधुर रति द्वारा सम्पादित हुआ है । इति ।।

**मूलानुवाद**—जहाँ (उस प्रेम नगर में) तम ही प्रकाश माना गया है ।

जैसा कि श्रीरूप गो० पाद की उक्ति है । शुद्ध सात्विक मन में भगवान् का प्रादुर्भाव होता है, इस सिद्धान्त के माननेवाले किसी पण्डित के प्रति रसिक भक्त ने इस पद्य में यह बात कही है—

**श्लोकार्थ**—यहाँ तो, जो रज (श्लेष से रजोगुण) अर्थात् धूलि श्रीहरि के आगमन की सूचना देती है और तम-अन्धकार (श्लेष से तमोगुण) उसका संगम करा देता है । व्रजाङ्गनाओं की (ऐसी) प्रेम पद्धति सर्वज्ञ श्रुति को भी ज्ञात नहीं है । इति ।

**टीकानुवाद**—किसी व्यक्ति को अपने पांडित्य का अभिमान था—कथंचित् श्रीवृन्दावन निवास आदि के प्रभाव से कोमल श्रद्धा उत्पन्न हो गई । प्रसंगवश वे एक भक्तप्रवर के समीप गये और (सत्संग चर्चा में) वहाँ कहने लगे कि रज-तम से रहित शुद्ध सत्वात्मक चित्त में ही भगवत् प्रादुर्भाव होना संभव है अन्यथा नहीं । इस प्रकार के श्रुति शास्त्र आदि वचनों से वाक् पांडित्यपूर्वक वैसे ही सिद्धान्त का समर्थन करने लगा । उसकी बातें सुनकर श्रीवृन्दावन निवास को ही एक मात्र जीवन सर्वस्व माननेवाले परिपक्व (उस) रसिक अनन्य ने अपनी रसमयी अलङ्कारिक रीति से, उन (पंडित) के मन को अव्याप्ति दोष से ग्रस्त बताकर उस पर आक्षेप किया और दयालुतावश (इस पद्य द्वारा) कुछ उपदेश दिया । इति । हे महा-पण्डितजी ! सुनो—हमारे सम्प्रदाय की आचार्या श्रीव्रज सुन्दरी हैं—जैसे उद्धव ने कहा है—'बड़े सौभाग्य की बात है कि मुनिजनों के लिये भी दुर्लभ भक्ति का (हे गोपियो) आपने प्रवर्तन किया है' । इति । उन्हीं की पद्धति भगवत् प्राप्ति का (यथार्थ) उपाय है । कैमुतिक न्याय से फिर सर्वज्ञ श्रुति को, शास्त्रादि को भी अथवा तुम्हारे लिये भी वह ज्ञान गोचर नहीं है । क्योंकि उनके (गोपियों के) सम्प्रदाय में 'रजोभरः' गोधूलि श्लेष से रजोगुण का वाहुल्य हरि के आगमन की सूचना देता है और तम-अन्धकार श्लेष से तमोगुण उन श्रीकृष्ण को साक्षात् सामने ही मिला देता है । इसलिये रज-तम से ही साक्षात् प्राप्ति होती है । तुम्हारा वचन तो अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है (टि—जो भी लक्षण प्रसङ्ग में घटे वह अव्याप्ति दोष कहा है) प्राचीनों ने भी कहा है ।

**श्लोकार्थ-टीकानुवाद**—श्रुतियाँ तो पलाल (धान के तुष) के सदृश हैं, हम उसमें क्या ढूढें क्योंकि

"श्रुतयः पलालकल्पाः किमिह वयं साम्प्रतं विचिनुमः ।
आह्रियत पुरैव नयनैराभीरीभिः परं ब्रह्म" ॥

इत्यादि बहुशः । ततः पूर्वश्रद्धासङ्कोचपूर्वकमेतन्मतानुसरणमेव वरमिति । तासां कान्तविषयक-मधुररतिकृतोऽयं प्रकाशतमसोर्विपर्ययः स्फुट एव । अतो नाधिकं वितन्यते ॥

**तथोक्तं श्रीगोस्वामिगोपालकृष्णैः—**

**"नक्तं प्राक् पुनरम्बुवाहनिवहैर्व्योमावृतं सर्वतो**
**भूयः क्ष्मातलचुम्बिभिर्द्रुमचयैर्वृन्दावनं गह्वरम् ।**
**राधे ! ताम्यसि किं भियान्धतमसि कृष्णो न दृश्योऽधुना**
**दैवाद् द्रागचिरद्युतिः स्फुरति चेत्त्वं नैव दृश्या जनैः ॥" इति ।**

काचिच्चतुरसहचरी निकुञ्जे कान्तविरहविवशां विलोक्य कान्तामभिसारयितुं त्वरितमागता तत्र तां निजाभिजात्येन गोकुललोकावलोकनशङ्कया किञ्चिन्मन्थरायमाणामाज्ञाय सोपपत्तिकेन वचसा तत्र भयाभावमेव समर्थयन्ती तदङ्गकान्त्योरेवाद्भुततां व्यञ्जयति—नक्तं प्रागिति । —हे कान्ते ! शृणु, प्राक् पूर्वमिदानीन्तु नक्तं रात्रिमुखम् । तेन प्रतिक्षणमन्धकारबाहुल्यं व्यञ्जितम् । सा च तामसी तत्रापि अम्बुवाहनां रससम्भृततयाऽतिश्यामानां निवहैः समूहैः न तु विरलैः सर्वतः सर्वतोदिशं व्योम आवृतं व्याप्तमिति घनविघनविघटनशङ्कानिरासपूर्वकं तमसो गाढतमत्वमुक्तम् । भूयः क्ष्मातलचुम्बिभिरासारसमयसमुत्पन्नकिसलयदलादिस-

---

गोपाङ्गनाओं ने उस परब्रह्म को तो नेत्रों द्वारा पहले ही आहरण कर लिया अर्थात् अपाँग आदि द्वारा अधीन कर लिया है। ऐसी बहुत उक्तियाँ हैं । इसलिये अपनी प्रथम श्रद्धा को संकुचित करके इस मन से उन (गोपियों) का अनुसरण करना ही श्रेष्ठ है । यह उनके द्वारा कान्त विषयक मधुर रतिकृत तम और प्रकाश का विपर्यय स्पष्ट ही है । इसका अधिक विस्तार नहीं किया गया है । इति । इस प्रसंग में गोस्वामी श्रीगोपाल कृष्ण की उक्ति भी है ।

**श्लोकार्थ**—मुझे कोई देख न ले इस भय से व्यग्र नायिका के प्रति उसकी सखी द्वारा अभिसार के लिये प्रोत्साहन दिया गया है—हे राधे ! देखो, सायं तो उपस्थित ही है, फिर बादलों के समूह आकाश को चारों तरफ घेरे हुए है, और वृक्ष समूहों की लटकती हुई शाखाओं से स्पर्श करके भूमि भी अंधकार आच्छादित है । श्रीवृन्दावन इन हेतुओं से और भी गहन (घना) हो रहा है । अतएव इस घोर अन्धकार में तुम भय से क्यों आक्रान्त हो—अर्थात् घबड़ा रही हो । अब यहाँ श्रीकृष्ण भी किसी को दीखेंगे ही नहीं । दैवयोग से बिजली भी चमक पड़ी, तो तुम भी नहीं दीखोगी । इति ।

**टीकानुवाद**—किसी चतुर सहचरी ने देखा कि प्रियतम के वियोग से विह्वल निकुञ्ज में प्रियतमा उपस्थित है और अभिसार के निमित्त शीघ्र यहाँ आई है । परन्तु 'अपनी कुल के गोकुलवासी (गुरुजन आदि) मुझे देख न लें' इस शंका से कुछ मन्द गति हो गई है । उसकी इस स्थिति को जानकर वह (सहचरी) युक्ति पूर्ण वाणी से 'उसको वहाँ कोई भय नहीं' इस भयाभाव का समथन करती हुई, उसके अंग और कान्ति की अद्भुतता का भी वर्णन करती हुई उसके प्रति कहती है—हे कान्ते ! सुनो—पहले तो इस समय सायं (प्रदोष) काल है, इससे क्षण-क्षण में अन्धकार बढ़ता ही जा रहा है यह व्यक्त किया, और यह रात्री भी कृष्णपक्ष की अँधियारी है । उस पर भी यह काले घने बादलों का समूह चारों दिशाओं में आकाश में व्याप्त हो रहा है । इससे यह सूचित किया कि मेघों के छिन्न-भिन्न (तितर-बितर) होने की कोई संभावना नहीं है, अर्थात् अन्धकार की गाढ़ता बनी ही रहेगी । फिर वर्षाकाल में उत्पन्न हुए वृक्षों के नवीन शाखा आदि से वृक्ष समूह भूमि का स्पर्श कर रहे हैं जिससे, वृन्दावन जो सहज ही वन होने से सघन (अन्धकार

मुत्पन्नतया भूतलस्पृग्भिस्तत्रापि तेषां द्रुमाणां चयैः समूहैः वृन्दावनं स्वत एव वनत्वेन सघनमपि तैर्गह्वरं दुष्प्रवेशम्, एतेन तमसो गाढतमत्वं तथा गह्वरपदाभिव्यञ्जितविजनतया शंकाभावश्च बोधितः। तत्र कस्याप्यागमनमेव नास्तीति व्यञ्जितम्। ततः हे राधे ! प्रेमशङ्कापरवशा किं ताम्यसि-किं करोमीति चिन्तया कथं खिद्यसि-सत्वरमभिसर। ननु कदाचित्कोऽपि तत्रागत एव स्यात्तदा किं विधेयमिति चेत्तत्राह—शृणु, युवयोर्युगपदेकत्र दर्शने भयं भवेत्। तत्राधुनैवंभूते गाढतमसि कृष्णः श्यामसुन्दरो दृश्यो दर्शनयोग्यो न, तं न कोऽपि द्रक्ष्यतीत्यर्थः। ननु विद्युदुदयतया विभेमीति तत्राह—पूर्वं वर्षोन्मुखे घनतरे घने विद्युदेव न प्रकाशते, यदि दैवात्सा स्फुरति प्रकाशते चेत्तर्हि सा अचिरद्युतिरिति क्षणमात्रमेव तत्प्रकाशः, ततोऽपि विभेमीति चेत्तर्हि तदा विद्युत्प्रकाशे त्वं जनैर्न दृश्या। सुवर्णाङ्गीं त्वां न कोऽपि द्रक्ष्यतीति सत्वरमभिसरेति भावः। एवं प्रकाशतमसोः क्रमेणाऽभयकरत्वे तथा कार्यसाधकत्वाऽसाधकत्वे च प्रसिद्धे। अत्र तु अभयकरत्वात् प्रियमिलनादिसर्वकार्यसाधकत्वात् तमस एव प्रकाशत्वमङ्गीकृतमिति ज्ञेयम्। एवं तयोर्मधुररतिकृतोऽयं तमः-प्रकाशयोर्विपर्य्यः पद्यस्य पादत्रयेण दर्शितः। तुर्य्यं पादन्तु एतस्य व्यतिरेकरसविशेषस्य पोषकमिति सूक्ष्मदृशावधेयमिति ॥

**यथा कस्यचित्—"रभसादभिसर्त्तुमुद्यतानां वनितानां सखि ! वारिदो विवस्वान्।**
**रजनी दिवसोऽन्धकारमर्चिर्विपिनं वेश्म विमार्ग एव मार्गः ॥" इति।**

---

पूर्ण) है और भी गहन हो रहा है, अतएव वहाँ इस समय किसी का प्रवेश कठिन है। ऐसा कहने से यह बताया कि अन्धकार की अत्यन्त गाढ़ता है और गह्वर पद से वहाँ निर्जनता (अर्थात् वहाँ कोई भी आ जा नहीं सकता) होने से तुम्हारी शंका निर्मूल है यह बोध कराया गया है। अतएव वहाँ किसी का आगमन संभव नहीं यह व्यञ्जित किया। इसलिये, हे राधे ! प्रेम शंका के वश होकर 'क्या करूँ' इस चिन्ता से वृथा क्यों खिन्न हो रही हो अतएव शीघ्र चलो (रुको मत)। 'यदि वे यह प्रश्न करें' कि वहाँ कदाचित् कोई आ ही गया तो क्या होगा' इसका समाधान सखी करती बोली-सुनो तुम दोनों का एक साथ एक जगह देखने से ही तो भय है सो इस समय ऐसे गाढांधकार में श्रीकृष्ण (सहज) श्यामसुन्दर होने के कारण किसी को दिखाई नहीं दे सकते अर्थात् कृष्णवर्ण अन्धकार में कैसे देखा जा सकेगा। यदि वे यह कहें कि बिजली की चमक हो जाने पर भय की संभावना है। तो इस पर सखी बोली पहले तो घने बादल जब वर्षा के लिये उन्मुख होते हैं, तब बिजली चमकती ही नहीं (यह नियम है) यदि दैवयोग से चमके भी, तो उससे क्षण भर के लिये ही प्रकाश की संभावना है (स्थायी नहीं)—यदि कहो 'उससे भी मैं डरती हूँ' तो घबड़ाओ मत, उस समय भी तुम्हें कोई नहीं देख सकेगा क्योंकि स्वर्ण वर्ण के समान गौरांगी तुमको उस विद्युत के प्रकाश के समान गौरांगीं तुमको उस विद्युत के प्रकाश में एकमेक हो जाने के कारण कोई देख ही नहीं सकेगा। इसलिये शीघ्र चलो यह भाव है। इस प्रकार प्रकाश और अन्धकार के इस क्रम में डरने की कोई आवश्यकता नहीं उनसे तो प्रसंगानुसार कार्य की सिद्धि भी होती है और असिद्धि भी परन्तु यहाँ तो उन के अभयप्रद होने से प्रिय संगम आदि समस्त की साधकता ही होनी है—अतएव इस प्रकरण में तम की प्रकाशता स्वीकृत की गई है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार दोनों का यह विपर्यय मधुर रतिकृत है यह इस पद्य के तीन पादों द्वार बताया गया और चतुर्थ पाद इसके व्यतिरेक रस का पोषक है, यह बात सूक्ष्म दृष्टि से समझने की है।

इस विषय में किसी अन्य रसिक की अनूठी उक्ति है—कोई चतुर सखी अभिसार-भीत प्रेयसी नायिका के प्रति कहती है—श्लोकानुवाद—हे सखि ! क्या डरती हो, अभिसार में प्रवृत्त वनिताओं के लिये तो प्रेम के आवेग में (प्रियतम से मिलने के लिये) बादल ही सूर्य है, रात्री ही दिन है, अन्धकार ही प्रकाश

घनतरघनघोरतमिस्रायामस्यां तमिस्रायां परमान्धकारे भवनं विहाय वने गमनं कर्त्तुं शङ्कमाना अस्मि, पुनर्यथा कथञ्चित्कृतेऽपि तस्मिन्मार्गज्ञानाभावात् कथमभिसरामीति वदन्तीं कृष्णे नवानुरागवतीं कामपि काचित्सहचरी प्रेमाभिसारप्रक्रियासारमुपदिशति—रभसादिति। हे सखि ! इति सम्बुद्धिस्त्वं न जानासि सख्येनाहमुपदिशामि, शृणु—इत्यभिप्रायेण। रभसात् प्रणयसम्भ्रमादभिसर्त्तुं प्रियान्तिकं गन्तुमुद्यतानां वनितानां जातात्यन्तानुरागाणां वारिदो वर्षन्मेघः, विवस्वान् सूर्य्यः, रजनी रात्रिः, दिवसो दिनम्, अन्धकारं तमः, अर्चिर्दीपः, विपिनं वनमेव वेश्म गृहम्, विमार्गो मार्गत्याग एव पन्थाः। ततः प्रेम्णो गतिविपरीतैवेति ज्ञात्वा सुखमभिसरेति। एवं मधुररतिकृतोऽयं तमःप्रकाशयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव। अत्र पद्ये पादत्रयेणैव निजाभिप्रेतोदाहरणसिद्धिः। चतुर्थचरणस्तु पद्यस्य पठने शोभोद्भावार्थं प्रेम्णो विविधविपर्य्ययकर्तृबोधनार्थमेवेति ज्ञेयम् ॥

**तथा कविर्गोवर्द्धनः—"तमसि प्रदीपकलिका शिबिका पथि तूलिका शयने**
**यूनोः सौहृदलतिका किशलयकुटिकाऽऽतपे भवति ॥" इति।**

तमसीति। अत्रापि पूर्वैवावतारिका। यूनोः सौहृदलतिका तमसि प्रदीपकलिका भवतीति स्फुट एवार्थः। एतद्वाक्येनैवास्मत्प्रयोजनसिद्धिः। वाक्यान्तराणि तु शोभार्थं प्रेम्णोऽनन्तविपरीतकारित्वबोधनार्थमेव लिखितानीति ज्ञेयम्। एवं मधुररतिकृतोऽयं तमःप्रकाशयोर्विपर्य्यय प्रस्फुट एव।

---

है एवं वन ही घर और कुमार्ग ही सुमार्ग है। इति ॥

**टीकानुवाद**—श्रीकृष्ण के प्रति किसी गोपाङ्गना का अभी नवीन प्रेम हुआ था, वह उनके पास जाने को अत्यन्त आतुर थी परन्तु अत्यन्त गाढ कृष्णपक्ष की रात्री के घोर अन्धकार में अपने घर को छोड़कर वन में जाने में शंकित हो रही थी। फिर जैसे तैसे जाने के लिये उद्यत होने पर भी मार्ग ज्ञात नहीं था इस दशा में वह सोचती थी कि मैं कैसे अभिसार करूँ। इस पर किसी सहचरी ने प्रेमाभिसार की प्रक्रिया के तत्त्व का उपदेश दिया—हे सखि ! इस सम्बोधन का भाव यह है कि तुम नहीं सदझती मैं मैत्री-भाव से तुम्हें (हित का) उपदेश देती हूँ–सुनो जो (कोई) प्रेम के आवेश में प्रियतम के समीप जाने को उद्यत होती हैं (कमर कस लेती हैं) और जो परम अनुरागवती हैं उनके लिये वर्षाकाल का बादल सूर्य है, रात्री दिन है, अन्धकार ही दीपक है; बन ही घर है और कुपथ ही पथ है। इसलिये प्रेम की गति विपरीत ही होती है। इस बात को (भली भाँति) समझ कर सुख से अभिसार कर। इस प्रकार मधुर रति द्वारा प्रवर्तित यहाँ तम और प्रकाश का विपर्यय स्पष्ट ही है। इस पद्य में तीन पादों द्वारा अपनी अभिलषित उदाहरण आ गई हैं और चौथे चरण पद के पाद में शोभा का हेतु है अथवा प्रेम के अनेक प्रकार के उलट फेरों के व्यक्त करने के लिये हैं। इति। कविवर श्रीगोवर्द्धनजी ने भी इस प्रसङ्ग में कहा है—

**श्लोकार्थ**—प्रेमियों को किसी सुख सामग्री की अपेक्षा नहीं होती तथा न ही किसी भय से वे विचलित होते हैं इसी भाव का इस पद्य में वर्णन हुआ है—दो प्रेमियों की प्रेम लता ही उनके लिये अन्धकार में दीपक होती है—मार्ग के लिये पालकी बन जाती है तथा शयन के समय रूई का मोटा गद्दा और घाम (कड़ी धूप) में नये पत्तों से निर्मित कुटिया अथवा कुञ्ज बन जाती है।" इति।

**टीकानुवाद**—यहाँ भी पूर्ववत अवतरणिका है—युवक प्रेमियों के लिये उनकी प्रेम लता ही अंधकार में दीपकलिका होती है आदि अर्थ स्पष्ट ही है। इस वाक्य से ही हमारे प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है, दूसरे वाक्य तो शोभा के लिये अथवा प्रेम की अनन्त प्रकार में विपरीत कारिता–उलट फेर के बोधन के लिये लिखे गये हैं। इस प्रसंग में मधुर रति कृत यह तम और प्रकाश का विपर्यय प्रस्फुट ही है। इति। ग्रन्थकार की अपनी उक्ति है जैसे कि—

यथा वा—संगमय्य प्रियां कृत्वा ममैवाङ्गमलक्षितम्।
आतङ्कशान्तिमातन्वन् मम मित्रतमं तमः॥ ६०॥

कदाचित्पूर्वानुरागवतीं निजसखीसमूहपुरतोऽपि तदुदन्तं शंसितुं विशङ्कितमति निजवदनकमलसम्भृतमधुरिममधुपानाय मधुकरीकृतनिजनयनां निभृतं संसेवितवातायनां कान्तामाराद्विज्ञाय निजसहचरस्य श्रीदाम्नः पुरतः स्वसखीनां निन्दनमिव कुर्वन्, सर्वथा भयशून्यं स्वसङ्गोपायं तां संश्रावयन्, स्वयं दौत्यं विशदयति—संगमय्येति। हे श्रीसुदामन्! मम मित्राणि नाम्नैव न तु क्रिययेति मया मित्रान्तरमुररीकृतम्। अथ तेन पृष्टस्तन्नामाह—मम मित्रतमं तम इति। अन्ये तु मित्राण्येव, तमस्तु मित्रतममतिशयेन मित्रमित्यर्थः। कीदृशं तमः—पूर्वं प्रियां सगमय्य पुनर्ममैवाङ्गं न तु तस्या इत्ये शब्दार्थः, अलक्षितं कस्याप्यगोचरं कृत्वोभयोरातङ्कस्य भयस्य शान्तिमातन्वद् विस्तारयद्, अन्येन केनापि मम मित्रेण विनयशतैरपि कदाप्येवं न कृतम्। तेन तु स्वस्यमेव कृतम्, तत इदानीं तन्मैत्रीमपास्य मया तमसा सह मैत्री-कृतेत्यर्थः। एतेनैव वचनेन तम एव तत्र तामानेष्यति पुनरन्धकारे स्थितस्यालक्षितस्य मम सङ्गमे गाङ्गेयाङ्ग्या अपि तव जनावलोकनभयं नास्तीति—तां संश्रावयति, यतस्तव सन्निधौ स्थितोऽप्यहं श्यामत्वात् तमसाऽनुपलक्ष्य एकाकिन्यास्तवावलोकनेनापि का चिन्ता? ततस्तम एवावयोरभयसङ्गमोपाय इति स्वयं-

---

**श्लोकार्थ ६०**—श्रीकृष्ण अपने मुख से ही अपने ही द्वारा दौत्यभाव का दिग्दर्शन सखा से करते हैं—यह अंधकार मेरा सबसे बड़ा मित्र है—यह प्रियतमा का संगम कराता है और मेरे ही अङ्ग को अलक्षित अर्थात् (अपने में) अदृश्य बना देता है एवं किसी प्रकार के भय की भी शान्ति कर देता है। इति॥ ६०॥

**टीकानुवाद**—किसी समय की बात है—एक पूर्वानुराग वती प्रेमिका थी। संकोचवश अपनी उस अन्तर स्थिति का अपनी सखियों के समूह के सामने भी वर्णन करने में शंकित होती थीं। उसका मुखकमल अति मधुर मधु से परिपूर्ण था उसकी उपयोक्ता के निमित्त अपने नेत्रों को भ्रमरी बनाकर चुपचाप अपने भवन के झरोखे में विराजमान थी। श्रीकृष्ण ने उधर से निकलते समय उसे इस स्थिति में दूर से देखकर उसकी अन्तर स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लिया। अपने साथी श्रीदामा के प्रति अपने अन्य सखाओं की निन्दा जैसी करते हुए और सर्वथा भय रहित अपने मिलने का उपाय उस (अनुरागवती) को सुनाते हुए, आप ही अपने दौत्य भाव को जताने लगे। हे श्रीसुदामन्! मेरे सभी मित्र केवल नाम के ही हैं न कि क्रिया के लिये—इसलिये मैंने अब एक दूसरा (नया) मित्र ढूंढ लिया है। श्रीदामा के पूछने पर उन्होंने उसका नाम 'तम है' जो मेरा गाढ मित्र है यह उत्तर दिया अर्थात् और तो मित्र हैं परन्तु यह तम तो मित्र तम—अतिशयेन मित्र है। इसकी विशेषता यह है कि यह प्रथम तो प्रियतमा का संगम करा देता है। फिर मेरे ही अङ्गों को अदृश्य कर देता है न कि उस (प्रियतमा) के, 'एव' शब्द का यहाँ यह अर्थ है। 'अलक्षितं' का भाव है—किसी के प्रति भी मेरे शरीर को ज्ञान गोचर नहीं होने देता और इस प्रकार हम दोनों के भय की शान्ति का विस्तार स्वयं कर देता है। सैकड़ों विनय करने पर भी यह कार्य मेरे किसी भी मित्र ने नहीं किया। परन्तु उसने अपने आप बिना प्रार्थना और कभी भी कर दिया। अतएव मैंने और सब मित्रों को छोड़कर अन्धकार के साथ मैत्री कर ली है। इस वचन से यह बताया कि अन्धकार उस (सखी) को वहाँ ले आवेगा और अन्धकार में स्थित अतएव अदृश्य मेरा संगम प्राप्त होने पर भी गंगा समान उज्ज्वल अङ्गवाली भी तुमको मनुष्यों से देखे जाने का भय कदापि नहीं है। उसको यह सब सुना (साथी श्रीदामा को व्याज से कहते) रहे थे। कि तुम्हारे समीप स्थित भी मैं, श्याम वर्ण होने के कारण अन्धकार में किसी को दीखूंगा ही नहीं और इकली तुमको यदि कोई देख भी लेगा तो कोई चिन्ता की बात नहीं है अतएव अन्धकार ही हम दोनों के सङ्गम का उपाय है। यह सब बताकर स्वयं ही दूत-भाव का काम किया। इस

दौत्यम् । एवं मधुररतिकृतोऽयं तमः प्रकाशयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव । एवमेवाभिप्रेत्य प्रायः श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरणैः श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां व्रजजनप्रेमप्रकरणं तामसप्रकरणत्वेनालेखि । एवमेवेदानीमार्षोदाहरणाग्रह-मपास्य प्रायो महानुभावानां तथा मदन्तस्थितश्रीप्रभुश्रीमुखाविर्भूतानां मन्मुखद्वारेण निस्सृतमात्राणां वा पद्यानामेवोदाहरणे रसास्वादैकजीवनाद् रसिकजनानानन्दयिष्यामीत्यनुसन्धेयम् ।। ६० ।।

**यत्र निषेध एव विधिः । यथोक्तं श्रीरूपगोस्वामिचरणैः—**

**"स्मेरां भङ्गीत्रयपरिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टिं**
**वंशीन्यस्ताधरकिसलयामुज्ज्वलां चन्द्रिकेण ।**
**गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे**
**मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे ! बन्धुसङ्गेऽस्ति रङ्गः ।।" इति ।**

कदाचित् कश्चिद् विशुद्धबुद्धिर्बन्धुवर्गैः सह श्रीमद्वृन्दावनेयात्रार्थमागतस्तत्र श्रीमद्गोविन्दप्रति-कृतेरवलोकनमात्रे सञ्जातभावस्तां त्यक्तुं गृहं गन्तुमप्यनीशो बन्धुभिः प्रातिकूल्येन नौरिव बलान्नीयमानो विवशः पुरतोऽन्यं यात्रार्थमागच्छन्तं कमपि निजमित्रमवलोक्य तमुपदिशति—स्मेरामिति । "मा प्रेक्षिष्ठा इति निषेधव्याजेन आवश्यकविधिरयम्, तदेतन्माधुर्य्येऽनुभूयमाने सर्वं तुच्छं मंस्यसे तस्मादेतामेव पश्येत्य-भिप्रायात्" इति श्रीजीवगोस्वामिभिर्लिखितम् । अस्मिन् पद्येऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिना निषेधेऽपि विधा-

---

प्रकार यह तम और प्रकाश का विपर्यय मधुर रतिकृत है । ऐसे ही अभिप्राय से प्रायः श्रीमद्—वल्लभाचार्य महाप्रभु ने अपनी श्रीमद्भागवत् की सुबोधिनी टीका में व्रजजनों के प्रेम प्रकरण को तामस प्रकरण के नाम से उल्लिखित किया है । इस प्रसंग में अब आर्ष उदाहरणों का आग्रह छोड़कर प्राया महानुभावों के अथवा (ग्रन्थकार) मेरे हृदय में विराजमान श्रीहरि के श्रीमुख से आविर्भूत और मेरे मुख द्वारा केवल निस्सृत पद्यों के ही द्वारा रसिकजनों को—जिनका रसास्वादन ही जीवन है—आनन्दित करूँगा । ऐसा समझना चाहिये । इति ।। ६० ।।

**मूलानुवाद**— जिस प्रेमपत्तन में नई रानी रति ने निषेध की जगह विधि को स्थापित कर दिया। इति । श्रीरूप गो० पाद की इस प्रसंग में उक्ति है—

**श्लोकार्थ एवं टीकानुवाद**—किसी समय कोई विमल मति भक्त अपने कुटुम्बियों के साथ श्रीवृन्दावन धाम में यात्रा के निमित्त आया । वहाँ श्रीगोविन्द प्रभुजी की मूर्त्ति के दर्शन मात्र से उसको इष्टदेव विषया रति रूप भाव उदित हो गया । उसकी यह दशा हुई कि न तो वह उस भगवद् विग्रह से वियुक्त होने में समर्थ था और घर जाने को भी न छोड़ सक रहा था । परिजनों के द्वारा प्रबल नदी प्रवाह में प्रतिकूल दशा में खींची जानेवाली नौका के समान जबरदस्ती पराधीन रूप से वह घर ले जाया जा रहा था । एकाएक सामने से, उसकी दृष्टि यात्रा के लिये आते हुए किसी अपने मित्र पर पड़ी । इस पद्य द्वारा उसे वह अपनी सम्मति का उपदेश देता कह रहा है । प्रिय मित्र ! तुम (इस) श्रीवृन्दावन की यात्रा में जाते तो हो परन्तु मेरी एक बात अवश्य ध्यान में रखना । वहाँ केशि तीर्थ के समीप थोड़ी दूर श्रीगोविन्द नाम से प्रसिद्ध भगवान् का एक परम कमनीय विग्रह है—उसका मन्द मुस्काता हुआ मुख (ऐसा) शोभा देता है (मानो जादू टोना करता हो)—तीन स्थान से झुके त्रिभंग ललित शरीर से तिरछी फैली हुई चितवन से देख रहे है । अधर पल्लव पर वंश विराजमान है और चन्द्रिका से वह चमत्कृत हो रही है । यदि तुमको अपने कुटुम्बियों के प्रति तनिक भी ममता है तो भूलकर भी उसके दर्शन मत करना । इति । श्रीजीव गोस्वामी पाद ने इस पर लिखा है 'मत देखना' इस निषेध के बहाने आवश्यक विधि समझी जाती है अर्थात् अवश्य दर्शन करना । उस मधुरिमा के अनुभूत होने पर तुमको सब तुच्छ लगेगा इसलिये उसका दर्शना करना यह

वेव तात्पर्य्यम् । एवं स्फुट एव विपर्य्ययस्तयोः । स च तस्य कृष्णकृपया जन्मान्तरे साधनाभिनिवेशेन वा तत्रापि निदानं तत्कृपैवेति सद्यःसञ्जातरतिविशेषलेशकृतः ॥

**यथा कस्यचित्—"असंमुखालोकनमाभिमुख्यं निषेध एवानुमतिप्रकारः ।**
**प्रत्युत्तरं मुद्रणमेव वाचो नवाङ्गनानां नव एव पन्थाः ॥" इति ।**

कदाचित् कृष्णो नवानुरागवत्या कान्तया सह निथि नवसङ्गमसुखमनुभूय प्रातर्निजप्रियसखस्य सुदाम्नः पुरतो रहसि तदानुभूतं सुखविशेषमनुवर्णयति—असंमुखालोकनमिति । अनुमतिः सम्मतिः । नवाङ्गनानां पूर्वानुरागवतीनाम्, न तु मुग्धानाम्, तत्र तादृशविभ्रमविशेषाभावात् । अत्र निषेध एवेति द्वितीयचरणेन विधिनिषेधयोर्विपर्य्ययसिद्धयाऽस्मत्प्रयोजनसिद्धिः । इतरचरणत्रयन्तु पद्यरसास्वादार्थम्, तथा रतिकृतविपर्य्ययानन्त्यबोधनार्थञ्चेत्यनुसन्धेयम् ॥

**यथा वा—हसति दृशा वदति मृषा परुषा सरुषा भ्रुवा विभीषयति ।**
**मणिबन्धमोचनमिषाद्रसिका रसिकान्तिकं शनैर्याति ॥ ६१ ॥**

अहो अस्मिन् निकुञ्जे माधवागमनं विनैव माधवीमुकुलितेति प्रोत्साह्य कौतुकावलोकनकैतवेन

---

अभिप्राय है । इस पद्य में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि से निषेध का भी विधि में ही तात्पर्य है । इस प्रकार उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है । यहाँ उस यात्री का ऐसा भाव श्रीकृष्ण कृपा अथवा जन्मान्तर में किये हुए साधन के अभिनिवेश का फल है । उसमें मूल कारण उनकी कृपा ही समझी जाती है जो तत्काल उत्पन्न हुए रति विशेष के अंश द्वारा सम्भावित हुआ । इति । किसी अन्य कवि की उक्ति प्रमाण में देते हैं—

**श्लोकार्थ एवं टीकानुवाद**—किसी समय श्रीकृष्ण किसी अभिनव अनुरागवती कान्ता के साथ रात्री में नव सङ्गम का सुख अनुभव करके प्रातःकाल अपने प्रिय सखा सुदामा से एकान्त में उस अनुभूत सुख विशेष का वर्णन करते हैं । अनुरागवती प्रेमिकाओं का सम्मुख होकर न देखना ही सम्मुखता अथवा अनुकूलता है—और उनका निषेध करते रहना ही सम्मति (अनुकूलता) है एवं मौन हो जाना ही प्रत्युत्तर है—प्रेमिकाओं का (न कि मुग्धाओं का) यह कोई (निराला ही) नवीन पंथा है । इति । यह (पथा) मुग्धाओं का प्रकार नहीं है क्योंकि उनमें वैसे विभ्रम या विलास विशेष का अभाव होता है । यहाँ दूसरे चरण में आया निषेध ही दोनों निषेध और विधि की विपर्यय सिद्धि का हेतु स्पष्ट ही है । शेष तीन चरण रस के आस्वादनार्थ एवं रतिकृत अनन्त विपर्ययों—उलट फेरों के जताने के लिये ही है । इति ।

ग्रन्थकार का यह पद्य प्रमाण में दिया गया है—कि उस प्रेमपत्तन में निषेध की विधि है ।

**श्लोकार्थ एवं टीकानुवाद**—प्रेमियों के सम्मिलन की एक अनोखी चतुराई का इस पद्य में वर्णन है । श्रीकृष्ण का कोई थतुर (चेटकी) सेवक प्रियतमा के प्रति कह रहा है देखो ! कितनी आश्चर्य की बात है कि इस निकुञ्ज में माधव अर्थात् बसन्त ऋतु आने के पहले ही माधवी लता मुकुलित हो रही है । इस कथन से प्रोत्साहन करके और कौतुक देखने के व्याज से उन्हें उस निकुञ्ज में प्रविष्ट कर दिया जहाँ श्रीमाधव पहले से छिपे बैठे थे । एकाएक उन रसिक (शेखर) ने उन प्रियतमा का कोमल कर कमल ग्रहण कर लिया । परम रसिक उन प्रियतमा का (पहुँचा ग्रहण हो जाने से) रस विशेष का पोषण करनेवाली मधुर प्रेम (अनंग) की स्वभाव सुलभ सुन्दर चेष्टाओं का ललितादि सखीजन लता रन्ध्रों से अवलोकन करती हुई परस्पर आस्वादन करने लगीं—

**श्लोकार्थ**—उस समय प्रियतमा नेत्र में ही हँसती हैं, वाणी से अकारण मिथ्या (कोपयुक्त) भाषण करती हैं, रोषपूर्ण भृकुटी (तानकर) भय दिखाती हैं, तथा अपना (हाथ का) पहुंचा छुड़ाने के बहाने वह

केनापि चतुरचेटकेन निलीनमाधवं कुञ्जं प्रवेशितायाः सहसा रसिकेन करकमलेन मृदुकलितप्रकोष्ठायाः परमरसिकायास्तस्याः कान्ताया रसविशेषपोषिकां चेष्टां मधुरप्रणयस्वभावसुलभां प्रियचेष्टां च सरुषा भ्रूवा लतारन्ध्रैरवलोकयन्त्यो ललितादयः परस्परमास्वादयन्ति—हसतीति । अत्र मृषा परुषा कठिना सती वदति, विभीषयति । अत्रापि मृषेति पुनर्योज्यम् । मणिबन्धः प्रकोष्ठः ॥ ६१ ॥

**यथा वा—वल्लभरुद्धगतेरधिकाननमाननतो न न नेति न याति,**
**कैतवकोपकरम्बितकुञ्चितचिल्लिलनटी नटनं न जहाति ।**
**भीषयतीव वचोऽपि वपुर्गुरुलोकभियैव शनैरपयाति**
**कोऽपि विशालविलोलविलोचनहासविधिस्तु विधिं विदधाति ॥ ६२ ॥**

कदाचिद्वनविहारे कुसुमावचयमिषेष इतस्ततो गतासु सहचरीषु निर्जने माधवेन निरुद्धायाः कान्ताया रसविशेषमयीं लीलां ता एव लीलयावलोकयन्त्यो मिथः कथयन्ति—वल्लभरुद्धगतेरिति । अधिकाननं कानने । चिल्लिभ्रूकुटिः । वचः कर्त्तृ भीषयतीव । वपुः कर्त्तृ भीषयतीव । वपुः कर्त्तृ शनैरेव, न तु शीघ्रमपयाति, ततोऽपसरतीत्यर्थः । इवेत्युत्प्रेक्षा । एवं पद्यद्वयेऽस्मिन् मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ॥६२॥

**यत्रानुत्तरमेव प्रत्युत्तरम् । यथाह गोवर्द्धनः—**

**"गुरुसदने नेदीयसि चरणगते मयि च मूकयाऽपि तया ।**

---

प्रियतम माधव के समीपतम शनै-शनै जा रही हैं । टि—(यहाँ प्रत्येक चेष्टा एक अपूर्व रसात्मक चमत्कार-पूर्ण भाव से निषेध को व्यक्त करते हुए भी विधि की सूचक है) यहाँ 'मृषा' झूठ-मूठ ही रोष भरी भृकुटी से डरा रही है, और बनावटी कठोरता वाणी में प्रगट कर रही हैं । 'मणि बंध' पहुँचे को कहते हैं। इति ॥ ६१ ॥ ग्रन्थकार का पद्य यहाँ फिर दिया गया है—

**श्लोकार्थ एवं टीकानुवाद** ६२—एक बार वन विहार के समय फूल चुनने के बहाने सब सखियें इधर-उधर चली गईं । निर्जन पाकर श्रीश्यामसुन्दर ने एकाएक राधारानी को घेरकर रोक लिया । उस समय उनकी विशेष रसमयी लीलाएँ होने लगीं । सखियाँ दूर से उनकी उन लीलाओं-कौतुकों को देखती हुई परस्पर कहती है जो इस पद्य में कही हुई है ।

**श्लोकार्थ** ६२—वन में (हठात्) प्रियतम के द्वारा रोक ली जाने पर मुख से न-न-न यह तो कहती हैं परन्तु वहाँ से अपसरण (पीछे हटना) नहीं करती हैं—बनावटी क्रोध की बहुलता से टेढ़ी हुई भृकुटी रूप नटी अपने नाट्य को नहीं छोड़ती अर्थात् भृकुटी निरन्तर चंचल हो रही हैं । तथा वाणी से मानो डरा रही है एवं गुरुजनों के भय से ही मानो शनै-शनै वहाँ से अपसरण कर रही हैं । विशाल और चंचल नेत्रों के हँसने का वह, प्रकार तो किसी अनिर्वचनीय विधि का विधान करता है । इति ॥ ६२॥ इस प्रकार पिछले दोनों पद्यों (६१-६२) द्वारा मधुर रतिकृत विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ६२ ॥

**मूलानुवाद**—जहाँ उस प्रेमपत्तन में मौन ही प्रत्युत्तर का सूचक होता है—जैसे गोवर्द्धन कवि का कहना है ।

**श्लोकार्थ एवं टीकानुवाद**—एक समय श्रीराधा रानी विशेष मानवती थीं । श्रीकृष्ण की प्रार्थना पर ललितादि सखियों ने उनको बहुत मनाना चाहा परन्तु मान निवृत्त न हुआ । तब उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा कि अपनी प्रियतमा को तुम ही (किसी चतुराई से) मनाओ, तब श्रीकृष्ण ने किसी प्रकार (चाटुकारी आदि से) मना लिया । उस समय की प्रियतमा की अनोखी चतुराई (छवि) को श्रीकृष्ण प्रातः अपने मित्रों के सामने एकान्त में वर्णन करते हैं । तथा उनके इंगित को हमने चतुराई से जान लिये इस अपनी चतुराई

**नूपुरमपास्य पदयोः किं न प्रियमीरितं प्रियया ॥" इति ।**

कदाचिन्निजानुनयसहस्रैरपि अनासादितगुरुमानिनीप्रसादाभिर्ललितादिभिः निजकान्तां त्वमेवानुनयेति प्रेषितः कान्तः कथञ्चिदनुनीतकान्तस्तदा तत्कृतचातुर्य्यं प्रातः स्वप्रियसखीपुरतो निभृतमनुवर्णयन् तदिङ्गितज्ञत्वेन निजचातुर्य्यमपि व्यञ्जयति—गुरुसदन इति । मूकया किञ्चिदपि अवदन्त्या किं न प्रियमीरितं कथितम् ? किन्तु सर्वमेवोक्तमित्यर्थः हे सखि ! मयापि तत्तदेव ज्ञातमिति । एवं मधुररतिकृतोऽयमनुत्तर-प्रत्युत्तरयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ॥

**पुनः स एव—"किञ्चिन्न बालयोक्तं न सप्रसादा निवेशिता दृष्टिः ।**
**मयि पदपतिते केवलमकारि शुकपञ्जरो विमुखः ॥" इति ।**

अत्रापि पूर्ववैवावतारिका । किञ्चिदिति । सप्रसादा प्रसादसहिता दृष्टिरपि निवेशितः न प्रापिता । एवं मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः प्रकट एव । अत्र पद्यद्वयेऽन्यत्स्पष्टार्थमेव । पद्यद्वयमिदं बहिर्मुखं मया बलाद् वैष्णवीकृतमित्यनुसन्धेयम् ॥

**यथा वा—सुभग ! सुमानवतीनां सम्मानमेव मानसं मानम् ।**
**मौनममौनमिदानीं मामनुजानीहि जानीहि ॥ ६३ ॥**

कदाचिद् गुरुमानिनीमनुनेतुं तदन्तिके सख्यानीत कृष्णं प्रति बहिः सादरां धीरां पुनस्तदनुनयैर्गतमानां तत एवावलम्बितमौनां विज्ञाय काचित् चतुरा सहचरी श्रीकृष्णमनुवदति—सुभग इति । हे सुभग ! हे सुन्दर ! सुमानवतीनामुत्तममानवतीनां मानसं मनसि भवं तत्र स्थितमित्यर्थः । अन्यत् स्पष्टमेव । अयं भावः—अनया यावद्भवतः सम्माननं न कृतम्, तावन्मनसि मानं जानीहि । अत एवाहं भवदन्तिके सहायार्थं

---

(कला) को भी व्यक्त करते हैं । पद्यानुवाद—मान मनाने के लिये मेरे उनके चरणों में झुकने पर—गुरुजनों के भवन समीपस्थ होने के कारण भय की आशङ्का है । यह जानकर उस (प्यारी) ने अपने चरणों में से नूपुर निकाल कर कौन सी प्रिय (रहस्य की बात नहीं कह दी अर्थात् सभी कुछ कह दिया । इति । फिर भी उपरोक्त कवि का पद्य है और अवतरणिका भी पूर्ववत् समझो ।

**श्लोकार्थ**—मान मनाने के लिये जब मैं उनके चरणों में झुका तब वह बाला कुछ नहीं बोली प्रसन्नता पूर्वक केवल अपने शुक के पींजरे को अपने सामने से हटा दिया (अर्थात् रहस्य से मान निवृत्त हो गया यह जता दिया) इन दोनों पद्यों द्वारा मधुर रतिकृत विपर्यय स्पष्ट ही है, और अर्थ भी स्पष्ट ही है। यद्यपि यह दोनों पद्य भगवद् रस से बहिर्मुख थे अर्थात् लौकिक नायक नायिका विषयक थे परन्तु मैं (ग्रन्थकार) ने बलात् इनको वैष्णव बना दिया है । इति । अनुत्तर ही उत्तर है इस विषय में ग्रन्थकार का पद्य है—

**श्लोकार्थ ६३**—हे सुन्दर ! प्रौढ़ मानवतियों के मन में स्थित सम्मान ही मान है और मौन ही प्रत्युत्तर है ऐसा समझो और अब मुझे जाने की आज्ञा दीजिये । इति ॥ ६३ ॥

**टीकानुवाद**—किसी समय प्रौढ मानिनी को मनाने के लिये—उसके समीप कोई सखी श्रीकृष्ण को ले आई—उन (श्रीकृष्ण) के प्रति बाहिर से बहुत आदरवती होकर उस मानिनी ने धीरता प्रकट की और श्रीकृष्ण के अनुनय से उस समय उसका मान अपनोदन (छूट) गया । परन्तु वह मौन स्वीकार किये रहे । इस स्थिति को जानकर कोई चतुर सखी श्रीकृष्ण से कह रही है । हे सुन्दर ! उत्तम मानिनियों के मन में ही मान रहता है, अर्थात् मन में उसकी स्थिति है शेष स्पष्ट ही है । भाव यह है—इसने जब तक आपका सम्मान नहीं किया था तब तक ही इसके मन में मान था । इसलिये मैं आपके निकट सहायता के लिये उप-

स्थिता। इदानीन्तु अनया मौनमङ्गीकृतम्, (तच्च मौनमित्यपिपाठः।) मौनमेव प्रतिवचनं जानीहि। तन्मां मामनुजानीहि गन्तुमाज्ञापय, मम प्रयोजनाभावाद्। यथेच्छं रमस्वेति भावः। पदत्रयेऽत्रैवं मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ॥ ६३ ॥

**यत्राशिरस एव सहस्रशिरसः।**

**यथा वा—प्रणयमया दयितकृते सततं करकलितजीविता जगति।**
**इति विशिरसोऽपि रसिकाः सहस्रशिरसां शिरोमणयः ॥ ६४ ॥**

कश्चिद्भक्तः कमपि कृष्णासक्तं भक्तमवलोक्य तद्भावलालसः सजातीयाशयं प्रति किञ्चित्तदनुभावं वर्णयति—प्रणयमया इति। हे मित्र! एते रसिका इति हेतोः अशिरसो भवन्ति, अर्थात् दृश्यमानशिरसोऽपि न शिरो येषान्ते अशिरसः। बहुवचनमत्रादरार्थम्। इति—इति किम्। यद्दयितकृते दयितस्य श्रीनन्दनस्य किञ्चिद्दर्शनस्पर्शार्थं सततं करकलितजीविताः सततं निरन्तरं करे कलितं कृतं जीवितं यैस्ते निजजीवितदानेनापि प्रियदर्शनादिसाधका इत्यर्थः। तत्र हेतुगर्भं विशेषणम्—यतः प्रणयमयाः प्रेमैकप्रधानाः। अतः जीवनस्य शिरोऽधीनत्वात् तदर्थं तदपि दातुं वदान्या इत्यर्थः। तेपि सहस्रशिरसामपरिमितशिरसां शिरोमणयः, तैरपि शिरोधार्य्याः, तेषामाश्चर्यसुखदयता कान्तिविशेषविवर्द्धनाच्च तेभ्योऽप्यधिकतमा इति भावः। एवं रतिविशेषकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ॥ ६४ ॥

**यथा वा—सखि! मम शिरोऽस्य लगुडीसङ्गमसुखसङ्गि कन्दुकं भवितु।**

---

स्थित रही, परन्तु अब इसने मौन को जो स्वीकार कर लिया यही इसका प्रत्युत्तर (स्वीकृति बोलना) है ऐसा आप जानिये और अब मुझे जाने की आज्ञा दीजिये क्योंकि मेरा कोई प्रयोजन नहीं रहा यथेच्छ विहार करो। इन तीन पद्यों द्वारा इस प्रकार मधुर रतिकृत अनुत्तर-उत्तर का विपर्यय स्पष्ट ही है। इति ॥ ६३॥

**मूलानुवाद**—जहाँ उस नगर में बिना शिर के जन ही हजार शिरवाले गिने जाते हैं—प्रमाण में ग्रन्थकार का पद्य है—

**श्लोकार्थ ६४**—जगत में प्रेमी प्रियतम के लिये सदा अपने जीवन को हाथ में लिये रहते हैं, वे ही बिना शिर होने पर भी हजार शिर धारण करनेवालों के शिरोमणि हैं क्योंकि प्रणयमय हैं और उनका ही प्रेम सच्चा है अतः वे ही सच्चे रसिक हैं। इति ॥ ६४ ॥

**टीकानुवाद**—कोई भक्त श्रीकृष्ण के प्रति ममतावान किसी भक्त को देखकर वैसी भावना की अपने मन में लालसा रखते हुए—अपने सजातीय भावुक के प्रति उसके कुछ प्रभाव का वर्णन करता है। मित्र! यह रसिक है इसी हेतु यह बिना शिर के ही हैं अर्थात् इनके शिर तो दीख रहा है परन्तु वास्तव में यह बिना शिर के हैं यहाँ बहु वचन आदर के लिये है। इति का अर्थ है ऐसा कैसे?—जो यों, कि यह अपने परम प्रिय श्रीनन्द नन्दन के क्षणिक दर्शन और स्पर्श के लिये सदा अपने जीवन को हाथ में लिये रहते हैं अर्थात् अपने जीवन का बलिदान करके भी प्रियतम के साक्षात्कार (दर्शन) आदि साधन के लिये तत्पर हैं। उन प्रेमियों कीं विशेषता बताने के लिये यहाँ उनका यह हेतु गर्भ विशेषण है। 'प्रणयमयाः' क्योंकि वह एकमात्र प्रेम को ही प्रधानता देते हैं। अतः जीवन जो शिर के ही अधीन है उनके लिये वे उसको (न्यौछावर) देने में उदार हैं। इसलिये वे अपरिमित शिरवालों के शिरोमणि हैं, उनके द्वारा भी वे शिरोधार्य हैं। भाव यह है कि उनका यह आश्चर्यमय सुखदातृत्व और कान्ति विशेष की वृद्धि ही के कारण, ये उनकी अपेक्षा ही बहुत ऊँचे हैं—इस प्रकार रति विशेष कृत यह बिना शिर—अनेक शिरवालों का विपर्यय स्पष्ट ही है। इति ॥ ६४ ॥ ग्रन्थकार की वैसी और उक्ति है।

**श्लोकार्थ ६५**—एक सखी प्रेम मुग्ध किसी प्रेमिका का—जो श्यामसुन्दर के लिये अपना शिर

**एवमशिरसां पुरतः सहस्रशिरसो बताऽशिरसः ॥ ६५ ॥**

काचित् श्रीकृष्णे परमानुरक्ता दुःखशतैरपि यथाकथं तत्सङ्गसम्बन्धं समीहमाना श्रीवृन्दावने सखिभिः सह लगुडकन्दुकक्रीडाभिरतं निजदयितमवलोक्य प्रेम्णा शनैः सखीं प्रति वदति—सखीति। हे सखि ! इति प्रेमार्त्तिव्यञ्जिकेयं सम्बुद्धिः। अत्र कार्ये सख्येन किञ्चित्सहायं त्वमेव रचयेत्यभिप्रायः। मम शिरोऽस्य पुरतो दृश्यमानस्य श्यामन्दरस्य कन्दुकं क्रीडनकं भवतु इति प्रार्थये। कीदृशं कन्दुकम्—अस्य लगुडीसङ्गमसुखसङ्गि लगुडी ईषद्भुङ्गुराग्रा यष्टिस्तस्याः सङ्गमस्तत्र सुखं तस्य सङ्गोऽस्यास्तीति तथा, तत एतत्करकमलसंसर्गिलगुडसंसर्गसुखानुभवभाग्यभाजनमित्यर्थः। एतद्वचनं श्रुत्वा सा सखी तां सविस्मय-माह—एवमित्यर्द्धेन। एवं यथा त्वं स्वशिरः प्रियकन्दुकं कर्त्तुमिच्छसि तथा अशिरसां शिरोहीनानां त्वद्विधानां पुरतोऽग्रे सहस्रशिरसः शेषादयो बहुभारं वोढुमीशा अशिरसः—न शिरो येषान्ते तथा। बतेति खेदे हर्षे वा। निज दयितसुखक्रीडनकन्दुकार्थे निजदेहाद्दप्रायो दूरीकृतशिरसस्तवाग्रे शेषादयस्तु अशिरसः, त्वमेव सहस्रशिरस्का इति भावः। तेषां तथा प्रेमभाराऽसहत्वात्। मधुररतिकृतो यं विपर्य्ययः स्फुट एव ॥६५

**यत्राऽचक्षुष एव सहस्रचक्षुषः। यथा प्रथमे श्रीसूतः—१-१०-१४**

**"न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद् देवकीसुते।**

---

उनके खेलने की गेंद बनाने की लालसा रखती है, वर्णन प्रिय सखी से करती है—हे सखि ! मेरा शिर गेंद वनकर इन प्रियतम के गेंद खेलने के डण्डे (बल्ले) के संगम सुख का साथी बने। इस प्रकार बिना शिरवालों के सामने हजार शिरवाले भी शिर रहित ही हैं ॥ ६५ ॥

**टीकानुवाद**—कोई श्रीकृष्ण में परम अनुरागवती सैकड़ों दुःखों से भी जिस किसी तरह उनके संग सम्बन्ध की लालसा रखती हुई श्रीवृन्दावन में सखाओं के साथ गेंद बल्ला खेलने की क्रीड़ा में निमग्न अपने प्रियतम को देखकर प्रेमावेश में धीरे से सखी के प्रति अपनी लालसा को व्यक्त करती कहती है। हे सखि ! यह सम्बोधन प्रेम की पीड़ा को व्यक्त करता, कहा गया है। इस मेरे कार्य में सखी होने के नाते तुम ही मेरी कुछ सहायता करो यह अभिप्राय है। मेरी यह प्रार्थना है कि यह मेरा सिर, सामने कन्दुक क्रीड़ा में निरत दीख रहे श्यामसुन्दर का गेंद रूप खिलौना बन जाय। कन्दुक कैसा है ? उसका विशेषण है—आगे से कुछ मुड़ा हुआ जो डण्डा (बल्ला) जो उनके हाथ में है, उसके स्पर्श सुख का साथी बने। तात्पर्य यह है कि प्रियतम के कर कमल से सम्बन्धित बल्ले के सुख के अनुभव का भाग्य भाजन बने। श्रीकृष्ण को कन्दुक क्रीड़ा बहुत प्रिय है—वे अपने हाथ के डंडे से बहुत सी गेंदों को उछाला करते हैं मेरी बड़ी लालसा है कि यह मेरा शिर गेंद बन जाय और उनके डण्डे का सम्बन्ध प्राप्त करके परम्परया कर-कमल सुख के अनुभव का पात्र बने। उसके इस वचन को सुनकर वह सखी उसके प्रति बड़े आश्चर्य से बोली—जैसे तुम अपने शिर को प्रियतम की गेंद बनाना चाहती हो वैसे बिना शिर के तुम्हारे जैसे प्रेमियों के सामने हजार शिरोंवाले शेष आदि जो बहुत से बोझ रूप शिरों को ढोने में समर्थ हैं वास्तव में बिना शिरवाले ही हैं। 'बत' का अर्थ बिना शिरवालों के पक्ष में हर्ष और बहुत शिरवालों के पक्ष में खेद का व्यञ्जक है, सखी की उक्ति से भाव यह निकला कि प्रियतम के सुख के लिये खिलौना रूप जो कन्दुक है उसके लिये अपने देह से शिर को बलि करके दे देनेवाली तुम्हारे सामने शेष आदि बिना शिरवाले हैं। वास्तव में प्रेम राज्य में तुम ही हजार शिरवाली हो। शेष आदि सब प्रेम के बोझ को सहन करने में समर्थ नहीं हैं (अतएव शिरों का बोझ ढोना प्रेम बिना व्यर्थ है)। यहाँ मधुर रतिकृत विपर्यय स्पष्ट ही है। इति ॥ ६५ ॥

**मूलानुवाद**—जहाँ उस प्रेमपत्तन में चक्षु रहित ही हजारों चक्षुवाले समझ जाते हैं—प्रथम स्कन्ध भा० १-१०-१४ में सूतजी का वचन है।

निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः ॥"

न्यरुन्धन्निति । अत्राचक्षुष्ट्वं नाम अश्रुमुखादिभिर्दर्शनराहित्यमेव ज्ञेयम् । बान्धवस्त्रियः बान्धवाश्च स्त्रियश्च श्रीकृष्णं शश्यन्तः देवकीसुते तस्मिन् औत्कण्ठ्यात् प्रेमोत्कलिकतया उद्गलद् बलाद्वहिः प्रकटीभवद् बाष्पमश्रुपुञ्ज बलान्न्यरुन्धन् रुरुधुः । अत्र हेतुः—"अयं नोऽगारान्निर्यातीत्यशकुनशङ्कया" इति श्रीधरस्वामिपादैर्व्याख्यातम् । मुख्यो हेतुस्तु बाष्परोधने तद्दर्शनोत्कलिकैव, तथैव प्रेम्णः परमस्वारस्यात् । एवमश्रुनिरुद्धनेत्रतया दर्शनानीशा अपि सहस्रचक्षुषः अपरिमितनेत्रास्तत्रैव प्रेमाधिक्यदर्शनात् । एवं विविधरतिकृतोऽयमचक्षुःसहस्रचक्षुषोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ॥

**यथोक्तं दशमे श्रीशुकेन—१०-७४-२८**

**"वासोभिः पीतकौशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः । अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत्समवेक्षितुम् ॥"**

वासोभिरिति । अत्र मुखं नेत्राभ्यां तन्माधुर्य्यमवलोकमानानां सभासदां मध्ये अश्रुनिरुद्धनेत्रतया श्रीधर्मसुतस्य युधिष्ठिरस्य परमप्रेममयत्वेन सहस्रनयनत्वं प्रस्फुटमेव । दास्यसंवलितवात्सल्यकृतोऽयं व्यत्ययः॥

**यथा वा—चिरं चकोरीकृतचारुनेत्रा रूपामृतं हन्त पिबन्तु सन्तः ।**
**प्रियावलोकप्रणयाश्रुपूरनिरुद्धनेत्रास्तु सहस्रनेत्राः ॥ ६६ ॥**

---

**श्लोकार्थ**—भगवान् श्रीकृष्ण के घर से चलते समय उनके बन्धुओं की स्त्रियों के नेत्र उत्कण्ठावश उमड़ते हुए अश्रुओं से भर आये, परन्तु इस भय से कि कहीं यात्रा के समय अशुकन न हो जाय उन्होंने बड़ी कठिनाई से उन्हें रोक लिया । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ चक्षु राहित्य से अभिप्राय है—आँखों में प्रेमवश भर जाने से (अपने परम प्रियतम) दर्शन न हो सकना । भगवान् श्री के द्वारिका जाते समय बन्धुवर्ग और स्त्रियें उनके दर्शन को व्यग्र थे परन्तु दर्शन करते हुए प्रेमोत्कण्ठा से उनके नेत्रों में अश्रु पुञ्ज उद्वेलित हो उठा । उन्होंने बलात् उसे रोका—कारण यह था कि इस प्रवास के समय अश्रु प्रवाह अपशकुन है । श्रीधर स्वामी ने ऐसी व्याख्या की है । परन्तु मुख्य कारण अश्रुओं के निरोध का तो उनके दर्शक की उत्कण्ठा ही थी, और इसी में प्रेम का परम स्वारस्य है । (प्रेम की पूर्णता इसी में है) अतएव नेत्रों में अश्रु भर जाने के कारण दर्शन न कर सकने पर भी वे हजार नेत्रवाले हैं, अर्थात् अगणित नेत्रवाले हैं—क्योंकि प्रेमाधिक्य स्पष्ट दीख रही है। एवं बहु विध रति के फलस्वरूप यहाँ अचक्षु—हजार चक्षु का विपर्यय स्पष्ट ही है । इति । इस प्रसंग में भा० १०-७४-२८ का शुकमुनि के वचन से प्रमाण दिया जाता है—

**श्लोकार्थ**—उन्होंने भगवान् को पीले-पीले रेशमी वस्त्र और बहुमूल्य आभूषण समर्पित किये। उस समय उनके नेत्र प्रेम और आनन्द के आँसुओं से इस प्रकार भर गये कि वे भगवान् को भली भाँति देख भी नहीं सकते थे । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ नेत्रों से उन (भगवान् श्रीकृष्ण) के मुख माधुर्य्य का दर्शन करनेवाले सभासदों में धर्म पुत्र युधिष्ठिर ऐसे थे कि जिनके नेत्र अश्रु प्रवाह से निरुद्ध थे इससे प्रस्फुट ही है कि प्रेमाधिक्य ही हजारपना है । यहाँ दास्य मिश्रित वात्सल रति द्वारा सम्पादित यह उनका विपर्यय हुआ है । इति॥ ग्रन्थकार का अपना पद्य है—

**श्लोकार्थ ६६**—भले ही प्रेमी सन्त अपने नेत्रों को चकोर बनाकर चिरकाल तक उनके रूपामृत का पान कर परन्तु वे सहस्र नेत्र नहीं गिने जा सकते, सहस्र नेत्र तो वे ही हैं—जिनके नेत्रों में प्रियतम के दर्शन से प्रेमाश्रुओं का पूर व्याप्त हो जाता है ।

**टीकानुवाद**—एक समय श्रीकृष्ण सायं वृन्दावन से आ रहे थे—मार्ग में कुछ एकान्त प्रेमवती

कदाचित्सायं वृन्दावनादायान्तं पथि निभृतमवलोकयन्तीषु निभृतं प्रेमवतीषु कामपि विपक्षां प्रियमुखकमलसमवलोकनञ्जातसुखविकसितनयनां पुनरन्तिके दयितमुखसम्मुखतामात्रसञ्जातहर्षाश्रुविलसन्नयनां निजसखीं मुख्यां सासूयं सस्मितं साभिमानतयाऽवलोकयन्तीमवलोक्य सासूयं निजसखीं प्रति किञ्चिद्दुदन्तमिव वदन्तीं तामेवाक्षिपति—चिरमिति। चिरं बहुकालं चकोरीकृतानि चकोरवदत्यार्त्तिमन्ति कृतानि चारूणि चाञ्चल्यादिनयनगुणवन्ति नेत्राणि यैस्ते तथाभूताः सन्तो रूपामृतम् अर्थादस्यैव रूपमेवामृतं ये पिबन्ति ते कामं पिबन्तु। अत्र रूपस्यामृतरूपकेण मुखस्य चन्द्रत्वारोपः। यतः सन्तः तेऽपि साधव एवेत्यर्थः। तु भिन्नोपक्रमे परन्तु इत्यर्थः। हे सखि ! श्रृणु ते सहस्रनेत्रा सहस्रमपरिमितानि नेत्राणि येषान्ते तथा। ते के? ये प्रियावलोकप्रणयाश्रुपूरिनिरुद्धनेत्राः प्रियस्यावलोकः तदुच्छलितप्रणयेन यानि अश्रूणि तेषां पूरः प्रवाहस्तेन निरुद्धानि आच्छादितानि नेत्राणि येषान्ते। प्रेम्णः स्वल्पत्वात् पूर्वेऽश्रुहीनाः द्वाभ्यामेव नेत्राभ्यां पश्यन्ति, प्रेम्णः जातिप्रमाणाभ्यामाधिक्येन अश्रुयुक्ता अपि नेत्रसहस्रैः पश्यन्तीत्यर्थः। अतः काचित् मनसि मुधाभिमानं मा कुरुतादिति तानाक्षिपति। एवं मधुररतिकृतोऽयमचक्षुःसहस्रचक्षुषोर्विपर्य्ययः प्रस्फुट एव ॥ ६६ ॥

**यथा वा—सुखं मुखाम्भोजमधूनि साधवः पिबन्तु धन्याश्चलदृङ्मधुव्रतैः।**
**रागोदयाद् दृष्टिभिया निमीलितद्विचक्षुषस्तु द्विसहस्रचक्षुषः ॥ ६७ ॥**

---

उन्हें चुपचाप (छिपकर) देख रही थीं। उनमें कोई विपक्षा थी, प्रियतम के मुख कमल दर्शन से उत्पन्न हुए सुख से, जिसके नेत्र खिल रहे थे, फिर समीप किसी एक निज मुख्य सखी को देखा कि उसके नेत्र भी प्रियतम के दर्शन करने मात्र से हर्ष के अश्रुओं से प्रसन्न हो रहे हैं और वह असूया अभिमान और स्मित पूर्वक उनका दर्शन कर रही हैं। उसे उस दशा में देखकर अपनी निज सखी के प्रति असूया (टि—गुणों में दोष का अनुसन्धान करना ही असूया है) के साथ कुछ वृत्त वर्णन करती हुई की तरह उसके प्रति आक्षेप करती है। भले ही बहुत समय तक चकोर के समान आर्तिवाले, सुन्दर चंचलतादि गुणों से पूर्ण नेत्रोंवाले सन्त श्रीकृष्ण के रूपामृत का यथेच्छ पान करें। यहाँ 'रूप' में रूपक समास से अमृत का और मुख में चन्द्र का आरोप किया गया है। क्योंकि वे भी साधु ही हैं। यहाँ 'तु' शब्द भिन्न उपक्रम में प्रयुक्त है अर्थात् परन्तु अर्थवाची है। हे सखि ! सुन—वे असंख्य नेत्रवाले हैं, जिनके नेत्र प्रियतम के दर्शन करते समय प्रेमाश्रुओं से परिपूर्ण हो जाते हैं अर्थात् जब प्रियतम का दर्शन करते हैं तब उनका हृदय प्रेम से उच्छलित हो जाता है और उसके प्रभाव से नेत्रों में अविरल अश्रु उदय हो जाता है। परन्तु प्रेम की न्यूनता के कारण जिनके नेत्रों में अश्रु नहीं बहते वे सुख से दर्शन करनेवाले पूर्व व्यक्ति दो नेत्रों से प्रियतम का दर्शन करते हैं—तथा जाति और प्रमाण से प्रेम की अधिकता के कारण अश्रुयुक्त ही प्रेमी हजार नेत्रों से दर्शन करनेवाले हैं अतएव कोई (विपक्षा) अपने मन में वृथा अभिमान न करे, इस रूप में आक्षेप किया गया। इति। इस प्रकार यहाँ मधुर रति से सम्पादित यह चक्षु-सहस्र चक्षुवालों का विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ६६ ॥

ग्रन्थकार का पद्य प्रमाण में है—प्रेम की अनेक कोटि होती है। किसी कोटि के प्रेमीजनों को अपने प्रियतम का दर्शन करके बड़ा सुख होता है वे निरन्तर दर्शन किया ही करते हैं परन्तु कुछ इस कोटि के स्नेही होते हैं कि प्रेमोदय के कारण (युगपत दर्शन सम काल) अश्रुओं के उच्छलित हो जाने से चिरकाल तक दर्शन करने में समर्थ नहीं होते और कुछ ऐसी जाति के स्नेही होते हैं कि अपने प्रियजन को—दृष्टि न लग जाय—इस हेतु से अधिक नहीं देखते हैं—प्रस्तुत पद्य द्वारा इस विषय पर ग्रन्थकार ने प्रकाश डाला है—

**श्लोकार्थ**—प्रेमी सज्जन भगवान् के मुख कमल मधु का सुख से पान करें, भ्रमरों के समान चंचल नेत्रोंवाले वे धन्य हैं, परन्तु अनुराग के उदय हो जाने से दृष्टि भय (नजर न लग जाने) के कारण

अयि तापसि ! अस्मदधीश्वरीयं व्रजेश्वरी निजदर्शनामृतसञ्जीवितसकलव्रजस्य स्वतनयस्य स्वयमेव विविधभूषणादिभिरलंकृतस्याङ्कगतस्यापि विशङ्कं मुखमाधुरीमवलोकयन्ती कदापि दासीभिरपि नावलोकिता तत्किमिति धनिष्ठिकादिभि पृष्टा पौर्णमासी सामान्यतः प्रेमतारतम्यमिव वर्णयन्ती तस्याः प्रणयप्रेमप्रक्रियारहस्यसारसौभाग्यमेवाभिव्यञ्जयति—सुखमिति। हे धनिष्ठिके ! शृणु, अत्र जगति ये धन्या भाग्यभाजो निजैश्चलदृङ्मधुव्रतैः चलैस्तृषोत्तरलैः दृश एव मधुव्रता मधुपास्तैः मुखाम्भोजमधूनि स्वप्रेमविषयस्य मुखमेवाम्भोजं तस्य मधूनि माधुरीः द्वाभ्यां द्वाभ्यामेव नेत्राभ्यां पिबन्ति यतः साधव तेऽपि श्लाघनीया एवेति भावः। तु शब्दो भिन्नोपक्रमे परन्तु—इत्यर्थकः। ते द्विसहस्रचक्षुषो द्विगुणितसहस्रचक्षुषः सन्ति। के ते ? ये रागोदयाद् रागस्य प्रेमविशेषस्य रवेरिव अनिरुद्धादुदयाद्धेतोः या स्वस्यैव तस्मिन् दृष्टिदोष संसर्गेणभीः भयं तया निमीलितद्विचक्षुषः निमीलिते मुद्रिते द्वे निजचक्षुषीयैस्ते तेभ्योऽपि धन्याः, तत्रैव प्रेमविशेषदर्शनात्। अतोऽन्येषु सर्वेषु नेत्रद्वयेन प्रेम्णा पश्यत्स्वपि सा व्रजेश्वरी प्रेम्णा निमीलितनयनापि नेत्रसहस्रद्वयेनावलोकयतीति व्यञ्जितम्। अत्र वत्सलरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ।। ६७ ।।

**यथा वा—**

**मुकुन्दमुखमाधुरीं चपलदृक्चकोरैरलं निपीय नवमीदशापरवशां समीपं गताः।**
**विलोक्य ललितादयो दरनिमीलिताक्षीं मुदा सहस्रनयनाधिकामहह मेनिरे राधिकाम् ।।६८।।**

---

जिनके नेत्र बन्द हो जाते हैं वे दो नेत्रवाले भी दो हजार नेत्रोंवाले हैं (ऐसा समझो)। इति ।। ६७ ।।

**टीकानुवाद**—हे तापसि ! (पूर्णमासी के लिये है) हमारी अधीश्वरी, व्रजेश्वरी यशोदा मैया को—अपनी दर्शन सुधा से समस्त व्रज को सञ्जीवित करनेवाले, अनेक प्रकार के भूषण आदि से अलंकृत किये गये भी तथा निज अङ्क में विराजमान, अपने नन्दन (सुन्दर पुत्र) को निशंक भाव से मुख माधुरी का दर्शन करती हुई—दासियों ने भी कभी नहीं देखा। इसका कारण धनिष्ठादि (सखियों) द्वारा पूछा जाने पर पौर्णमासी साधारणतया प्रेम के तारतम्य का वर्णन करने के मिस से यशोदा के (प्रगाढ) प्रणय अथवा प्रेम प्रक्रिया के रहस्य (गूढ़ भेद)—सार और सौभाग्य (कृतकृत्यता) का ही अभिव्यञ्जन करती है। हे धनिष्ठिके! सुन—इस जगत् में बड़े तो वे भाग्यशाली हैं जो भ्रमर के समान अपने चंचल नेत्रों से दर्शन के लिये सतृष्ण बने रहते हैं। भ्रमर जैसे कमल मकरन्द (मधु) पान करने में प्रमत्त रहते हैं ऐसे ही वे अपने प्रियतम के मुखकमल सौन्दर्य का पान करने में संलग्न रहते हैं, क्योंकि वे साधु हैं अतएव वे श्लाघनीय (प्रशंसा भाजन) हैं यह भाव है। यहाँ 'तु' पद्य के उत्तरार्ध में भिन्नोपक्रम अर्थात् परन्तु अर्थ में प्रयुक्त है। परन्तु वे तो दो हजार नेत्रोंवाले हैं जो प्रेम विशेष के उदय हो जाने से अपनी ही दृष्टि दोष के सम्बन्ध भय से अपनी दो आँखों को बन्द किये रहते हैं। यह उनसे भी अधिक धन्य हैं क्योंकि प्रेम विशेष का दर्शन तो इन्हीं में है। यहाँ प्रेम विशेष की उपमा उदय होते हुए (अरुण) सूर्य से दी गई है। जिसका अभिप्राय यह है कि उदय होता हुआ सूर्य किसी प्रकार निरुद्ध (रोका) नहीं किया जा सकता, ऐसे ही वात्सल्य आदि रस की स्थिति है। इसलिये अन्य सबके दो नेनों द्वारा प्रेम से दर्शन करने पर भी वह व्रजेश्वरी प्रेम से नेत्रों के निमीलित होने पर दो हजार नेत्रों से देखती है यह ध्वनित हुआ। यहाँ वात्सल्य रतिकृत उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है। इति ।। ६७ ।। ग्रन्थकार का पद्य प्रमाण में है।

**श्लोकार्थ ६८**—(एक बार श्रीराधारानी श्यामसुन्दर के सौन्दर्य को निहारते निहारते मूर्च्छित हो गईं उसकी उस दशा का सखी वर्णन करती हैं) श्रीराधा, श्रीकृष्ण की मुख-माधुरी का चंचल नेत्र रूप चकोरों से पर्याप्त (अतृप्त) पान करती-करती प्रेम की नवमी दशा अर्थात् मूर्च्छा को प्राप्त हो गईं—सखी उनकी इस दशा में नेत्रों को किंचित् खुले, दुःख से देखकर आश्चर्य में पड़ गईं और हजार नेत्रवालों से भी

कदापि पूर्वरागवत्या: कान्ताया: कामपि परमप्रेमदशामद्भुतामवलोक्य ललितादिस्वप्रणयसखीसभाजनै: परमप्रेमामृतरसभाजनतया सभाजिताया मुख्यायास्तदानीन्तनमुदन्तं काश्चित्सख्य: सानन्दं परस्परमास्वादयन्ति—मुकुन्दमुखमाधुरीमिति। मुकुन्दस्य परमानन्दप्रदस्य मुखस्य या माधुरी सौन्दर्यं चपलैरात्तिमद्भिर्दृक्चकोरै:। अत्र नेत्रयो: प्रपातृणां बहुलत्वाद् बहुत्वम्। अलमत्यर्थं निपीय सादरमवलोक्य। नवमीदशा मूर्च्छाख्या तस्या: परवशां पारवश्यं प्राप्ताम्।

तदुक्तं भरतेन—"चक्षूराग: प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्प:। निद्राछेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाश:॥ उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येता: स्मरदशा दशैव स्यु:।" इति।

राधिकां ललितादय: सख्य: तत्समीपं गता: सत्य:। कीदृशीं राधिकां—दरनिमीलिताक्षीं मूर्च्छायामपि प्रियदर्शनानन्दसंस्कारविशेषादीषन्मुद्रितनयनाम् इत्यद्भुतत्वम्। एवं भूतां तां विलोक्य मूर्च्छयाकृतकृष्णदर्शनप्रत्यूहामपि। अहहेति आश्चर्ये। सहस्रनयनाधिकां सहस्रनयनैर्य: पश्यति ततोऽप्यधिकदर्शनां तां मुदा आनन्देन मेनिरे। अत्रापि मधुररतिकृतोऽयमचक्षु:सहस्रचक्षुषोर्विपर्य्यय: स्फुट एव॥ ६८॥

**यथा वा—पश्यत्सु सत्सु प्रियमप्यकस्माद् वियोगवीता मृगयन्ति कान्तम्।**
**वैचित्यसम्पद् घनसारशैत्यनिरुद्धनेत्रास्तु सहस्रनेत्रा:॥ ६९॥**

अहो भाग्यं केषाञ्चिदपूर्वरसिकानां यद्वर्षावसरे निदाघ एवेति प्रेमवैचित्यवतीं कान्तां प्रतिसोपहासं

---

अधिक श्रीराधिका को समझने लगीं॥ ६८॥

**टीकानुवाद**—किसी समय पूर्वानुरागवती कान्ता की किसी अनिर्वचनीय प्रेम दशा को प्रकट हुई देखकर, ललितादि निज स्नेहवती सखीजनों से प्रेमपूर्वक आदृत की गईं। उनके उस समय के वृतान्त को कुछ सखियें आनन्द पूर्वक परस्पर आस्वादन करती हैं। मुकुन्द का अर्थ है परमानन्ददाता अर्थात् परमानन्दप्रद श्रीकृष्ण के मुख सौन्दर्य माधुर्य का नेत्र चकोरों से पर्याप्त मात्रा में पान करके अर्थात् आदर पूर्वक दर्शन करके, वह मूर्च्छा नाम की नवमी दशा को प्राप्त हो गई—यहाँ नेत्रों में बहु वचन, रूप (सुधा) का पान करनेवाले चकोरों की अपेक्षा से है, क्योंकि नेत्रों में चकोरों का आरोप हुआ है। 'निपीय' का अर्थ है आदरपूर्वक देखना—प्रेम की दशाओं के विषय में भरत मुनि ने कहा है—

**श्लोकार्थ**—पहले नेत्रों से (दर्शन द्वारा) अनुराग होता है, फिर चित्त की आसक्ति, बाद में संकल्प, फिर निद्रा का टूट जाना, शरीर में कृशता, विषयों—भोजन पान से उपरति (अरुचि), साथ में लज्जा का अभाव—उसके पीछे उन्माद-नवमी मूर्च्छा, अन्त में दशमी दशा मृत्यु, काम की यह दश दशाएँ होती हैं। श्रीराधाजी की उस दशा को देखकर ललितादि सखियें उनके समीप गईं। जब देखा कि मूर्च्छा दशा में भी प्रियतम के दर्शन से उत्पन्न आनन्द संस्कार विशेष वश इस अद्भुत अवस्था में भी नेत्र कुछ खुले हुए हैं। यह बहुत आश्चर्य की बात मानी अर्थात् मूर्च्छा दशा में भी—जो कि श्रीकृष्ण दर्शन में विघ्न रूपा है, तब भी श्रीराधारानी की उस अर्धोन्मीलित नेत्र दशा को देखकर वे और भी विस्मय में पड़ गई—तथा सहस्र नेत्रों से देखनेवालों की अपेक्षा भी उसे परम प्रेमपूर्वक दर्शन करनेवाली समझकर (वे सखियाँ) हर्ष से विभोर हो गईं। यहाँ मधुर रति द्वारा सम्पादित अचक्षु-सहस्र चक्षु का विपर्यय स्पष्ट ही है। इति॥ ६८॥ पुन: ग्रन्थकार की उक्ति है—इस पद्य में श्रीकृष्ण की विशाखा के प्रति उक्ति है—

**श्लोकार्थ ६९**—यद्यपि अपने प्रियतम को सनी देखती हैं, परन्तु उनके दर्शन समकाल ही कुछ प्रेमवती विप्रयोग युक्त हो जाती हैं और सम्मुख विराजमान भी प्रियतम ढूँढन लगती हैं। जिनके लिये प्रेम वैचित्ती ही सम्पत्ति है और वही कर्पूर के समान शीतलता का काम देती है, उस शीतलता से परिपूर्ण नेत्र-वाली ये ही सहस्र नेत्रोंवाली (वास्तव में) हैं॥ ६९॥

शैव्यावचनमसहमानः श्रीकृष्णचन्द्रः क्षणं तूष्णीं स्थित्वा किञ्चित्सामर्षं विशाखां प्रति श्लोकमेकं सामान्यतया पठन् तामधिक्षिपति—पश्यत्सु इति। हे विशाखे ! सत्सु त्वद्विधेषु साधुषु प्रियं निजदयितं पश्यत्सु विलोकयत्स्वपि अकस्मात्सहसा प्रत्यक्षतो दृश्यमानेऽपि तस्मिन् वियोगवीता वियोगेन विरहेण वीता वेष्टिताः सन्तः तं कान्तं मृगयन्ति—तत्पुरत एव क्वासि कान्तेति ये गवेषयन्ति—ते तु सहस्रनेत्राः। अन्ये नेत्रद्वयेन पश्यन्ति, ते तु नेत्रसहस्रेण पश्यन्तीत्यर्थः कीदृशास्ते—वैचित्यसम्पद्घनसारशैत्यनिरुद्धनेत्राः प्रेमोन्मादेन यद्वैचित्यं विचित्तता तस्य सम्पत् समृद्धिः सैव घनसारः कर्पूरः तस्य शैत्यं शीतलत्वं तेन निरुद्धानि मुद्रितानि नेत्राणि येषान्ते तथा प्रियदर्शनानन्दशीतलत्वनिमीलितनेत्रा इत्यर्थः, तत्रैव परमप्रेमदर्शनादिति भावः। एवं मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः ॥ ६९ ॥

**यथा वा—विलोक्य कान्तौ विकसन्ति सख्यः प्रेमोन्मदास्तत्र वदन्ति खिन्नाः।**

**तावेव तल्पाद् गुरुभीतितान्तौ निशान्तमालोक्य गतौ निशान्तम् ॥ ७० ॥**

विलोक्येति। अत्र सख्य इति कर्तृपदम्। कान्तौ विलोक्य विकसन्ति—इत्यन्वयः। मधुररतिकृतोऽयं विपर्य्ययस्तयोः ॥ ७० ॥

**यथा वा—निशम्य कृष्णाभिमुखं गतानां कोलाहलं गोकुलवासिनां यः।**

**धावन् करे दत्तकरः स्वबन्धोः प्रेम्णा भवान्धोऽपि सहस्रनेत्रः ॥ ७१ ॥**

---

**टीकानुवाद**—एक बार श्रीकृष्ण विराजमान थे तब उनके प्रति उपहास करते हुए शैव्या ने कहा 'अहो भाग्यं' (बड़े भाग्य की बात है) किन्हीं अपूर्व रसिकाओं के यहाँ—वर्षा के समय भी निदाघ—ग्रीष्म ऋतु बनी रहती है। श्रीकृष्ण उसका यह वचन सहन न कर सके, कुछ देर चुप रहकर फिर कुछ रोषवती विशाखा के प्रति सामान्यतया इस श्लोक का पाठ करते हुए, उसके प्रति आक्षेप करते बोले—हे विशाखे तुम्हारे जैसे साधुजनों का, अपने प्रियतम के दर्शन करते रहने पर भी एकाएक विरह से वेष्टित हो जाना तथा उनको अपने सामने रहते भी 'हे कान्त कहाँ हो' इस प्रकार ढूँढने लग जाना, ये वास्तव में सहस्र नेत्रवाली हैं। अन्य जन तो दो नेत्रों से दर्शन करते हैं परन्तु वे सहस्र नेत्रों से दर्शन करती हैं। उनकी यह विशेषता है कि प्रेमोन्माद में उनको प्रेम वैचित्ती दशा प्राप्त हो जाती है अर्थात् चित्त ठिकाने नहीं रहता। यही दशा समृद्धि स्थानीय है जो कर्पूर रूप है जिसकी शीतलता से उनके नेत्र शीतल हो जाते हैं अर्थात् प्रियतम के दर्शन रूप आनन्द की शीतलता से प्रेमविभोर उनके नेत्र मुंद जाते हैं भाव यह है कि परम प्रेम का दर्शन तो वहीं होता है। यहाँ भी मधुर रतिकृत विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ६९ ॥ ग्रन्थकार की पुनः उक्ति है-

**श्लोकार्थ** ७०— प्रिया-प्रियतम की ललितादि निज सखियाँ उन्हें एक कुञ्ज में विराजमान देखकर प्रसन्नता से भर जाती हैं, प्रेम में मतवाली हो जाती हैं। वे (युगल) जब गुरुजनों की भीतिवश रात्री का अन्त अर्थात् सबेरा हुआ जानकर—(शैय्या) से (विवश) उठकर जब निशान्त—अर्थात् भवन में चले जाते हैं तब वे सखियाँ भी खिन्न हो जाती हैं। इति ॥ ७० ॥

**टीकानुवाद**—यहाँ 'सख्यः' कर्तृ पद है। 'कान्तौ........' यह अन्वय हुआ है। यहाँ भी मधुर रतिकृत विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ७० ॥

टि—(पद्य में सखियाँ परस्पर खेद से कह रही हैं—हाय हाय देखो गुरुजनों की भीति तथा सवेरा हुआ जानकर तल्प सुख को त्याग कर ये हमारे प्रेष्ठ भवन में परवश जा रहे हैं ऐसा दर्शन का अभाव ही अचक्षु-सहस्र चक्षु के विपर्यय का द्योतक है) इति ॥ ७० ॥

**श्लोकार्थ**—एक बार श्रीकृष्ण को वन से आते जानकर गोकुलवासियों का उनके दर्शन के लिये महान् कोलाहल हुआ, उसको सुनकर एक जन्मांध अपने कुटुम्बियों द्वारा हाथ पकड़ा हुआ दर्शन की

एवं तावदचक्षुष इत्यत्र लक्षणाङ्गीकारेणैतत्प्रकरणपद्यानिव्याख्यातानि तत एवेदानीं मुख्यया वृत्त्यापि तत्साधयितुमुदाहरणान्तरमाहुः—निशम्येति। कश्चिद्भवान्धो जन्मान्धः। अत्र भवपदेन कदाचित् पूर्वदृष्टे तस्मिन् प्रेमपरवशतया धावनं निरस्तम्। गोकुलवासिनां पुरुषाणां स्त्रीणांञ्च कोलाहलम्—रे दिनताप! अपयाहि, अरे! जीवञ्जीवा विरहविवशं स्वजीवनं सञ्जीवयन्तु, अहो! प्रकाशभाञ्जि भवन्त्विन्दीवराणि, श्रीकृष्णचन्द्रोऽयमुदयमेति—इत्यादिलक्षणं निशम्य श्रुत्वा श्रीकृष्णाभिमुखं धावन् दर्शनानीशोऽपि प्रेम्णा सहस्रनेत्रः। प्रेममयेण नेत्रसहस्रेण पश्यति, अन्ये तु नेत्रद्वयेनैवेत्यर्थः। कीदृशो भवान्धः—स्वबन्धोः भ्रातृपुत्रादेः करे दत्तकरः, बन्धुना गृहीतहस्त इत्यर्थः। कीदृशानां गोकुलवासिनाम्—सायं वनादागच्छतः ससखस्य श्रीकृष्णचन्द्रस्य वेणुशृङ्गतालदलगीतादीनां गोगणहम्बारावपरिरम्भितानां कोलाहलं निशम्य कृष्णाभिमुखं गतानां प्राप्तप्रायाणाम्। एतच्च तं धावन्तं पश्यतः कस्यचित्तत्र भक्तिमतः प्रेमभक्तस्य वचनं ज्ञेयम्। एवं रतिविषयकृतोऽयं विपर्य्ययस्तयोः स्फुट एव॥ ७१॥

**यत्राऽबाहव एव सहस्रबाहवः॥ यत्रेति। स्फुटार्थः॥**

**यथा वा—मुदाकराभ्यामतिसादरं सदा सन्त्येव सेवारससौख्यभागिनः।**
**मुखाम्बुजालोकनजादिसात्त्विकग्रस्ताविहस्तास्तु सहस्रबाहवः॥ ७२॥**

---

उत्कण्ठा से प्रेमवश दौड़ने लगा, (जन्मांध होने पर भी) वस्तुतः यही सहस्र नेत्रवाला है। इति॥ ७१॥

**टीकानुवाद**—इस प्रकार यहाँ चक्षुष स्थल में लक्षण का अङ्गीकार करके इस प्रकरण के पद्य की व्याख्या की गई है। इसलिये अब मुख्या अर्थात् शब्द की अभिधा वृत्ति से भी उसको सिद्ध करने के हेतु दूसरा उदाहरण देते हैं। कोई एक जन्मांध गोकुलवासी था। यहाँ 'भव' पद से यह बात बताई गई, कदाचित् कोई यह कल्पना न करे कि पहले जब उसकी दृष्टि थी और उसने श्रीकृष्ण दर्शन सुख प्राप्त किया हुआ था अतएव अब दौड़ा—इसका भव शब्द से खण्डन किया गया है। गोकुलवासी पुरुष स्त्रियों का यह कोलाहल हुआ—हे दिन के ताप! दूर हो जाओ—अरे चकोरो! विरह पराधीन अपने जीवन को सञ्जीवित करो। अहो इन्दीवरो (श्याम कमलो)! खिल जाओ। कारण यह श्रीकृष्णचन्द्र उदित हो रहे हैं। ऐसे कोलाहल को सुनकर वह जन्मांध दर्शन में असमर्थ होकर भी श्रीकृष्ण के सम्मुख दौड़ता हुआ, प्रेम के कारण सहस्रों नेत्रों से देखनेवाले के समान है—यह भाव है कि प्रेममय नेत्रों से दर्शन इसी का है—अतएव सहस्रों नेत्रवाला है दूसरे तो प्रेमाभाव में दो नेत्रों से ही देखते हैं। अब भवान्ध का विशेषण कहा है—कि अपने बन्धु वर्ग—भाई अथवा पुत्रादि द्वारा गृहीत हस्त हुआ दौड़ता जा रहा था। गोकुल वासियों का विशेषण है—कि सायं वन से आते हुए मित्रों से वेष्टित श्रीकृष्णचन्द्र के वेणु, शृङ्ग, ताल-दल आदि द्वारा गाई गई संगीत ध्वनि, और गाय समूह के हम्बारव से सम्मिलित कोलाहल को सुना। यह पद्य उस जन्मांध को दौड़ते देखकर—उसके प्रति भक्ति श्रद्धा रखनेवाले किसी प्रेमी का वचन है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार रति विशेष द्वारा यह उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही हुआ। इति॥ ७१॥

**मूलानुवाद**—जहाँ उस प्रेमनगर में बिना बाहुवाले ही हजार बाहुवाले समझे जाते हैं—ग्रन्थकार का पद्य प्रमाण में है—

**श्लोकार्थ** ७२—अत्यन्त हर्ष सहित और आदर से दोनों हाथों से निरन्तर सेवा करके उसके सुख का अनुभव करनेवाले बहुत मिलेंगे, परन्तु प्रियतम (श्रीकृष्ण) के मुखकमल के दर्शन करने से उदित हुए सात्विक भावों से ग्रस्त हो जानेवाले अतएव हस्त से सम्पन्न होनेवाली सेवा में असमर्थ हो जानेवाले ही वस्तुतः सहस्रबाहु है॥ ७२॥

**टीकानुवाद**—एक समय श्रीवृन्दावन में त्रिविध (शीतल-मन्द-सुगन्धित) पवन चल रहा था।

कदाचित्परमानुरक्तो रक्तक: श्रीवृन्दावने त्रिविधपवनसंसर्गेण सुखं प्रसुप्तस्य स्वप्रभोर्निजमृदुकराभ्यां चरणतलमुपलालयन् ससम्भ्रमं तन्मुखनिहितनयन: सञ्जातस्तम्भसंस्तम्भितहस्त: पत्रकादिभिरुपहस्य तत: शनैरपसारित: सलज्ज: प्रौढ्यापि किञ्चिद्वदन् यथार्हमेवाह—मुदाकराभ्यामिति। मुदासानन्दं कराभ्यामेव अतिशयेन सादरं यथा स्यात्तथा सेवारससौख्यभागिन: सेवायां पादसंवाहनादिलक्षणायां यो रसस्तेन सौख्यं तस्यैव भागो भाग्यमस्ति येषान्ते भवद्विधा: सहस्रश: सन्त्येव स्वसेवां कुर्वन्तु। तुशब्दो भिन्नोपक्रमे। परन्तु तेऽस्मद्विधास्तु सहस्रबाहव:। सहस्रबाहुभिर्विविधां तदेकवेद्यां सेवां कुर्वन्तीत्यर्थ:। कीदृशास्ते सहस्रबाहव:—मुखाम्बुजालोकनजादिसात्त्विग्रस्ता अस्य मुखाम्बुजस्यावलोकनं ततो जातश्चासौ आदिसात्त्विक: स्तम्भस्तेन ग्रस्ता आक्रान्ता अत एव विहस्ता हस्तसंवलितक्रियया रहिता अपि। एतेन स्वभावसुलभया प्रौढ्या स्वस्य विविधप्रच्छन्नसेवासम्पादकत्वम्, परमप्रेमभाजनत्वञ्च व्यञ्जितम्। पुन: स्वस्य स्तम्भपरवशत्वञ्च सूचितम्। तच्च यथार्थमेव। सामान्यत: सेवारतानामपेक्षया सद्य: सञ्जातसात्त्विकानां प्रेमाधिक्यात् सहस्रबाहुत्वं युक्तमेव नात्र विषये कश्चिदपि संशय:। एवं दास्यरतिकृतोऽयमबाहुसहस्रबाह्वोर्विपर्यय: स्फुट एव ॥ ७२ ॥

**यथा वा—भाले विशाले रचयन्तु सन्त: तमालपत्रादि करद्वयेन।**
**मुखेन्दुसन्दर्शनजातकम्पनिरस्तहस्तास्तु सहस्रहस्ता: ॥ ७३ ॥**

---

श्रीकृष्ण उस समय पवन संसर्ग से सो रहे थे। उनका परम स्नेही भृत्य रक्तक अपने प्रभु के चरणों के तलवों का कोमल हाथों में उपलालन—अर्थात् सहलाने लगा। प्रेम विभोर हुआ बड़े चाव से उस समय उनकी मुख माधुरी के दर्शन में निमग्न हो गया और स्तम्भ संज्ञक सात्विक भाव के उदय हो जाने से उसके हाथ की उपलालन सेवा (बलात्) रुक गई। उसकी इस दशा को देख पत्रकादियों ने बड़ा उपहास किया। धीरे से (कहीं कृष्ण जग न जाएँ) उसको हटा दिया जिससे वह लज्जित हुआ और कुछ समयोचित बोला—आनन्द सहित और अतिशय आदरपूर्वक अपने हाथों से पाद संवाहन आदि के कारण सेवा सौख्य के अधिकारी आप समान हजारों ही हैं, वे अपनी सेवा को करेंगे। 'तु' शब्द भिन्न उपक्रम में प्रयुक्त है—परन्तु हमारे जैसे तो सहस्र बाहु हैं अर्थात् हजारों भुजा से अनेक प्रकार की सेवा—जिसे सेव्य प्रभु ही जानते करते हैं यह भाव है। अब सहस्रबाहु का विशेषण बताते हैं—अपने सेव्य स्वरूप भगवान् के मुख कमल दर्शन से स्तम्भ नामक सात्विक लक्ष (भाव) से जो आक्रान्त हो जाते हैं वे ही विहस्त अर्थात् हस्त द्वारा की जानेवाली सेवा से रहित भी सहस्रबाहु गिने जाते हैं। इस स्वभाव सुलभ प्रौढी (विवशता) द्वारा अपनी अनेक प्रकार की गुप्त सेवाओं का सम्पादन और परम प्रेम पात्रता व्यञ्जित की गई तथा अपनी स्तम्भ परवशता भी—जो ठीक ही है। साधारणतया सेवा निरतों की अपेक्षा तुरन्त ही सात्विक प्रेम की अधिकता से भावों का उत्पन्न हो जाना ही सहस्रबाहुता है, जो ठीक है इस विषय में कोई सन्देह नहीं। यहाँ दास्य रतिकृत यह अबाहु और सहस्राबाहु का विपर्यय स्फुट ही है ॥ ७२ ॥

ग्रन्थकार की उक्ति है—एक बार प्रार्थना करने पर, प्रियाजी के मस्तक पर पत्र रचना करने की अनुमति श्रीकृष्ण ने प्राप्त कर ली—परन्तु दर्शन समकाल ही प्रेमवश कम्प उत्पन्न हो जाने से वे उस सेवा में समर्थ न हो सके। ललितादियों के उपहास करने पर उन्होंने यह कहा—

**श्लोकार्थ** ७३—विशाल भाल पर सन्तजन दोनों हाथों से तमाल पत्रादि रचना भले ही करें। परन्तु मुखचन्द्र के दर्शन से उत्पन्न हुए कम्प नामक सात्विक भाव उदय होने से जिनके हाथ रुक जाते हैं वे ही हजार हाथवाले हैं ॥ ७३ ॥

**टीकानुवाद**—जब श्रीकृष्ण कम्प के उदय हो जाने पर (प्यारी के भाल पर) तिलक रचना करने

अहो गोपालमौले: सकलकलानिधेर्भवतस्तिलकररचनाकौशलमवलोकितं तदलमायासेन अतो दूरादेवेदानीं मदीयचित्रविचित्रकरचनाचातुर्य्यमवलोक्यावधारयेति ललितया विशङ्कमपसारितस्तद्रचनाया-मतिसलालस: तस्या: प्रागल्भ्यमीषदसहमानो रसिकशिरोमणिर्मनागवलम्बितमौन: साभिमानं सादरं शनै: सस्मितमाहभाले विशाल इति। अयि परमप्रेमावलिवलते ! ललिते ! शृणु, ये सन्त: साधव: सर्वथा निर्विकारा अर्थात्त्वद्विधा इति विरुद्धलक्षणया अपरिमितप्रेमवतां विविधविकारवत्त्वं ध्वनितम्। पुंस्त्वेन निर्देशस्तु प्रागल्भ्ये कटाक्षलेशं व्यञ्जयति, प्रागल्भ्यस्य पुरुषोचितत्वात्। तेन करद्वयेन तन्मात्रेणैव। यद्वा, करद्वयेनेत्यत्र वीप्सा ज्ञेया। द्वाभ्या द्वाभ्यां कराभ्यामादरविशेषेणेत्यर्थ:। भाले, अर्थात् कान्ताया एव तमाल पत्रादि तिलकादि। "तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्" इत्यमर:। आदिना मकरिकापत्रञ्च रचयन्तु रचनाविशेषेण कुर्वन्तु, यतस्ते सन्त:। कीदृशे भाले—विशाले सौभाग्यसम्पत्समावेशोचितपरिणाहे। तदुक्तं सामुद्रिके—

"भाले विशालता स्त्रीणां सुष्ठुसौभाग्यमन्दिरम्॥" इति।

तुरत्रापि भिन्नोपक्रमे। परन्तु ते सहस्रहस्ता अस्मद्विधा इत्यर्थ:। तस्मिन् बहुत्वनिर्देशस्तु नायक-स्वभावसुलभ साभिमानत्वं व्यञ्जयति। तदुक्तं श्रीभरतेन—

"त्यागी भिमानी (शूरोऽभिमानी—इति वा पाठ: स्यात्। आर्षो वा ज्ञेयोऽकारलोप:।) कुशलो रतेषु" इत्यादि। कीदृशास्ते सहस्रहस्ता:—मुखेन्दुसन्दर्शनजातकम्पनिरस्तहस्ता: मुखमेवेन्दुस्तस्य सन्दर्शनं सम्यग्दर्शनम्। पूर्वन्तु किञ्चिद्दर्शनेऽपि लालसैव तिलकक्रियासेवावसरे भाग्योदयात्तज्जातमिति संशब्दार्थ:।

---

में समर्थ नहीं हुए तब ललितादि ने उन्हें कहा—हे गोपाल शेखर ! आप अवश्य समस्त कलाओं की निधि हैं, आपका यह तिलक रचना कौशल हमने देख लिया, अब अधिक प्रयास मत करो, और दूर से ही मेरी अद्भुत तिलक रचना चातुरी को देखो और समझो (सीखो) ऐसा कहकर उन्हें हटा दिया। श्रीकृष्ण की प्रियाजी के भाल पर पत्रावली रचना की अति लालसा थी। ललिताजी की यह गर्वोक्ति (प्रागल्भ्य) सहन नहीं हुई। वे रसिकशिरोमणि पहले कुछ मौन हो गये, फिर बड़े अभिमान से, परन्तु सादर स्मित पूर्वक धीरे बोले—हे परम प्रेमाधिक्य निमग्ना ललिते। सुनो—जो साधु होते हैं वे सर्वथा निर्विकार होते हैं अर्थात् तुम हम जैसों से विपरीत लक्षण द्वारा साधु हो—इससे यह ध्वनित हुआ—कि असीम प्रेममय जन सात्विक आदि नाना विकारों से सम्पन्न होते हैं। ललितादि को निर्दिष्ट करके जो 'सन्त:' में पुलिङ्ग का निर्देश हुआ है वह उसकी प्रगलभता (गर्व) के प्रति कुछ कटाक्ष को व्यक्त करता है। क्योंकि वह (प्रगलभता) पुरुषोचित गुण है। सो आप भले ही दो हाथों से ही रचना करो अथवा 'करद्वयेन' इस पद में वीप्सा (दो बार) जाननी चाहिये। अभिप्राय यह हुआ दो दो हाथों से अर्थात् विशेष आदर पूर्वक आप तिलक रचना कीजिये। 'भाले' अर्थात् कान्ता के ही भाल पर तमाल पत्रादि तिलक रचना करो—उत्तम तमाल-तिलक-चित्रक विशेषक यह सब अमर कोष के अनुसार तिलक के पर्यायवाची शब्द हैं। 'आदि' शब्द से मकर पत्रिका की रचना विशेष करो यह अर्थ भी निकलता है। क्योंकि तुम सन्त हो (जैसा चाहो)। भाल का विशेषण है 'विशाल'—जिसका अर्थ है सौभाग्य रूप सम्पत्ति के समावेश निमित्त समुचित बड़ा। सामुद्रिक शास्त्र में बताया है 'स्त्रिनों के ललाट की विशेषता उनके उत्तम सौभाग्य का सूचक है। 'तु' यहाँ भी भिन्न उपक्रम अर्थ में है। परन्तु सहस्र हस्त तो हमारे जैसे गिने जायेंगे। यहाँ अपने में बहु वचन का प्रयोग नायक की स्वभाव सुलभ साभिमानता को व्यक्त करता है। जैसा श्रीभरत मुनि ने कहा है—'त्यागी........' इत्यादि। यहाँ 'शूरोऽभिमानी' ऐसा भी पाठ है अथवा 'त्यागी भिमानी' इसमें अकार का अभाव आर्ष समझना चाहिये। 'सहस्रहस्ता:' का विशेषण है—'मुखेन्दु ......' मुख ही हुआ इन्दु, उसके सम्यक दर्शन से कम्पोदय वशात् जिनके हस्त शिथिल पड़ गये हैं यहाँ 'संदर्शन' शब्द में 'सं' उपसर्ग का अर्थ है—पहले

तेन जातो यः कम्पः सात्त्विकपञ्चमस्तेन निरस्ता न्यक्कृता निजसेवातो निवारिता हस्ता येषान्ते तथा। अतो बाहुसहस्रभारेणालसाः प्रभोराज्ञां श्रुत्वैव सकम्पाः सेवाचतुरैः साधुभिरपसारणीया एवेति सोत्प्रासोक्तिस्तथा (?) प्रेममयबाहुसहस्रभारालसत्वेन प्रभोः सेवां यथावत्कर्त्तुमनीशा अपि प्रभुणा निजान्तिके परमकृपापात्रतया सततं स्थापनीयः, ते साधवस्तु निर्विकारतया प्रकटप्रेमाल्पभाववन्तः सेवाचतुरा अपि दूरेऽपसारणीया इति व्यञ्जयति। एवं मधुररतिकृतः पूर्वोक्तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ।। ७३ ।।

**यथा वा—मृदुं प्रियं प्राप्य पुरः कलाविदः कर्वन्तु गाढं परिरम्भविभ्रमम् ।**
**रोमाञ्चिताङ्गैः परिरभ्यते जनैः शनैः सशङ्कं स सहस्रबाहुभिः ।। ७४ ।।**

मृदुमिति। ननु कनकलता इव व्रजवनिता निजभुजप्रतानैः कलिन्दनन्दनीकूलतमालबालमिव श्यामलकोमलकलेवरं कान्तं दृढं परिरभ्य सर्वाः प्रतिस्वं सुखयन्ति, त्वमेव एका नवयौवनालङ्कृताकृतिरपि गाढमालिङ्गच रहसि नन्दनन्दनं किमिति नान्दयसीत्युक्ता वृन्दया वृन्दावनेश्वरी सामान्यतो जनवृत्तान्तमिव कथयन्ती आत्मनः प्रेमामृतसारसर्वस्वमाधुरीरसाभिज्ञत्वं व्यञ्जयति—मृदुमिति। मृदुं कुवलयदलकोमलाङ्गम्, प्रियं स्वविषयकप्रीतेराश्रयम्। प्रीञ् धातोः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कर्त्तरि कः प्रत्ययः। अत एव

---

तो कुछ दर्शन की ही लालसा थी परन्तु तिलक रचना की सेवा का अवसर (अनायास) प्राप्त होने पर भाग्योदय से ही वह (दर्शन लालसा) भली भाँति सिद्ध हो गई। उस संदर्शन ने यह चमत्कार दिखाया कि सात्विक भावों में पंचम कम्प उदय हो गया, और उससे हमारे हाथों को (प्यारीजी की) निज सेवा से निवारित कर दिया—अर्थात् असमर्थ कर दिया। इसलिये सहस्रबाहु के भार से सालस—शिथिल और सकम्प जनों को प्रभु (राधारानी) की आज्ञा सुनकर ही सेवा चतुर तुम्हारे जैसे साधुजनों द्वारा हटाया जाना ही ठीक था। इसमें 'सोल्लुण्ठनोक्ति' है—जिसका अभिप्राय प्रायः प्रौढी पूर्वक उपहास है। तथापि प्रेममय बाहु सहस्र भारवश शिथिलता के कारण प्रभु की सेवा विधिवत् करने में समर्थ न होने पर भी प्रभु (राधा) ने हमको अपनी परम कृपा पात्रता के नाते अपने समीप में सदा स्थान दिया है और वे साधु (ललितादि) जन निर्विकार होने से प्रकट प्रेम के अल्प भाववश सेवा कुशल होने पर भी दूर हटा देने योग्य हैं यह व्यञ्जित होता है। पूर्वोक्ति दोनों का विपर्यय इस प्रकार मधुर रतिकृत हुआ है ।। ७३ ।।

पद्य ७४ ग्रन्थकार की उक्ति है—कदाचित् वृन्दा सखी के पूछने पर, कि और सब तो श्यामसुन्दर का गाढालिङ्गन करते हैं परन्तु आप ऐसा क्यों नहीं करतीं—इस पर श्रीराधारानी का उत्तर इस पद्य में है—

**पद्यानुवाद**—कोमलांग (मृदुल) प्रियतम को प्राप्त करके केलि कला विशारद जन, सामने जाने पर भले ही विलाल पूर्वक उनका गाढालिङ्गन करें, परन्तु प्रेमीजनों को रोमाञ्च हो जाने के भय से, कि रोमाञ्चकण्टक प्रियतम के कोमल अङ्गों में कहीं चुभ न जाएँ, शङ्कावश शनै परिरम्भन करते हैं और वे ही वास्तव में सहस्र बाहु हैं ।। ७४ ।।

**टीकानुवाद**—कनक लता के समान व्रजवनिता अपनी भुज लताओं से, यमुना किनारे के बाल तमाल सदृश श्याम वर्ण और कोमल वपु कान्त श्यामसुन्दर का गाढ़ालिङ्गन करके सभी अपने को सुखी करती हैं—ऐसा कहती हुई वृन्दा सखी श्रीराधा से जिज्ञासा करती पूछती हैं—कि आप ही एक ऐसी हैं, जो नवयौवन से सुशोभित होने पर भी गाढ़ालिङ्गन करके एकान्त मैं प्रियतम नन्दनन्दन को क्यों आनन्दित नहीं करती हो। वृन्दा के ऐसे प्रश्न का उत्तर वृन्दावनेश्वरी, साधारणतया अन्य जन वृत्तान्त को वर्णन करती हुई के समान, अपने प्रेम सुधा सार सर्वस्व मधुर रस के विषय में अपनी विशेष जानकारी को व्यक्त करती हैं। वे प्रियतम कमल दल के समान कोमल मृदुल अंग हैं—यह प्रिय का अभिप्राय है। यहाँ 'प्रीञ्,

स्वप्रीतिविषयम्, तेन तत्तद्विषयकप्रीतेराश्रयरूपं नेति ध्वनितम्, पुरोऽग्रतः प्राप्य ये(ते ?)जना गाढं दृढं यथा भवति तथा परिरम्भलक्षणं विभ्रमविलासविशेषं कुर्वन्तु, यतस्ते कलाविदः कामकेलिकलासु कोविदाः, न तु प्रेमक्रियाविद इति ध्वनिः। तुर्भिन्नोपक्रमे। परन्तु यै रोमाञ्चिताङ्गैः प्रियदर्शनमात्रेण कण्टकिताङ्गत्वात् शनैः, न तु बलेन, तथापि सशङ्कं परिरभ्यते, तैः प्रियः सहस्रबाहुभिः परिरभ्यते। अतो हे वृन्दे ! ताः परिमितप्रेमवत्यो या गाढं तमालिङ्गन्ति। शनैः सशङ्कं परिरम्भणकर्त्र्या मया तु सहस्रबाहुभिः परिरभ्यत इति स्वप्रेमपरिणाहो व्यञ्जितः। अत्रापि मधुररतिकृतोऽयमबाहुसहस्र बाह्वोर्विपर्य्ययः सम्यक् स्फुट एव। नात्राधिकनिरूपणापेक्षेति ॥ ७४ ॥

**यत्राऽपद एव सहस्रपदः। यत्रेति। अपदः प्रेम्णापादक्रियारहिताः ॥**

**यथा वा—येषां मनोनिमग्नं मुखमधुरिमणीव मक्षिका मधुनि।**
**पदमपि न गन्तुमीशाः सहस्रपादाः परे द्विपदाः ॥ ७५ ॥**

कदाचिद्गम्भीराशयतया प्रच्छन्नप्रायसमस्तसात्त्विकसंवीतं निजप्रेममधुरिममधुपानमदनिपतितमवलम्बितवृक्षमूलं कमपि परमासक्तं सेवासावधानैः साधारणभक्तैः सभ्रूभङ्गं सस्मितं सविस्मितमवलोकितमवलोक्य रसिकशिरोमणिः शतशोऽनुभूतताहृगवस्थः सद्यः समुदितकृपया मनाङ्मसृणितनयनस्तम्भमोदयन्,

---

धातु से 'इंगु.......' इस सूत्र से कर्त्ता में कः प्रत्यय हुआ है। इसलिये स्व-प्रीति विषय अर्थ होता है। जिससे यह ध्वनित होता है कि यह उन उनके विषय की प्रीति के आश्रय रूप नहीं है। प्रियतम को सम्मुख प्राप्त करके वे लोग भले ही गाढता पूर्वक आलिङ्गन रूप विलास विशेष करें क्योंकि वे केलि कला में कुशल हैं—न कि प्रेमक्रिया के ज्ञाता यह ध्वनि है। परन्तु जिनके अङ्गों में प्रियतम के दर्शन मात्र से वेपथु का उदय हो आता है अर्थात् कण्टकितांग हो जाते हैं वे शनै न कि बल से, तथा सशंक भाव से परिरम्भन करते हैं। ऐसे ही जनों से प्रियतम हजार वाहुओं से आलिङ्गित होते हैं। इसलिये हे वृन्दे ! वे परिमित प्रेमवती है जो प्रियतम का गाढ़ालिङ्गन करती है। 'शनै' और 'सशंक' भाव से आलिङ्गन करनेवाली, मेरे द्वारा तो हजार बाहुओं से आलिङ्गन किया जाता है। यह अपने प्रेम की विशालता व्यक्त की गई। यहाँ भी मधुर रति द्वारा ही, यह अबाहु-सहस्र बाहु का विपर्यय भली भाँति प्रकट किया गया है। इस पर अधिक विस्तार अपेक्षा नही है। इति ॥ ७४ ॥

**मूलानुवाद**—जहाँ उस प्रेम नगर में बिना पाँववाले ही हजार पाँववाले गिने जाते हैं। भाव यह है कि प्रेमवश चलने में असमर्थ है। ग्रन्थकार का निज का पद्य संख्या ७५ है। कोई एक श्रीकृष्ण का सेवक बड़ा प्रेमी था। दर्शन करके आनन्द निमग्नता की दशा में (न सँभल सकने के कारण) वृक्ष का सहारा लिये खड़ा था। अन्य सेवकजन उसकी दशा पर कटाक्ष कर रहे थे इस प्रसङ्ग को देखकर श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है।

**श्लोकार्थ**—जिनका मन अपने प्रियतम के मुख माधुर्य्य में शहद में मक्खी की तरह निमग्न हो जाता है एक पग भी चलने में समर्थ नहीं होते, वे ही सहस्र पद हैं अन्य तो दो पाँववाले ही हैं ॥ ७५ ॥

**टीकानुवाद**—श्रीकृष्ण का कोई सेवक, रूप माधुरी पान करके आविष्ट और मदान्वित, किसी समय आशय की गम्भीरता से कुछ गुप्त समस्त सात्विक भावों से युक्त था। उस दशा में न सँभल सकने के कारण उसने वृक्ष का सहारा ले रखा था। इस प्रकार प्रेमासक्त था। सेवा में सावधान अन्य साधारण सेवक भृकुटी को मरोड़ते और मुस्कराते हुए बड़े आश्चर्य से और कुछ अपमान की दृष्टि से उसे देख रहे थे। श्रीकृष्ण ने वैसे प्रेम की दशाओं का सैकड़ों बार अनुभव किया हुआ था उसे देखकर तुरन्त कृपा उमड़ पड़ी। कुछ आँखों को मसलते और उसको हर्ष पहुँचाते, उसकी प्रेम सेवा का अनुमोदन करते, उन अन्य

तत्प्रेमसेवामेवानुमोदयन्, तानपि प्रेमसारसर्वस्वमुपदिशति—येषामिति । अहो विपरीतेयं प्रेमपदवी। ये पदमपि प्रेष्ठसमीपात् प्रेम्णा गन्तुं सेवार्थमपि चलितुमनीशाः न समर्थास्ते तु सहस्रपादाः, अर्थात् सहस्रचरणैः करणीयां सेवां प्रेममात्रेणैव कुर्वन्तीत्यर्थः। अपरे तादृशप्रेमाभावाद् विविधसेवार्थमितस्ततो धावमानास्तु द्विपदाः, पदद्वयोचितसेवाचतुरा एवेति भावः। परन्तु तेऽपि तद्विधा भविष्यन्तीति कृपया वैमनस्यपरिहारोऽपि ज्ञेयः। कीदृशास्ते—येषां मनः मुखमधुरिमणि, अर्थान्निजदयितस्यैव मुखकमलमाधुर्ये निमग्नं नितरां मग्नं हस्तादुगतमेवेत्यर्थः। एतेन मधुरिम्णो गाम्भीर्यं मनसो गुरुत्वञ्च व्यञ्जितम्। कस्मिन् का इव ! मधुनि सारघे मक्षिका इव। यथा तत्र निमग्ना मक्षिका मनागपि गन्तुं न क्षमते तथेति भावः। एवं मधुररतिविशेष-कृतोऽयमपत्सहस्रपदोर्विपर्य्ययः स्फुण एव ।। ७५ ।।

**तदुक्तम्—"दशशतशिरसमशिरसं शतभुजमभुजं सहस्रपदमपदम् ।**
**रचयति शतमतिममतिं गतिरीतिविषमा रतेः कापि ।।" इति ।**

दशेति। स्पष्टार्थेयमार्या ।।

**यत्राऽनिद्रत्वमेव सनिद्रत्वम् ।।**

यत्रेति। यथा निद्रायां सर्वविस्मृतिपूर्वकमात्मसुखं तथा तत्र जाग्रदवस्थायामपि विरहमोहमूर्च्छादिभिः सर्वविस्मृतिपूर्वकं प्रियानुभवसुखमनुभूयते। तस्य सुखत्वन्तु श्रीरसामृतसिन्धौ पू० ३ ल० ३५ यथा—

---

सेवकों के प्रति प्रेम के सार सर्वस्व का उपदेश देते हैं। अहो ! इस प्रेम की पद्धति विपरीत ही है। जो प्रियतम के समीप से प्रेमवश सेवा के निमित्त भी एक पद तक चलने में समर्थ नहीं हैं वास्तव में वे ही सहस्र पाद हैं अर्थात् हजार पाँवों से चलकर, करने योग्य सेवा को वे प्रेममात्र से सम्पन्न कर देते हैं। दूसरे तो वैसे प्रेम के अभाव के कारण अनेक सेवा करने के लिये इधर-उधर दौड़ धूप करते भी दो ही पाँववाले हैं। भाव यह है कि वे दो पाँव से चलकर करने योग्य सेवा में ही चतुर है। परन्तु वे भी भविष्य में वैसे बन जाएंगे। अन्य सेवक दुखी न हो जाए" इसलिये कृपा पूर्वक वैमनस्य (खेद) को भी यहाँ परिहार (दूर) कर दिया गया यह समझना चाहिये। वे प्रेमी कैसे सहस्र पद हैं—जिनका मन अपने प्रियतम की मुख-कमल माधुरी में नितान्त निमग्न है। अभिप्राय यह है कि जिनका मन अपने हाथ से सर्वथा निकल चुका है इससे माधुरी की गम्भीरता और मन की गुरुता व्यक्त होती है। किस में किस के समान' ? यह प्रश्न है। शरद में मक्खी के समान—जैसे मधु में फँसी मक्खी थोड़ा भी चलने निकलने में समर्थ नहीं होती है, वैसे उनकी दशा होती है। यहाँ मधुर रतिकृत बिना पाँव और सहस्र पाँववालों का विपर्यय स्पष्ट ही है। इति ।। ७५ ।।

इस विषय में किसी अन्य कवि ने कहा है। श्लोकार्थ—प्रीति की यह विषम गति और रीति हैं, कि उसमें बिना शिरवाले—हजार शिरवाले—तथा बिना भुजा के हजार भुजावाले और बिना पाँव के हजार पाँववाले, एवं बिना बुद्धि के शत-शत बुद्धिवाले बना देती है। इस प्रकार इस पद्य का अर्थ स्पष्ट ही है। इति।

**मूलानुवाद**—जहाँ जागना ही सोना है। (अर्थात् निद्रा का न आना)

**टीकानुवाद**—योग के इस 'अभाव प्रत्ययावलम्बना वृत्तिर्निद्रा' सूत्रानुसार, जैसे निद्रा में सर्व विस्मृति पूर्वक केवल आत्मसुख का अनुभव होता है वैसे ही प्रेम दशा कालिक जाग्रत दशा में भी विरह मूर्च्छादियों के कारण सर्व विस्मृति पूर्वक अपने प्रिय के साक्षात् सुख का अनुभव होता है। उस सुख के विषय में भक्ति रसामृत सिन्धु पू० ३ ल० ३५ में लिखा है।

**श्लोकार्थ**—रति सदैव स्वभावतः उष्ण (अर्थात् वियोग ताप युक्त) होने पर भी उत्कृष्ट आनन्द

"रतिरनिशनिसर्गोष्णप्रबलतरानन्दसान्द्ररूपैव। उष्माणमपि वमन्ती सुधांशुकोटेरपि स्वाद्वी" ॥ इति।

**यथोक्तं भगवता—१०-५३-२**

**"तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि।**
**वेदाहं रुक्मिणा द्वेशाद् ममोद्वाहो निवारितः॥" इति।**

तथाहमिति। तच्चित्तस्तस्यां रुक्मिण्यामेव चित्तं यस्य, अतो हे द्विज! निशि रात्रावपि निद्रां न लभे। चकारोऽप्यर्थे। इति विनिद्रत्वसनिद्रत्वयोर्मधुररतिकृतोऽयं विपर्य्यासः स्फुट एव॥

**तथैवोक्तं श्रीरूपगोस्वामिभिः—**

**"हस्तोदरे विनिहितैककपोलपालेरश्रान्तलोचनजलस्नपिताननायाः।**
**प्रस्थानमङ्गलदिनावधि माधवस्य निद्रालवोऽपि कुत एव सरोरुहाक्ष्याः॥" इति।**

कृतमथुराप्रस्थानस्य दयितस्य विरहसन्तापेन नितान्ततान्तायाः कान्तायाः स्मरदशां तुरीयां निद्राछेदरूपां विषमदशां सहचरीं प्रति काचित्सवाष्पं सशिरःकम्पं वर्णयति—हस्तोदर इति। माधवस्य कदाचिच्छ्रुतमधुवंशोद्भवतया कठिनस्येत्यर्थः। अन्यथा गमनासम्भवात् प्रस्थानमङ्गलदिनावधि प्रस्थानमेव मङ्गलं तस्य दिनं तदवधि तत आरभ्येत्यर्थः। अत्र दुःखदस्यापि प्रस्थानस्य मङ्गलत्वकथनं प्रेम्णा पुनरागमनाय शुभसूचकम्, केवलस्य प्रस्थानपदस्य तत्प्रतियोगित्वात्। तस्याः सरोरुहाक्ष्या अपि निद्रालवोऽपि कुतः, न कुतोऽपीत्यर्थः। सरोरुहाणां रात्रौ मुकुलितत्वरूपा निद्रा जायते, एतस्या नेत्रसरोरुहयोः रात्रावपि

---

की घनी अवस्था है इसलिये वह ताप रूप ऊष्म को प्रकट करती हुई भी करोड़ों चन्द्रमाओं की अपेक्षा भी अधिक आह्लाददायिनी होती है। इति। जैसे भा० १०-५३-२ में भगवान् का वचन है।

**श्लोकार्थ**—भगवान् ने कहा—हे ब्राह्मण देवता! जैसे विदर्भ राजकुमारी मुझे चाहती है, वैसे ही मैं भी उन्हें चाहता हूँ। मेरा चित्त उन्हीं में लगा है यहाँ तक कि मुझे रात को नींद तक नहीं आती। मैं जानता हूँ कि रुक्मि ने द्वेषवश मेरा विवाह उनसे रोक दिया है। इति।

**टीकानुवाद**—हे द्विज! मुझे रात को नींद तक नहीं आती है। इस पद्य में 'च' का अर्थ 'अपि' अर्थात् भी शब्द हुआ है। इस प्रकार प्रेमियों के जागने सोने के विषय में मधुर रतिकृत विपर्यय स्पष्ट ही है। इस विषय पर श्रीरूप गो० पाद का पद्यावली में उदाहरण है—

**श्लोकार्थ**—हथेली पर एक गाल को रखे हुए और निरन्तर बहते हुए आँसुओं से जिसका मुख भीग रहा है और जब से श्रीकृष्ण के मथुरा प्रस्थान मंगल दिन की बात सुनी है, उस कमल नयना को एक लव भर भी नींद नहीं आई है। इति।

**टीकानुवाद**—प्रियतम श्रीकृष्ण के मथुरा प्रस्थान का समाचार जानकर विरह के सन्ताप से श्रीराधाजी अत्यन्त क्षीण हो गईं और काम की वह चौथी दशा जो निद्रा छेद (भंग) रूप है, उसे प्राप्त हो गईं। उस विषम दशा का अपनी सखी के प्रति कोई सखी आँखों से अश्रु बहाते हुए और शीश धुनती हुई वर्णन करती है। यहाँ माधव शब्द का भी अभिप्राय है किसी समय उनका जन्म मधुवंश में भी सुना गया है अतः वे कठोर भी हैं। यदि ऐसा न होता तो उनका व्रज से अन्यत्र जाना सम्भव नहीं था। प्रस्थान ही हुआ मंगल, उसका दिन हुई वही अवधि—तब से लेकर। यहाँ प्रस्थान परम दुःखप्रद है, फिर भी उसका मंगल पद के साथ वर्णन इस बात का शुभ सूचक है, कि प्रेमवश वे फिर यहाँ आवेगे क्योंकि केवल प्रस्थान पद मंगल का प्रतियोगी अर्थात् अभाव द्योतक होता है। वह कोमल नेत्रा हैं तो भी उसे एक लव काल भी अर्थात् क्षणिक निद्रा भी कहाँ? यहाँ 'अपि' शब्द का चमत्कार पूर्ण अर्थ है—कमलों को रात्रि में मुकुलित

निद्रा नास्तीत्यपि शब्दार्थः । कीदृश्यास्तस्याः—हस्तोदरे हस्तस्य मध्ये विनिहितैककपोलपालेः वि विशेषेण चिरं निहिता एका कपोलपालिः कपोलस्थली ययेति तथा । इति स्वभावोक्तिरलङ्कारः । पुनः कीदृश्याः—अश्रान्तलोचनजलस्नपिताननायाः, अश्रान्तं निरन्तरं प्रवाहरूपाणि यानि लोचनयोर्जलानि तैः स्नपितं सर्वतो धौतमाननं मुखं यस्याः सा तस्याः । अत्र स्नपिताश्रान्तपदाभ्यामश्रूणां बहुत्वं व्यञ्जितम् । एवञ्च मधुररतिकृतोऽयं पूर्वोक्तयोर्विपर्ययः स्फुट एव ॥

**प्रह्लादसंहितायाञ्च—"भगवानपि गोविन्दः कन्दर्पशरपीडितः ।**
**न भुङ्क्ते न च स्वपिति चिन्तयन् वो ह्यहर्निशम् ॥" इति ।**

भगवानिति । "कच्चित्स्मरति नः साधो ! गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित्" । इत्यादि पृष्टवतीर्गोपसुन्दरीः प्रति श्रीमदुद्धववाक्यम् । भगवानैश्वर्यादिषड्गुणपरिपूर्णतया सततमस्मद्विधैरनुचिन्तितोऽपि वो युष्मान् अहर्निशं चिन्तयन् न भुङ्क्ते न च स्वपिति—इति तस्यापि तदवस्थत्वमुक्तम् । कीदृशः—कन्दर्पशरपीडितः । तत्र हेतुगर्भं विशेषणम्—यतो गोविन्दो गोकुलेन्द्रः । गोकुलवासिनामिन्द्रतया सततं तत्सङ्गवशात्परमप्रेमवान् जात इति भावः । एवं व्रजजनविषयकः कृष्णस्य मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्यासः स्फुट एव ॥

**यथा कस्याश्चित्—"याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि ! योषितः ।**
**अस्माकन्तु गते कान्ते गता निद्राऽपि वैरिणी ॥" इति ।**

---

(बन्द) होना रूप निद्रा आ जाती है परन्तु इनके नेत्र कमलों को तो रात में भी निद्रा नहीं आती है। अगले विशेषण से उनकी वियोग स्थिति का वर्णन है—हाथ की हथेली में एक कपोल रखे हुए हैं—इस प्रसंग में 'विनिहित.......' पद आया है उसमें 'वि' का अर्थ विशेष रूप से 'चिरं' लम्बे समय तक है। इसमें स्वभावोक्ति नाम का अर्थालङ्कार है। वियोगी जनों की यह वियोग मुद्रा है—(कि एक कपोल को हथेली पर रखना)। इस दूसरे विशेषण से यहाँ उनके भावी वियोग ताप की दशा का वर्णन हुआ है। 'अश्रान्तं' अर्थात् निरन्तर प्रवाह रूप से (बहता हुआ) जो नेत्रों का जल, उस से जिनका मुख चारों ओर से धुल रहा है। यहाँ 'स्नापित' और 'अश्रान्तं' पदों से अश्रुओं की बहुलता (अत्याधिक्य) व्यक्त हुई है। इस प्रकार मधुर रतिकृत यह पूर्वोक्त उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है। इति। गोपाङ्गनाओं को सान्त्वना देते हुए श्रीउद्धव कह रहे हैं—

**श्लोकार्थ**—वे गोविन्द भगवान् भी आप लोगों के प्रेम से सदा पीड़ित रहते हैं। वे न तो भोजन करते हैं न सोते हैं। रात दिन आप लोगों का ही चिन्तन करते रहते हैं। इति।

**टीकानुवाद**—गोपाङ्गनाओं के यह पूछने पर कि हे साधो ! किसी प्रसङ्ग में वे गोविन्द हमारा भी स्मरण करते हैं क्या ? इसके उत्तर में उनके प्रति श्रीउद्धव का वाक्य है। ऐश्वर्यादि षड-गुणों से परिपूर्ण वे भगवान् हम लोगों द्वारा निरन्तर सान्त्वना देते रहने पर भी आप लोगों का रात-दिन चिन्तन करते हैं। न वे भोजन करते हैं न सोते हैं। इस रूप से उनकी भी वैसी ही दशा वर्णन की गई—क्योंकि वे भी मनोभव पीड़ा से व्यथित हैं। यहाँ भगवान् का गोविन्द विशेषण हेतु गर्भ है जिसका अर्थ गोकुलेन्द्र है—भाव यह है कि वे गोकुलवासियों की सदा रक्षा करने के हेतु इन्द्र रूप हैं और सदा उनके संग निवास के कारण पर प्रेमी भी हैं। इस प्रकार व्रजवासियों और श्रीकृष्ण का यह—मधुर रतिकृत दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है—किसी अन्य कवि का पद्य प्रमाण में दिया है :—भगवान् के विप्रयोग में प्रेयसी गोपाङ्गनाएँ किसी तरह अपना समय विताती हैं उस पर एक कवि का कहना है—

**श्लोकार्थ**—हे सखि ! जो प्रेमवती स्त्रियें अपने प्रियतम का स्वप्न में दर्शन करती हैं वे धन्य हैं, परन्तु हमारे लिये तो निद्रा भी शत्रु हो गई, वह भी प्रियतम के जाते समय उनके साथ ही चल गई।

कदाचित् प्रियविरहस्फूर्तिमतीनां गोकुलयुवतीनां संसदि मयाद्य स्वप्ने ससखः सोत्सवः सायं वनाद् व्रजं प्रति व्रजन् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनोऽवलोकित इति वदन्तीं कामपि स्तुवन्ती काचिन्निपुणा स्वनिन्दयापि तस्याः परिमितप्रेमवत्तां व्यञ्जयति—याः पश्यन्तीति । याः प्रियं स्वप्ने पश्यन्ति ता धन्या इति स्तुतिव्याजेन निन्दैव, अस्माकन्तु कान्ते गते निद्राऽपि गतेति निजभाग्यनिन्दया निजस्तुतिरेव । ततो याः स्वप्ने पश्यन्ति ता निद्रावत्त्वेन परिमितप्रेमवत्य एव, यासां प्रियं विना निद्रा एव गता तास्तु परमप्रेमवत्य इति स्तुतिनिन्दाभ्यामेव व्यञ्जितम् । एवञ्चात्र कृष्णविषयकमधुररतिकृतोऽयमनिद्रत्वसनिद्रत्वयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ॥

**यत्र वियोग एव संयोगः ॥ यत्रेति । वियोगपदं प्रथमान्तं सप्तम्यन्तं वा ॥**

**तथाह जयदेवः—"पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तं त्वदधरमधुरमधूनि पिबन्तं ॥ नाथ ! हरे ! सीदति राधाऽऽवासे गृहे ॥" इत्यादि ।**

काचित्सहचरी निजप्रियसख्या विषमाद्भुतां विरहदशां कृष्णस्य पुरतो निवेदयति—पश्यतीति । दिशि दिशि प्रतिदिशं भवन्तमेव यत्र यत्र पश्यति तत्र तत्र भवन्तमेव पश्यति नान्यम् । तच्च रहस्येव न तु व्रीडया सखीनामपि संसदीति विरहस्याऽप्रतीकारत्वं व्यञ्जितम् । कीदृशम्—त्वदधरमधुरमधूनि पिबन्तं त्वच्छब्दोऽत्रान्यपर्यायः, 'त्वच्छब्दावन्यपर्य्यायौ' इति स्मरणात् । ततस्त्वत् त्वत्तोऽन्यस्या अधरमधूनि सर्व-

---

**टीकानुवाद**—किसी समय गोपाङ्गनाजनों को, श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर, उनकी विप्रयोग दशा में भी, उनका (साक्षात् जैसा) अनुभव होता रहता था । एक बार वे विप्रयोगवती एक स्थान पर इकट्ठी हुईं । उनमें से एक ने कहा, कि आज स्वप्न में अपने सखाओं के साथ बड़ी हर्ष मुद्रा में, वन से व्रज आते हुए श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त किया । यह बात सुनकर, कोई चतुर सखी, उसकी स्तुति और अपनी निन्दा भी करती हुई, उसके प्रेम की अल्पता का व्यञ्जन करती है—जो स्वप्न में अपने प्रियतम का दर्शन करती हैं वे धन्या है । यह स्तुति के बहाने से निन्दा ही हैं । हमारी तो प्रियतम के चले जाने पर निद्रा भी चली गई । इस प्रकार अपने भाग्य की निन्दा से अपनी स्तुति ही की और जो स्वप्न में दर्शन करती हैं—इससे यह सिद्ध होता है कि उन्हें नींद खूब आती है । अतः निद्रावती होने के कारण वे अल्प प्रेमवती है । परन्तु जिनकी प्रियतम के बिना निद्रा ही चली गई, वस्तुतः वे ही प्रेमवती हैं । ऐसा भाव स्तुति और निन्दा द्वारा व्यञ्जित होता है । इस प्रसंग में श्रीकृष्ण विषयक मधुर रतिकृत अनिद्रा और निद्रा—दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है । इति ।

**मूलानुवाद**—जहाँ वियोग ही संयोग अथवा वियोग में ही संयोग है—(वियोग को प्रथमान्त अथवा सप्तम्यान्त मान सकते हैं ।)

श्रीजयदेव का इस विषय में प्रमाण है—श्रीराधा की कोई एक सहचरी, अपनी प्रिय सखी की विषम और अद्भुत विरह दशा का श्रीकृष्ण के सामने निवेदन करती हैं—

**श्लोकार्थ**—वह (राधा) एकान्त में दिशा-दिशा अर्थात् चारों तरफ किसी अन्य का अधर मधु पान करते आपको ही देखती हैं । हे नाथ ! हे हरे ! श्रीराधा निकुञ्ज गृह में खिन्न हो रही है । इति ।

**टीकानुवाद**—प्रत्येक दिशा में वह आपको ही देख रही है अर्थात् जहाँ-जहाँ वह देखती है वहाँ-वहाँ केवल आपको ही और किसी को नहीं देखती हैं । वह भी एकान्त में न कि लज्जा के कारण सखियों के समूह में—इससे विरह की अप्रतीकारिता (उपाय रहितता) अर्थात् कोई उपाय नहीं है यह व्यक्त हुआ । 'भवन्तं' का विशेषण 'त्वदधर' इत्यादि—'त्वत्' शब्द अन्य पर्यायवाची है । ऐसा संकेत होने के कारण यहाँ 'त्वत्' का अर्थ अन्य है अर्थात् अन्य, और किसी नायिका के अधर मधु का, जो सर्व विस्मारक आसव के समान है—पान करते हुए वह आपको देखती है । इस रूप में—हे नाथ ! हे हरे ! संकेत गृह में वह राधा

विस्मारकान्यासवानि पिबन्तमेव पश्यतीत्यर्थः। नाथ! हरे! हे नाथ! हे हरे! राधा वासगृहे संकेतगृहे सीदतीति। अत्र 'नाथ हरे' इत्येकयैव सम्बुद्धया वैयाकरणैकवेद्यमाक्षेपमपि व्यञ्जयतीति सूक्ष्मदृशावधेयम्। एवं मधुररतिकृतोऽयं वियोगसंयोगविपर्य्यासः स्फुट एव॥

**पुनर्यथा स एव—"दृश्यसे पुरतो गतागतमेव मे विदधासि।**

**किं पुरेव ससम्भ्रमं परिरम्भणं न ददासि॥" इत्यादि।**

काचित्सहचरी विरहविवशतया कान्तप्रलपितं कान्तान्तिके कथयति—दृश्यस इति। प्रकट एवार्थः। एवं कान्तस्य कान्ताविषयकमधुररतिकृतोऽयं पूर्वोक्तयोर्विपर्य्यासः स्फुट एव। प्रायः सर्वमेवेदमष्टपदीद्वयमेतत्करणोदाहरणमेवेति ज्ञेयम्॥

**यथा वा—आदानपानलेपैः काश्चिद् गरलोपतापहारिण्यः।**

**सदसि स्थितैव सिद्धौषधिवल्ली काऽपि जीवयति॥ ७६॥**

कदाचित् पूर्वानुरागाक्रान्तस्वान्तया विषविषमविशिखवेदनाक्रान्तः कान्तः क्वचिदलङ्कृतसखीसंसदं कान्तां दूरादेवावलोक्य मनाग् मुदितमनाः सोत्कलिकमप्रस्तुतप्रशंसया सविनयं वृन्दामाह—आदानपानेति। अत्र पूर्वार्द्धे काश्चिदिति बहुवचनमुत्तरार्द्धे कापीत्येकवचनं क्रमेण तत्र तत्र विरलत्वमविरलत्वञ्च व्यञ्जयति। जीवयतीत्युक्तिः दर्शनं विना जीवनेतरतुल्यत्वं व्यञ्जयति। स्पष्टमन्यत्। अत्रापि मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव॥ ७६॥

---

खिन्न हो रही है। यहाँ नाथ—हरे इन दोनों शब्दों का एक सम्बोधन केवल व्याकरण शास्त्र के पंडितों के जानने योग्य आक्षेप को भी व्यक्त करता है यह बात सूक्ष्म दृष्टि से जाननी चाहिये इस प्रकार मधुर रति द्वारा वियोग-संयोग का विपर्यय यहाँ स्पष्ट ही है। इति।

पुनः श्रीजयदेवजी का वचन है—कोई सखी विरह विवश दशा में कान्त श्यामसुन्दर के प्रलाप को श्रीराधारानी के समीप जाकर कहती है—

**श्लोकार्थ एवं टीकानुवाद**—तुम मेरे सामने दीख रही हो। फिर सम्भ्रम पूर्वक पहले के समान परिरम्भन क्यों नहीं प्रदान करती हो। इस प्रकार श्रीकृष्ण की श्रीराधा विषयक यह मधुर रतिकृत पूर्वोक्त वियोग-संयोग का विपर्यय स्पष्ट ही है। प्रायः पूर्व प्रामाणित दोनों अष्टपदी समग्र रूप से इस प्रकरण में उदाहरण हैं। इति।

ग्रन्थकार का अपना वचन है—श्रीकृष्ण पूर्वानुरागवती प्रेमिका के प्रेम वियोग से खिन्न दशा में वृन्दा—सखी के प्रति कह रहे हैं—

**श्लोकार्थ**—कुछ विष दूर करनेवाली (अर्थात् विषवैद्या) ऐसी होती हैं जो आदान (झाड़ फूँक) पान और लेप से उस (विष) को दूर कर देती हैं। परन्तु यह तो कोई विलक्षण सिद्ध औषधि लता है जो सखी समाज में बैठी हुई भी विषाक्रान्त व्यक्ति को जीवित कर देती है। इति॥ ७६॥

**टीकानुवाद**—किसी समय श्रीकृष्ण, उस प्रेमिका के विष के समान काम बाण की वेदना से आक्रान्त हुए—जिसका अन्तःकरण पूर्वानुराग से विद्ध था। वे स्वयं उसका अन्वेषण करने गये तो दूर से ही देखा कि वह अपनी सखियों के समूह में सुशोभित हो रही है। इससे वे कुछ प्रसन्न हुए और उत्साहपूर्वक अप्रस्तुत (अप्रासंगिक) प्रशंसा से विनययुक्त वृन्दा से बोले—यहाँ पूर्वार्ध में 'काश्चित्' यह बहुवचन है और उत्तरार्ध में 'का' एक वचन, क्रम से विरलता और अविरलता का व्यञ्जन करता है और 'जीवयति' यह उक्ति दर्शन के बिना मृत्यु तुल्यता को व्यक्त करती है शेष स्पष्ट है। यहाँ भी यह मधुर रतिकृत उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है॥ ७६॥

यथा वा—

स्थितिमिह ललिता तेऽजानती पश्य राधे ! सुबलमतिबलेन त्वां विधायाभिसार्य्य ।
उदितनयनलास्यं सप्रसादं ममास्यं सलुठितमनु हास्यं कर्त्तुमारादुपैति ॥ ७७ ॥

कदाचिदलंकृतैकान्तसङ्केतनिकुञ्जमन्दिरः सजलजलदसुन्दरः श्रीवृन्दावनपुरन्दरः प्रेयसीविरह-विवशः प्रेममाध्वीकमदपरवशतया तदनुध्यानावेशविशेषाभिनिवेशेन श्रीवृन्दावनचक्रवर्तिनीं निजान्तिकवर्तिनी-मेव मन्यमानो मनाक् प्रमुदितमनाः क्षणान्तरे च स्वविरहविह्वलतामनुभावैरवगम्य स्वयमेव त्वरितं प्रस्थितां यथाकथञ्चित्तां प्रसाद्य, प्रसाध्य, अभिसार्य्य, यौवनमदमन्थरगतां शिरीषकुसुमसुकुमारतया मनागध्वश्रमतान्तां कान्तामनुगतां राधिकां शनैर्निजान्तिकमानयन्तीं ललितां दूरादेवावलोक्य विस्मितः सपुलकः स्वांसनिहित-निजभुजलतां तां मुधा राधामेव साक्षादिव पश्यन् सस्मितप्रलपितमाह—स्थितिमिति । ते—इति पदस्यो-भयत्र सम्बन्धः । ते ललिता त्वदादेशश्चापहाय स्वयमेव तां जीवयितुं करुणया समागता या इह मदन्तिके स्थितिमवस्थानमजानती ते त्वदीया प्रीतिप्रतीतिपात्रं वशीकरणकर्मणि कुशला वाम्योपदेशविशेषैकगुरुः परमप्रेष्ठसखी ललितेत्युपालम्भगर्गभितेन वचनेन दुर्दैवात् सहजसरलस्वभावतया अहं ते कस्यामपि गणनायां नेति ध्वनितम् । मम हास्यादिविडम्बनं सा प्रायस्त्वदनुमतेनैव विदधातीत्यनुध्वनिः । "यस्य यत्सङ्गतिः पुंसो मणिवत्स्यात्स तद्गुणः ।" इति न्यायेन तत्सख्यास्तव तथा निभृतवाम्याचरणं नानुचितमिति प्रत्यनुध्वनिः ।

---

ग्रन्थकार का पुनः वचन है—श्रीकृष्ण की पराकाष्ठा प्राप्त प्रेम प्रमोद से अद्भुत उन्माद दशा का इस पद्य में वर्णन हुआ है—

**श्लोकार्थ**—हे राधे ! आपको यहाँ विराजमान न जानकर, ललिता जोरा-जोरी सुबल को तुम्हारा रूप बनाकर, अभिसार क्रिया से यहाँ ला रही है जिससे मेरे नेत्र हर्ष से नाचने लगे, मेरा मुख प्रसन्नता से खिल उठा और हास्य के मारे मैं लोट-पोट होने लगूँ, ऐसा करने के लिये वह इस रूप में समीप आ रही है । इति ॥ ७७ ॥

**टीकानुवाद**—किसी समय श्रीकृष्ण सजे हुए एकान्त संकेत निकुञ्ज में विराजमान थे । वे जल पूर्ण श्याम मेघ के समान सुन्दर, श्रीवृन्दावन के इन्द्र, प्रियतमा के वियोग में विवश थे । प्रेम वारुणी के मद में परवशता के कारण उनके अनुध्यान-चिन्तन के आवेश विशेष के अभिनिवेश में श्रीवृन्दावनाधीश्वरी राधा रानी को अपने समीप ही मान रहे थे, और इससे कुछ प्रसन्न भी थे । क्षण भर में ही अपनी विरह विह्वलता को अनुभावों से जिस किसी तरह जानकर उन्हें यह बोध हुआ कि राधाजी हमारे समीप से जा रही हैं । तब अपने आप ही शीघ्र जाती हुई उनको जैसे-तैसे प्रसन्न करके, प्रसाधित (वेश रचना) करके तथा अभिसरण करके, यौवन मद से शिथिल बनी हुई प्रियतमा राधिका के पीछे आती हुई और धीरे-धीरे अपने समीप लाती हुई ललिता को दूर से ही देखकर बड़े विस्मित (पुलकित) हो गये । अपने कन्धे पर स्थापित अपनी भुजवाली उनको मोहवश साक्षात् राधा ही देखते हुए, मुस्कराहट के साथ प्रलाप करते बोले—'ते' इस पद का दोनों में सम्बन्ध है । यह ललिता, तुम्हारे आदेश के बिना ही अपने आप उसको जीवित करने के लिये कृपा परवश आई हुई एवं तुम्हारे प्रेम विश्वास की पात्र, वशीकरण कर्म में कुशल, वाम्यभाव का उपदेश देने में महा पंडिता, परम प्रेष्ठ सखी ललिता, यह उपालम्भ गर्भित वचन है इससे यह ध्वनित होता है कि मैं दुर्दैववश सहज सरल स्वभाववाला होने के कारण तुम्हारी किसी भी गणना में नहीं हूँ—मेरा हास्य आदि से विडम्बन प्रायः वह तुम्हारी अनुमति से ही करती रहती है यह यहाँ अनुध्वनि हुई—'यस्य.......' (जिस पुरुष की जैसी संगति होती है वह मणि की तरह वैसे ही गुणवाला हो जाता है) इस न्याय से उसकी सखी तुम हो, तुम्हारे लिये एक दम प्रतिकूल आचरण अनुचित नहीं है—यह प्रत्यनुध्वनि

सुबलं मत्प्रियनर्मसखं मत्सहचरत्वात्सरलस्वभावं निजनामार्थं सार्थयन्तमिव बलान्मोचितमणिबन्धं मित्र-प्रतारणमेवं मया न कदाचित्करणीयमिति द्वारान्मुहुर्वदन्तं मम शिर:शपथदापनादिलक्षणेनातिबलेन त्वां राधां विधाय, तं राधां कृत्वेत्यर्थः। सुबलं राधावेशं कृत्वेति भावः। पुनस्तमभिसार्य्य अभिसारं कारयित्वा त्वामिवानुगता सती आरान्निकटादेव सद्यस्तथा गमने निजकैतवाभिव्यक्तिभिया दूराद् वरसानोरुपत्यका-प्रदेशात्। "आराद् दूरसमीपयोः" इति विश्वः। उप अस्मत्समीपमेति आगच्छति, हे राधे! त्वं पश्येत्युक्तिः स्वसखीकैतवं त्वयैव द्रष्टव्यं तत्कौतुकस्य दर्शनीयतमत्वं वा व्यञ्जयति। ननु तर्हि "किञ्चित्प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते" इत्युक्तेर्महामतेस्तस्यास्तथोद्यमे किं प्रयोजनमित्यपेक्षायां निजान्तःकैतवाभिव्यञ्जनमेव प्रयोजनमित्याशयेनाह—ममास्यं मदीयं मुखं त्वामागतां तन्मुखान्निशम्य पूर्वं सप्रसादं प्रसन्नतासमवेतं पुनस्त्वामागतामवलोक्योदितनयनलास्यमुदितं नयनयोर्लास्यं नृत्यं यस्मिन् तत्तथा। अत्यन्तानन्देन नेत्र-योश्चापल्यं नृत्यत्वेनोत्प्रेक्षितम्। एतेन तया सह त्वदागमनेऽहमेवंभूतः सर्वदा भवामीति ध्वनितम्। त्वद्वियोगे प्रसादरहितमस्तनयनलास्यं ममास्यं भवतीत्यनुध्वनिः। एवमेव ललितां तदाज्ञाश्चानपेक्ष्य करुणया मुहुरागमनं विधेयमिति प्रत्यनुध्वनिः। एवंभूतं कर्त्तुमनु पश्चात् तत्कैतवाभिव्यक्त्यनन्तरं सलुठितम्। भावे निष्ठा। भूतललुठनसहितमिति हास्यविशेषणं वा। उपलक्षणञ्चैतत् मिथः करतलताडनभृकुटिताण्डवांगुष्ठचापल्या-दीनाम्। मम हास्यञ्च कर्त्तुम्, अतस्त्वं मां मदीयोऽयमिति मनसि मन्यसे चेत्तर्हि सविधमागतयोरनयोर-तर्कितमञ्चलग्रन्थिं निबध्य, निकुञ्जान्तर्निरुध्य ललिताम्, हास्यं तथैवावामपि करवावेति प्रार्थनं ध्वनितम्।

---

हुई। सुबल मेरे प्रिय नर्म सखा है—मेरा साथी होने से सरल स्वभाव है। उसको तुम्हारा रूप बनाकर जब वह लाने लगी, अपने नाम (सुबल) को सार्थक बनाते हुए उसने जबरदस्ती अपना हाथ छुड़ा लिया और कहा, मित्र के साथ ऐसी वंचना मैं कभी नहीं करूँगा। दरवाजे पर ही खड़े-खड़े वह ऐसी बातें करता रहा। परन्तु मेरे शिर की शपथादि दिलाकर बलपूर्वक उसको राधा बनाकर अभिसार पद्धति से तुम्हारी ही तरह पीछे चलती हुई, समीप होने से तुरन्त उसके गमन आदि से अपने छल का पता लग जायगा, इस भय से दूर से ही वरसाने की नीचे की भूमि से हम लोगों के समीप आ रही है। हे राधे! तुम देखो। यह उक्ति अपनी सखी के छल को तुम ही देखो अथवा यह कौतुक देखने ही लायक है—यह उक्ति इस बात को व्यक्त करती है। तो फिर किसी प्रयोजन के बिना अज्ञानी भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, इस न्यायानुसार महा बुद्धिमति, उसका यह उद्यम किस प्रयोजन से है ऐसी अपेक्षा होने पर अपने अन्तःकरण के छल का अभिव्यञ्जन ही प्रयोजन है इस आशय से कहते हैं—उसके मुख से तुम्हारा आना सुनकर मेरा मुख अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है, फिर तुमको आई देखकर नेत्रों में लास्य (नृत्य गति) उत्पन्न होता है। यहाँ अत्यन्त आनन्द के कारण नेत्रों की चपलता को नृत्य से उत्प्रेक्षित किया गया है। इससे यह ध्वनित हुआ कि उसके साथ तुम्हारे आने पर मैं सदा ऐसा हो जाता हूं, और तुम्हारे वियोग में प्रसन्नता के अभाव में नेत्रों की वह चपलता नष्ट हो जाती है यह अनुध्वनि हुई। मेरा मुख प्रसाद से रहित और इस प्रकार ललिता और उसकी आज्ञा की उपेक्षा करके, कृपा पूर्वक तुम बार-बार ऐसे ही आया करो यह प्रत्यनुध्वनि हुई। ऐसा करने के पश्चात् अर्थात् उसका छल खुल जाने के बाद 'सलुठितम्' से यहाँ भाव में निष्ठा सूचित हुई। 'सलुठितम्' का अर्थ है भूमि पर लोट-पोट होना, यह हास्य का विशेषण है अथवा क्रिया का विशेषण भी। परस्पर ताली का बजाना, भृकुटी का नचाना, अँगूठों का चलाना आदि हास्य स्थिति के उपलक्षण हैं। ललिता की यह छल क्रिया मेरे साथ हास्य करने के लिये है। इसलिये यदि तुम मुझे मदीय—यह मेरा है ऐसा मन में समझती हो तो उन दोनों (ललिता सुबल) के समीप आने पर, उनको पता ही न लगे, उनके अञ्चलों में गाँठ बाँधकर निकुञ्ज में ललिता को रोक कर, अपने (हम) दोनों भी वैसे ही उनका हास्य करें, यहाँ ऐसी प्रार्थना की ध्वनि हुई। यह मधुर रतिकृत दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है। श्रीराधा वाम स्वभावा

मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्ययः स्फुट एव । श्रीराधाया वामप्रकृतितया मधुरस्नेहाधारतया प्रेयसि मदीयतामयप्रणयाश्रयतया ललितावशेति संप्राप्तप्रसिद्धाऽभिधानतया च ललितां तदनुमतिं वा विना स्वतः सहसा प्राणप्रेयसोऽपि तस्य सविधे गमनं सम्भावितमिति पुनर्ध्वनिव्यञ्जनादिविशेषाऽऽविर्भावाभावात्साधारणमर्थान्तरमुपेक्षितमित्यनुसन्धेयमत्र काव्यज्ञरसज्ञशिखामणिभिर्विद्वद्वरैः ॥ ७७ ॥

**यथाह लीलाशुकः कर्णामृते—**

**"हे देव ! हे दयित ! हे भुवनैकबन्धो ! हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो !**
**हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम ! हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे ॥" इति**

कदाचित् काचित् कान्तविरहविवशा नवमदशाशय्यायां क्षणं विश्रम्य, पुनरुत्थाय, दिशोऽवलोक्य, अयि सख्यः ! नूपुरशब्दः श्रूयते, स च न दृश्यते, तदत्र कुञ्जे कयापि रममाणः शठोऽयं तिष्ठतीति वदन्त्याः पुनरुन्मादावेशादन्यसम्भोगचिन्हाङ्कं तमागतं पुरः पश्यन्त्यास्तं प्रत्यमर्षोदयः, पुनर्गतमिव गत्वा जातपश्चात्तापादौत्सुक्योदयः, अतस्तयोः सन्धिः । तल्लक्षणम् "सरूपयोर्भिन्नयोर्वा सन्धिः स्याद्भावयोर्युतिः" इति । "अधिक्षेपापमानादेः स्यादमर्षोऽसहिष्णुता" इति । "कालाक्षमत्वमौत्सुक्यमिष्टेक्षातिस्पृहादिभिः" इति ।

---

है, मधुर स्नेह की आधार है, उनका प्रेम केवल मदीयता मय—एक मात्र मेरा ही आश्रय रखता है—ललिता के अधीन है उसका ऐसा नाम प्रसिद्ध हो गया है । इसी से उसका ललिता अथवा उसकी अनुमति के बिना अपने आप एकाएक प्राण से अधिक प्रिय उस (श्रीकृष्ण) के समीप जाना असम्भावित भी सम्भावित है । इस प्रकार फिर ध्वनि व्यञ्जना आदि विशेष आविर्भाव के बिना, साधारण अर्थान्तर उपेक्षित है, ऐसा अनुसन्धान कवि, रसज्ञ शिरोमणि विद्वज्जनों को यहाँ समझना चाहिये ॥ ७७ ॥

जैसे श्रीलीलाशुक ने कर्णामृत श्लोक ४० में कहा है—मधुर रस के रसिक प्रेमी—भावारूढ रसास्वाद पद्धति की दृष्टि से रस प्रक्रिया का किस प्रकार (प्रलाप द्वारा भी) आस्वादन करते हैं श्रीराधारानी के इस प्रलाप द्वारा इस पद्य से प्रकट है—

**श्लोकार्थ**—हे देव ! (लीला रस विलासी) हे प्रियतम ! हे त्रिभुवन के एक मात्र निजबन्धु ! हे कृष्ण ! (सब के मन प्राण को आकर्षित करनेवाले)—हे चपल (स्वतन्त्र विहारी) हे करुणा के महासागर ! हे सबके स्वामी प्राणपति ! हे आत्म रमण ! हे नयनों के तारे । आह पता नहीं कब इन नयनों को आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होगा । इति । (इस पद्य की विस्तृत व्याख्या ग्रन्थकार द्वारा की गई जो आगे देखिये—)

**टीकानुवाद**—किसी समय कोई प्रियतमा—प्रियतम के वियोग की दशा में विवश, प्रेम की नवमी दशा के प्रभाव से क्षण भर शय्या में विश्राम करके फिर उठी । चारों ओर दिशाओं में दृष्टि डाली और बोली—हे सखियो ! नूपुर शब्द तो सुनाई पड़ रहा है पर वह (प्रियतम) नहीं दीखते, सो मालूम होता है यहाँ कुञ्ज में वह शठ किसी के साथ एकान्त विहार कर रहा है । ऐसा कहते-कहते फिर उसे उन्माद (प्रेमवेश) हो गया । उस आवेश में श्रीकृष्ण को किसी अन्य के सम्भोग चिन्हों से युक्त अपने सामने आया देखा और उसके प्रति उसको अमर्ष उत्पन्न हो गया । फिर उसे ऐसा लगा—कि वह तो चला गया तब उसको पश्चात्तापवश उत्सुकता का उदय हुआ और इस प्रकार यहाँ इन दोनों भावों की सन्धि है । इनके लक्षण हैं कि भावों का योग ही संधि कहाता है वह समान रूप वालों का हो या भिन्न रूपवालों का भी—अमर्ष—अधिक्षेप (डाट-फटकार) अथवा अपमान आदि से जो असहिष्णुता उत्पन्न होती है उसका नाम अमर्ष है—औत्सुक्य—प्रियतम के दर्शन निमित्त अति स्पृहा आदि का प्रकट होना और उसमें विलम्ब न सहन होना—औत्सुक्य है । दो भावों के अन्योन्य आश्रयवश जो भावों की शबलता होती है वही भाव

तथा तावेव भावावाश्रित्य भावशाबल्यञ्च "शबलत्वन्तु भावानां संमर्दः स्यात्परस्परम्" इति। अत्रामर्षानुरागासूयौदग्रचावहित्थौत्सुक्यानुगामिमतिदैन्यचापलानि उन्मादोद्गताभ्यां भावसन्धिभावशावल्याभ्यां प्रलयमित्याह—अन्याङ्गनासम्भुक्तं तं मत्वा मर्षोदयात्सहसा निजधीराधीरमध्यात्वगुणमाश्रित्य सवाष्पं वक्रोक्त्या सम्बोधयति—अन्याभिः सह दीव्यसीति देवस्तत्सम्बुद्धौ हे देव ! अतस्त्वं तत्रैव गच्छेत्यर्थः। तल्लक्षणम्—धीराधीरा तु वक्रोक्त्या सवाष्पं वदति प्रियम्" इति। तदैवावधीरणाद् गतमिव तं मत्वा जातपश्चात्तापात्तद्दर्शनौत्सुक्येनाह—हे दयित ! त्वन्तु प्राणादपि दयितोऽसि, कथं त्यक्ष्यसे ? तत्पुनर्दर्शनंदेहीत्यर्थः पुनरागत्यानुनयन्तमिव तं मत्वा अमर्षानुरागासूयोदयाद् धीरमध्यात्वमाश्रित्य वक्रोक्त्या सोल्लुण्ठमाह—हे भुवनैकबन्धो ! तवात्र को दोषः ? न केवलं ममैव सर्वगोपीनामपि किमुत तासामेव वेणुनादाकृष्टानां भुवनानां तदन्तर्गतस्त्रीणामपि बन्धुरसि तत्समाधानार्थं गच्छेत्यर्थः। तल्लक्षणम्—"धीरा तु वक्ति वक्रोक्त्या सोल्लुण्ठं सागसं प्रियम्"। इति। पुनर्गतमिव मत्वौत्सुक्यानुगतमत्याख्यभावोदयादाह—हे कृष्ण ! हे श्यामसुन्दर ! चित्ताकर्षक ! चित्तं त्वया हृतम् किं मे मानेन ? तत् सकृदपि दर्शनं देहीति भावः। पुनरागत्य प्रिये ! मया बहिरेव स्थितं न कुत्रापि गतं प्रसीदेत्यनुनयन्तमिव मत्वा औग्रचोदयादधीरमध्यात्वगुणमाश्रित्य सरोष-

---

शाबल्य है। जैसा कि कहा है—'भावों का परस्पर सम्मर्द' अर्थात् टकराना ही शबलत्व है। यहाँ अमर्ष, अनुराग, असूया, औदग्रच, अवहित्था, औत्सुक्य, अनुगामिमति, दैन्य और चापल्य आदि विशेष द्रष्टव्य है। (टि—यह सब विस्तार से भ० र० सिन्धु के दक्षिण विभाग की चतुर्थ व्यभिचारी भाव लहरी में देखने योग्य हैं)।

उन्माद से उत्पन्न हुए भाव सन्धि और भाव शावल्य से प्रलय उदित होता है। अन्य अङ्गना से सम्भुक्त उन (प्रियतम) को समझ कर अमर्ष का उदय हो जाने से भी वह सहसा अपने में धीरा, अधीरा और मध्या नायिका के गुणों का आश्रय लेकर डबडबाई आँखों से वक्रोक्ति द्वारा सम्बोधन करती है। (टि—नायिका भेदों का विस्तार से वर्णन उज्ज्वल नीलमणि के नायिका भेद प्रकरण ३७ में देखिये)।

हे देव ! अर्थात् अन्य प्रेमिकाओं के साथ क्रीड़ा करनेवाले—ऐसी स्थिति में तुम वहीं जाओ यह भाव निकला। यह बात कहनेवाली धीराधीरा नायिका कहाती है—उसका लक्षण है—'जो नेत्रों में अश्रु भरकर वक्रोक्ति द्वारा प्रियतम से वार्त्तालाप करती है।'

ऐसी अवधीरणा (अनादर) के कारण मानो 'वे चले गये' ऐसा समझकर उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ तथा दर्शन की परम उत्कण्ठा से बोली—हे दयित ! तुम मुझे प्राण से भी अधिक प्रिय हो मुझे क्यों छोड़ रहे हो फिर दर्शन दो। मानो उसकी ऐसी बात सुनकर वे फिर आ गये हों ऐसे भाव में अनुनय करने लगे—ऐसा समझ कर, उसे अर्मष, अनुराग और असूया का उदय हो गया और 'धीरमध्या' नायिका भेद का आश्रय लेकर वक्रोक्ति से उपहास करती बोली—हे भुवनैकबन्धो ! तुम्हारा यहाँ क्या दोष है क्योंकि तुम न केवल मेरे ही—किन्तु समस्त गोपीजनों के ही—यहाँ तक कि उन्हीं के क्या, वेणुनाद से आहूत समस्त भुवनों के अन्तरगत स्त्रीमात्र के बन्धु हो इसलिये उन्हीं के समागम को चले जाओ। उसका लक्षण यह है 'धीरा अपराधी प्रिय के प्रति उपहास पूर्वक वक्रोक्ति से बात करती है। (उ० नी० म० ना० भे० ३४) वह धीरमध्या नायिका है। फिर प्रियतम को गया हुआ समझकर औत्सुक्यानुगत नायिका भाव का उदय हो जाने पर बोली—हे कृष्ण ! हे श्यामसुन्दर ! हे चित्ताकर्षक चित्त को तुमने हरण कर लिया, मुझे मान से क्या प्रयोजन ? अतएव एक बार तो दर्शन दो। इसके बाद तुरन्त ही उसे यह भाव हुआ कि वे लौट आए हैं और मुझसे कह रहे हैं—हे प्रिये मैं कहीं गया नहीं केवल बाहिर ही बैठा था तुम प्रसन्न हो जाओ मानो वे इस प्रकार अनुनय कर रहे हों—ऐसा समझकर, फिर औग्रच भाव का उदय हो जाने पर 'अधीर मध्या' नायिका के गुण का आश्रय लेकर रोपपूर्वक बोली—हे चपल ! गोपी समूह के विट ! पुरस्त्री चोर !

माह—हे चपल ! वल्लवीवृन्दभुजङ्ग ! पुरस्त्रीचौर ! गच्छ गच्छत्यर्थः तल्लक्षणम्—"अधीरा परुषैर्वाक्यैर्निरस्येद्वल्लभं रूषा"। इति।

पुनर्गतमिव मत्वा हन्त अवधीरणातोऽयं पुनरत्र नेष्यतीति दैन्योदयात् सकाकु प्राह—हे करुणैकसिन्धो ! यद्यप्यहमपराधिनी तथापि त्वं स्वस्य करुणाकोमलत्वाद् दर्शनं देहीत्यर्थः। पुनरागत्य प्रिये ! किमिति मुधा मानेन कदर्थयसि ? प्रसीद इत्यनुनयन्तमिव मत्वाऽमर्षानुगोवहित्थोदयाद् धीरप्रगल्भागुणमाश्रित्य सौदासीन्यमाह—हे नाथ ! त्वं तु व्रजवासिनां गोरक्षितासि, का नाम हतधीस्त्वां नामिभाषेत ? किन्तु ब्राह्मणीभिर्व्रतार्थं मौनं ग्राहितास्मि, तत् क्षन्तव्योऽयं ममापराधः। तल्लक्षणम्—"उदास्ते सुरते धीरा सावहित्थश्च सादरा"। इति।

पुनर्गतमिव मत्वा मुहुर्निरस्तोऽसौ नायास्यत्येवेति चापल्योदयाद् यदि कृपया पुनर्दर्शनं ददाति तदा स्वमेव ते कण्ठे ग्रहीष्यामीति सदैन्यमाह—हे रमण ! सदा मां रमयसीति रमणस्त्वमिदानीमप्यागत्य तथा कुर्वित्यर्थः। पुनरागतं मत्वा तिरस्कृतागन्तुकामर्षभावेन प्रबलसहजौत्सुक्येनाक्रान्तमनस्तया तदाश्लेषाय प्रसारितबाहुयुगला तमलब्ध्वा जातबाह्यस्फूर्तिः सविक्लवमाह—हे नयनाभिराम ! नयनानन्दन ! त्वद्दर्शनमन्तरा न कदाचिदपि मे नयनयोरानन्दोत्पत्तिसम्भवः। अतो झटित्येवागत्य नेत्रे आनन्दय। एतदेव प्रार्थयते—कदा नु मे दृशोः पदं भवितासि ? कदा कस्मिन् काले मे मम दृशोर्नेत्रयोः पदं गोचरो भवितासि भविष्यसीति। हा हा—इत्यव्ययमतिखेदे। मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्ययः। व्याख्यानमिदं श्रीकृष्णदास-

---

—जाओ-जाओ उसका लक्षण—'जो कठोर वाक्यों द्वारा (क्रोध से) प्रियतम को अपने पास से हटा दे' यह अधीर मध्या नायिका है (उ० नी० म० ना० भे० ३६) मानो उनको चला गया जानकर सोचने लगी अहा बड़ा खेद है कि मुझ से उनका बड़ा अपमान हुआ अब फिर वे यहाँ नहीं आवेंगे, इससे तुरन्त उसे दैन्य भाव का उदय हुआ और काकु ध्वनि (कातरोक्ति) से बोली—हे करुणैक सिन्धो ! यद्यपि मैं अपराधिनी हूँ तथापि तुम अपनी करुणा के कारण सहज कोमल हो इसलिये दर्शन दो। उसको अब भाव हुआ कि फिर आकर कह रहे हैं—हे प्रिये ! क्यों वृथा मानवश अपने आप दुःखी हो रही हो ? प्रसन्न हो जाओ। मानो ऐसा अनुनय करते हुए प्रियतम को समझकर अमर्ष के अवहित्था भाव का उदय हो गया और 'धीर प्रगल्भा' गुण का आश्रय लेकर उदासीनता के साथ बोली—हे नाथ ! तुम तो व्रजवासियों की गौओं की रक्षा करनेवाले हो, वह कौन बुद्धिहीन होगी जो तुम्हारे साथ बात-चीत करे ? ब्राह्मणियों ने व्रत के निमित्त मुझे मौन ग्रहण करा दिया है। इसलिये इस अपराध को क्षमा करो। ऐसी 'धीर प्रगल्भता का लक्षण'—'जो अवहित्था (आकार गोपन) के साथ आदर से सुरत काल में उदास वनी रहे'। (उ० नी० म० ना० भे० ५१) मानो उसे फिर ऐसा लगा कि वे बार-बार अपमानित हुए हैं अब आवेंगे ही नहीं इस प्रकार चपलता का उदय हुआ और सोचने लगी—यदि कृपा वश उन्होंने अब फिर दर्शन दिया तो अपने आप ही उन्हें गले से लगा लूँगी इस भाव से दीनता पूर्वक बोली—हे रमण ! तुम सदा मुझे रमण कराते हो इसी हेतु तुम रमण हो सो अब भी आकर वैसा ही करो। फिर अकस्मात् उसे भाव उदय हुआ कि वे फिर आ गये हैं। ऐसा समझकर, उदय होनेवाले अमर्ष भाव का तिरस्कार हो गया और प्रबल स्वाभाविक उत्सुकता से उसका चित्त भर गया और उसने उनके आलिङ्गन के निमित्त दोनों भुजा पसारीं (आगे फैलाईं) परन्तु उनको न प्राप्त करके सहसा अपनी वहिरंग दशा का बोध हुआ और बड़ी घबड़ाहट से बोली—हे नयनाभिराम ! हे नयनानन्दन ! तुम्हारे दर्शन के बिना मेरे नेत्रों को कभी भी आनन्द सम्भव नहीं है। अतएव शीघ्र ही आकर मेरे (प्यासे) नेत्रों को आनन्दित करो इस प्रकार प्रार्थना करती है। आप मेरे इन नेत्रों के सामने कब प्रकट होकर दर्शन दोगे ?। हा हा—यह अव्यय अत्यन्त खेद अर्थ में है। इस प्रकार मधुर रतिकृत यह वियोग-संयोग दोनों का वैपरीत्य हुआ है। इस पद्य की यह व्याख्या कविराज श्रीकृष्णदास महाशय

कविराजमहाशयानाम् । अत्र लिखितमपि पद्यमिदमन्वयव्यतिरेकात्मकत्वात् प्रकरणान्ते ज्ञेयम् ॥

**तथैव चैतन्यचरितामृते—बाष्पव्याकुलितारुणं चलचलन्नेत्रं रसोल्लासितं**
**हेलोल्लासचलाधरं कुटिलितभ्रू युग्ममुद्यत्स्मितम् ।**
**राधायाः किलकिञ्चिताञ्चितमसौ वीक्ष्याननं सङ्गमा-**
**दानन्दं तमवाप कोटिगुणितं योऽभून्न गीर्गोचरः ॥" इति ।**

बाष्पेति । अत्र किलकिञ्चितवर्णने साक्षादसङ्गमेऽपि सङ्गमादपि कोटिगुणितं सुखमवापेति मधुर-रतिकृतमिदं तयोर्वैपरीत्यम् ॥

**यथा वा—स्फुरति स एव हि परितः सदननिरोधोऽपि मे मुधैवालि ! ।**
**तस्मिन् वसति मनो मे मनसि मनोमोहनः सदा वसति ॥ ७८ ॥**

परमरूपवती युवती मम तनयवधूरियं येन केनापि व्याजेन बहिर्निःसृत्य आनन्दराशिं व्रजेन्द्रनन्दनं सानुरागं विलोकयतीति कयापि श्वश्रूम्मन्ययाऽन्तःसदने निरुद्धा काचित्पूर्वरागवती निजप्रियसखीं प्रति सकरुणं सबाष्पं स्वसङ्कटं विशदयति--स्फुरतीति । हे आलि ! नाहं तमवलोकयामि, स एव मम परितः स्फुरति। यत्र यत्र मम नेत्रं पतति तत्र तत्र स एव दृश्यते । हा किं करोमि ? पुनरयं तया जरत्या कृतो मे मम सदन-निरोधोऽपि गृहान्तर्निरोधोऽपि मुधा वृथैव । तत्र हेतुः--शास्त्रेषु परमदुर्जयतया ख्यातमव्रीडं मत्पार्श्वतोऽपगतं

---

ने की है । यहाँ यद्यपि यह पद्य उद्धृत किया गया है तथापि अन्वय व्यतिरेकात्मक होने से प्रकरण के अन्त में समझना चाहिये । इति । इसी प्रसंग का पद्य चैतन्य चरितामृत में भी है—

**श्लोकार्थ**—श्रीकृष्ण, श्रीराधारानी के मुख का दर्शन करके अत्यन्त आनन्द मग्न हो गये, उन राधा का मुख प्रेमामृत की छकन से व्याकुलतावश कुछ अरुण हो रहा था । नेत्र चंचल हो रहे थे—मधुर रस की महिमा से वह उल्लासमय था । उनका अधर उत्कण्ठा के उल्लास से कुछ स्फुरित हो रहा था—दोनों भृकुटी बङ्क भाव से अपनी विलक्षण शोभा विस्तार कर रही थीं—उनके मुख पर मनोहर मुस्कराट विराज रही थी—इस प्रकार वह रसात्मक 'किलकिञ्चित्' भाव से पूर्ण था । उनके ऐसे मुख मण्डल का दर्शन करके श्रीकृष्ण को उनके संगम से भी कोटि गुणा अधिक आनन्द प्राप्त हुआ जिसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता ।

**टीकानुवाद**—यहाँ इस 'किलकिञ्चत् .......' भाव के वर्णन करने के प्रसंग में यह बात कही गई है कि यहाँ साक्षात् संगम के बिना भी—उसकी अपेक्षा दर्शन से कोटि गुणा सुख प्राप्त हुआ—यहाँ भी मधुर रतिकृत दोनों का विपर्यय हुआ है । इति । जैसा कि ग्रन्थकार का पद्य सं० ७८ है—

**श्लोकार्थ**—कोई सखी अपनी प्रिय सखी से कहती है—हे आलि ! सासु द्वारा मेरे को घर में बन्द कर दिये जाने पर भी—वे प्रियतम तो सदा मेरे चारों ओर स्फुरित होते रहते हैं इसलिये उसका बन्द करना वृथा ही है । मेरा मन उन प्रियतम में और उन मनमोहन का मन मेरे में सदा निवास करता है ॥ ७८ ॥

**टीकानुवाद**—यह मेरे पुत्र की युवती बहू बहुत सुन्दरी है । जिस किसी भी बहाने बाहिर निकल कर, उन आनन्द कन्द व्रजेन्द्र नन्दन को अनुराग पूर्वक कहीं देख न ले, इसीलिये अपने को झूठमूठ सासु समझती हुई किसी ने उसे घर में बन्द कर रखा । इस प्रकार बन्द हुई अश्रु बहाती करुणावश वह कोई पूर्वानुरागवती, अपनी प्रिय सखी के प्रति अपने दुःख को कह रही है—हे सखि ! मैं उसको नहीं देख पाती किन्तु वह ही मेरे चारों ओर स्फुरित होते रहते हैं । जहाँ-जहाँ मेरी दृष्टि जाती है वहाँ-वहाँ वही दीखते

मनो मया बहुधा निरुद्धमपि तस्मिन्नेव वसति। किञ्च, स मम मनोमोहनः। मे मनस्येव सदा वसतीति सर्वथा मनसो नष्टत्वं व्यञ्जितम्। मोहनस्य तस्करस्य तत्रैव निवासात् तस्याप्यद्भुतत्वं व्यञ्जितम्। एवं मधुररतिकृतोऽयं पूर्वोक्तयोर्विपर्यासः स्फुट एव ।। ७८ ।।

**भ्रमर गीतेऽपि एवंविधान बहून्युदाहरणानि ।।**

भ्रमरेति। "मधुप ! कितवबन्धो !" इत्यादिसर्वाण्येव श्रीरूपगोस्वामिचरणैरुज्ज्वलनीलमणौ चित्रौज्ज्वल्योदाहरणे लिखितत्वात् तद्व्याख्यानुसारेण तेषां मध्ये वियोग एव संयोगः स्फुट एव तासां मधुररतिकृतः ।।

**यत्र संयोग एव वियोगः ।। यत्र संयोग इति। अत्रापि संयोगपदं प्रथमान्तं सप्तम्यन्तं वा ।।**

**तथा—भा० १०-९०-१५—"कुररि ! विलपसि त्वम्" इत्यादीनि बहून्युदाहरणानि ।।**

कुररीति। तैर्व्याख्यातमेव। कृष्णविषयकसमञ्जसरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्ययः स्फुट एव। व्यतिरेकोक्तिस्तु पूर्ववदेव ज्ञेया ।।

**यथा वा—दयितान्तिके रहस्यपि विसृजति विरहो न सखि ! ममानुगतिम्।**

---

हैं—क्या करूँ ? फिर इस बुढ़िया ने जो—यह मेरा घर में निरोध कर दिया है यह भी वृथा ही है। उसमें कारण यह है कि शास्त्रों में जो परम अजेय रूप से प्रसिद्ध है, वह निर्लज्ज मन बहुत रोके जाने पर भी मेरे हाथ से निकल कर वहीं निवास करता है। एवं वह प्रियतम मेरे मन को मोहित करने वाले हैं अतः मेरे मन में ही सदा निवास करते हैं। इससे मन का नाश व्यक्त हुआ—और उस मोहन अर्थात् तस्कर का सर्वथा वहीं निवास होने के कारण उसकी अद्भुतता व्यञ्जित हुई। इस प्रकार मधुर रतिकृत यह दोनों का वैपरीत्य स्पष्ट ही है। इति ।। ७८ ।। भागवत भ्रमर गीत में इस प्रकार के बहुत से उदाहरण हैं—

**टीकानुवाद**—'मधुप.......' इत्यादि श्रीरूप गो० पाद ने उन सबके अपने उज्ज्वल नीलमणि काव्य में चित्रोज्ज्वल उदाहरण दिये हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार वहाँ वियोग में ही संयोग स्पष्ट हुआ है इस प्रकार उन गोपियों का मधुर रति से वैसा विपर्यास हुआ। इति।

**मूलानुवाद**—जहाँ उस प्रेम नगर में संयोग ही वियोग माना जाता है—यहाँ संयोग पद प्रथमान्त अथवा सप्तम्यन्त प्रयुक्त है अर्थात् संयोग ही वियोग अथवा संयोग में ही वियोग जैसे भा० १०-९०-१५ में द्वारका महिषयों का वचन है और भी बहुत उदाहरण हैं—

**श्लोकार्थ**—द्वारिका की रानियाँ कहती हैं—अरी कुररी ! अब तो बड़ी रात बीत गई। संसार में सब ओर सन्नाटा छा गया है। देख, इस समय स्वयं भगवान् अपना अखण्ड बोध छिपा कर सो रहे हैं और तुझे नींद भी नहीं आती ? तू इस तरह रात-रात भर जागकर विलाप क्यों करती है ? सखी ! कहीं कमल नयन भगवान् के मधुर हास्य और लीला भरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी तरह बिन्ध तो नहीं गया है ? ।। १५ ।।

इसकी व्याख्या श्रीधरस्वामी पाद ने भी की हुई है। श्रीकृष्ण विषयक समञ्जसा रतिकृत यह दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है। इसमें जो व्यतिरेक उक्ति है वह पूर्ववत जाननी चाहिये। इति।

ग्रन्थकार की अपनी उक्ति भी है—पद्य सं० ७९—कोई सखी प्रेयसी नायिका को प्रियतम के कुंज द्वार तक पहुँचाकर लौट रही थी, उस समय वह अपने प्रेम की बात सखी के प्रति वर्णन करती है।

**श्लोकार्थ** ७९—हे सखि ! प्रियतम के समीप में और एकान्त में भी यह विरह मेरा पीछा नहीं छोड़ता। बड़ा खेद है मेरा मन पलक गिरने के बहाने मुझे परम व्याकुल कर देता है ।। ७९ ।।

**टीकानुवाद**—कोई अभिसारिका प्रियतम के निवास कुञ्ज तक पहुंचा कर, जाना चाह रही,

**मानसमहह मदीयं निमिषमिषेणालमाकुलीकुरुते ।। ७९ ।।**

काचिदभिसारिका दयितसेवितस्य कुञ्जस्य द्वारान्तः प्रवेश्य गन्तुकामां सहचरीं प्रति विरह-वृत्तान्तवर्णनव्याजेन प्रियविषयकं स्वप्रेमातिशयं व्यञ्जयति—दयितान्तिक इति। हे सखि ! त्वमेतावत्-पर्य्यन्तमेव मामनुगतासि, अयं विरहस्तु मया सह अतीव सख्यं विदधाति, यतो दयितस्यान्तिके निकटे तत्रापि रहसि सुतरामेकान्तेऽपि ममानुगतिमनुगमनं न विसृजतीति विरुद्धलक्षणया स्तुतिव्याजेन निन्दैव। तामेव विशदयति—अहह इति खेदे। निमिषमिषेण पक्ष्मयत्नान्तरायमिषेण विरह एवायं तत्रापि मदीयं मानसमलमत्यर्थमाकुलीकुरत इति तस्य स्वप्रयोजनसाधकत्वादात्मनेपदप्रयोगः। एवं मधुररतिकृतमिदं तयोर्वैपरीत्यं स्फुटमेव ।। ७९ ।।

**यथा वा—**

**इह न मम वयस्या दूषणं पश्यतास्याः प्रियपरिजनवद्याऽऽयाति कान्तान्तिकेऽपि ।**
**प्रियपरिमलभीतोऽलज्जया हन्त नीतो निजवपुषि विनीतो लज्जया विप्रलम्भः ।।८०।।**

काचित् परमप्रेयसी बहिरन्तः प्रियविरहसंवीता सखीभिः प्रसाध्य प्रियान्तिकं नीतापि व्रीडयाऽव-नतमुखी प्रियसम्मुखमनवलोकयन्ती सखीभिरुपदिष्टा शनैस्ताः प्रत्याह—इह न ममेति। हे वयस्याः ! इह भवद्वचनोल्लङ्घने मम दूषणं न, किन्तु अस्या लज्जाया एव। तद्यूयं पश्यत। दूषणपदस्य देहलीदीपन्यायेनो-भयत्र सम्बन्धः। कीदृश्या लज्जायाः—या मम परमविश्रम्भभाजनतया प्रियपरिजनवत् प्रियश्चासौ परिजनः। सखीजनस्तद्वत् प्रियान्तिकेऽपि कान्तस्य निकटे रहस्यपि आयाति। तद्दूषणं विशदयति—यया लज्जया विप्रलम्भो 'वियोगो निजवपुषि नीतः सङ्गोप्य स्थापितः। कीदृशो विप्रलम्भः—प्रियपरिमलभीतः प्रियस्य

---

सहचरी के प्रति अपने विरह वृत्तान्त वर्णन के बहाने प्रिय विषयक अपने प्रेमाधिक्य का व्यञ्जन करती है—हे सखि ! तुम तो यहाँ तक मेरे साथ आई हो परन्तु वह विरह तो मेरे साथ बहुत अधिक मैत्री रखता है—क्योंकि प्रियतम के निकट, उसमें सर्वथा एकान्त में भी मेरा अनुगमन नहीं छोड़ता। यह विपरीत लक्षण से स्तोति के मिस से निन्दा ही है—उसको स्पष्ट करती है। अहह ! यहाँ खेद अर्थ में है। पलक गिरने के विधा के बहाने यह विरह ही वहाँ भी मेरे मन को बहुत अधिक व्याकुल कर देता है। यहाँ 'कुरुत' में आत्मने पद का प्रयोग उसके अपने प्रयोजन का साधक है अर्थात् क्रिया का फल और व्यापार नायिका रूप कर्त्ता में ही है। इस प्रकार मधुर रतिकृत यह दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है ।। ७९ ।। ग्रन्थकार की और भी उक्ति प्रमाण में हैं—पद्य सं० ८०—

**श्लोकार्थ**—हे सखियो ! आपके वचन का उल्लंघन करने में मेरा कोई दोष नहीं है किन्तु यह सब इस लज्जा का दोष है सो तुम लोग देखो। जो लज्जा प्रेमी कुटुम्बीजन के समान कान्त (प्रियतम) के समीप में भी आ खड़ी होती है। प्रियतम के अंध सौगन्ध से डरकर अलज्जा (निःसंकोच) वश अपने शरीर में लज्जा के द्वारा स्थापित किया गया यह विनीत विप्रलम्भ (वियोग) है ।। ८० ।।

**टीकानुवाद**—कोई परम प्रेयसी, जो बाहिर भीतर प्रियतम के विरह से युक्त थी। सखियों द्वारा अलंकृत की गई प्रियतम के समीप ले जाए जाने पर भी लज्जावश सिर झुकाए प्रिय के सामने नहीं देख रही थी, तब सखियों के द्वारा उपदेश दिये जाने पर धीरे से उनके प्रति बोली—हे सखियो ! यहाँ आपके वचन के उल्लंघन में मेरा कोई दोष नहीं इस लज्जा का ही दोष है सो तुम देख रही हो। 'दूषण' पद का दीप देहरी न्याय से दोनों जगह सम्बन्ध है। यह लज्जा मेरे परम विश्वास पात्र प्रिय सखीजन के समान प्रियतम के समीप एकान्त में भी आ जाती है—उसके दोष का वर्णन करती है। जिस लज्जा ने वियोग को अपने शरीर में रख छोड़ा है अर्थात् वियोग लज्जा के शरीर में ही निवास करता है। वह वियोग कैसा है—

कान्तस्य यः सहजोऽङ्गपरिमलो मामभ्युपगत इव आगतस्तस्माद्भीतः, अतएव विनीतः, अर्थात् तामेव मां पाहीत्यवनतः। कीदृश्या लज्जया—अलज्जया,एवं करणे विश्वसितायास्तस्याः परमानौचित्याद्। हन्त इति खेदे। अतः परिजनाभासयाऽनया संगोप्य स्थापितो विरहः मामद्याप्यनुगत एव। लज्जा तु प्रियमुखावलोकने प्रत्यूहं करोतीति किं करोमि ? एवं प्रियविषयकमधुररतिकृतोऽयं पूर्वोक्तयोर्विपर्यासः स्फुट एव ॥ ८० ॥

यथा वा—लभन्ते विभ्रमं सर्वाः सुभ्रुवः प्रियसङ्गमे।
आभीर्य्यस्तु भृशं भाविविरहानलभीरवः ॥ ८१ ॥

यथाह भरतः—"योगे प्रियाचित्तवृत्तिर्वियोगमुपलालयेत्।
शाण्डिल्यः सूत्रकृत्प्राह तामेव प्रेमसंज्ञिताम् ॥" इति।

स्पृष्टार्थाविमौ श्लोकौ। अतो नात्र व्याख्यानापेक्षा॥

**यत्र मरणमेव जीवनम् ॥ यत्रेति। स्पष्टमेतत् ॥**

**यथा दशमे—१०-२३-३४—**

"तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्। हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥" इति।

तत्रैकेति। अत्र कर्मानुबन्धनदेहत्यागस्तस्या जीवनमेव, तत्क्षणमेव, सच्चिदानन्दमयदेहप्राप्त्या

---

जो वियोग प्रिय के अङ्ग का स्वभाविक सौगन्ध्य मेरे को प्राप्त हुआ, (ऐसा भान करके) उससे भीत हो रहा है। अतएव विनीत है, और लज्जा—इसका विशेषण है—अलज्जा—ऐसा करने में विश्वासपात्र बनी हुई उसका ऐसा करना अत्यन्त अनुचित है। हन्त—खेद अर्थ में है। इसलिये झूठमूठ परिजन (सखी) बनी हुई इस लज्जा ने विरह को छिपा कर रख छोड़ा है। वह अभी भी मेरे पीछे लगा ही है। यह लज्जा प्रिय मुख दर्शन में विघ्न उपस्थित करती है इसका मैं क्या करूँ ?। टि—(भाव यह है—कि जब प्रेयसी प्रियतम के निकट गई, तब भी वह सिर नीचे ही किये रही। सखियों के वहुत समझाने पर उसने उत्तर दिया—कि प्रियतम का अङ्ग सौरभ जब मैंने अनुभव किया, मेरा विरह उस समय घबड़ाया और वह लज्जा के पाँव में गिर पड़ा क्योंकि उसे यह खटका कि यह सौरभ मुझे निकाल देगा। लज्जा ने भी यह निर्लज्जता की कि उस (वियोग-विरह) को अपने में समा लिया अतएव अब तक वह मेरा पीछा नहीं छोड़ रहा ऐसी स्थिति में तुम्हारा उपदेश कैसे मानूँ)॥ इस प्रकार प्रिय विषयक मधुर रतिकृत यह दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ८० ॥ ग्रन्थकार का पद्य सं० ८१ प्रमाण में दिया गया है—

**श्लोकार्थ**—प्रियतम के संगम काल में सभी स्त्रियें विलास का अनुभव करती हैं। परन्तु यह व्रजाङ्गना तो सदा भावी विरहाग्नि से डरती रहती है। इति ॥ ८१ ॥ जैसा कि भरत मुनि ने कहा है—

**श्लोकार्थ**—संयोग काल में प्रियतम की चित्त वृत्ति के आराधन प्रसंग में भी प्रेमी को वियोग का सम्बन्ध बनाये रखना चाहिये—सूत्रकार शाण्डिल्य मुनि ने इसको प्रेम की संज्ञा दी है। इति।

**टीकानुवाद**—उपरोक्त दोनों श्लोकों के अर्थ स्पष्ट हैं अतएव यहाँ अधिक व्याख्या नहीं की गई।

**मूलानुवाद**—जिस प्रेम नगर में मृत्यु ही जीवन है। जैसा भा० १०-२३-३४ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—उन स्त्रियों में से एक को आते समय ही उसके पति ने बलपूर्वक रोक लिया। इस पर उसने भगवान् के ऐसे ही स्वरूप का ध्यान किया जैसा कि बहुत दिनों से सुन रखा था। जब वह ध्यानस्थ हो गई—तब मन ही मन भगवान् का आलिंगन करके उसने कर्म निर्मित देह को छोड़ दिया—(शुद्ध सत्वमय दिव्य शरीर से उसने भगवान् की सन्निधि सहज प्राप्त कर ली।)

**टीकानुवाद**—यहाँ यह बात समझाई गई है कि याज्ञिक भार्या का जो तात्कालिक देह था, वह

भगवत्प्राप्तिनिदानरूपत्वात्, तदेकप्रयोजनमेव भगवतस्तत्र गमनमन्नयाचनं च श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैः श्रीभागवतसुबोधिन्यां लिखितत्वाद् । अत्रापि मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्ययः स्फुट एव ।।

**यथा च तत्रैव—"अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।" इति । १०-२९-९**

अन्तर्गृहगता इति । अत्रापि गुणमयदेहत्यागस्तासां जीवनाधिकः, सद्योऽलौकिकदेहप्राप्त्या रासमण्डलपरिकरप्रवेशात् ।।

**यथा वा उद्धवं प्रति हरेर्वाक्यम्—१०-४६-६**

**"धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन ।**
**प्रत्यागमनसन्देशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ।।" इति ।**

धारयन्तीति । अत्र वल्लव्यः स्वभावत एव मयि अनुरक्ता मे मम अतिकठनस्य परिमितप्रेम्णः सन्देशैः 'आयास्ये' इति मृषोक्तैः—पाशैरिव निबध्य प्राणान् कृच्छ्रेण कष्टेन कथञ्चन कथं कथमपि प्रायः धारयन्ति । अत्र प्रायःपदं कदाचिद् बिरहवह्नेः सूद्दीप्ततया दशमीं दशामपि प्राप्नुवन्तीति व्यञ्जयति । तर्हि कथं पुनर्जीवनमित्यपेक्षायां पुनर्विशिनष्टि—मदात्मिका मयि अयि अतिकठिने आत्मा जीवात्मा यासां तास्तथा । तासां मयि न्यस्तजीवात्मतया अन्तिकमागतोऽपि मृत्युः मृगयन्नपि जीवनमप्राप्य प्रतियातीत्यर्थः ।

---

प्राक्तन कर्म सम्बन्धवश था, उसका त्याग ही उसके जीवन तुल्य था । अतएव त्याग क्षण समकाल—उसको सच्चिदानन्दमय (दिव्य) देह की प्राप्ति हो गई जो भगवान् की प्राप्ति का कारण बनी । श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्य चरणों ने श्रीसुबोधिनी में बताया है—भगवान् का उस ओर जाना तथा अन्न याचना केवल इसी प्रयोजन से था । यहाँ भी मधुर रतिकृत मरण-जीवन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है । इति । ऐसे ही भा० १०-२९-९ में भी प्रमाणित है—

**श्लोकार्थ**—परीक्षित् ! उस समय कुछ गोपियाँ घरों के भीतर थीं । उन्हें बाहर जाने का मार्ग न मिला । तब उन्होंने अपने नेत्र मूँदे और बड़ी तन्मयता से श्रीकृष्ण के सौन्दर्य्य माधुर्य आदि लीलाओं का ध्यान करने लगीं । इति ।।

**टीकानुवाद**—यहाँ भी गोपियों का गुणमय देह त्याग, उनके जीवन से भी अधिक है क्योंकि उन्हें तुरन्त रासलीला प्रवेश योग्य अलौकिक देह की प्राप्ति हो गई । इति । जैसा कि श्रीकृष्ण का उद्धव के प्रति वचन भा० १०-४६-६ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—मेरी प्रेयसी गोपियाँ इस समय बड़े कष्ट में हैं और यत्न से अपने प्राणों को किसी प्रकार रख रही हैं । मैंने उनसे 'मैं आऊँगा' कहा था । वही उन्हें जीवन का आधार है । उद्धव ! और तो क्या कहूं मैं ही उनकी आत्मा हूँ—वे नित्य निरन्तर मुझ में ही तन्मय रहती हैं । इति ।

**टीकानुवाद**—यहाँ भगवान् यह बता रहें हैं कि गोपियाँ स्वभाव से ही मेरे में अनुरक्त थीं—यहाँ 'मे' इस पद से यह अभिप्राय है कि अति कठिन और परिमित प्रेमवाला मैं हूँ । और 'आऊँगा' ऐसी झूठ उक्तिरूप मानो पाश से ही बाँधकर वे अपने प्राणोंको बड़े कष्ट से और जिस किसी तरह प्रायः धारणकर रही हैं । यहाँ 'प्रायः' पद इस बात का व्यञ्जक है कि कभी विरहाग्नि के पूर्णतया उद्दीप्त हो जाने के कारण वे दशमी दशा (मृत्यु) को भी प्राप्त हो सकती हैं । तो उनका पुनः जीना कैसे संभव ? इस अपेक्षा से यह विशेषण दिया 'मदात्मिका....' मेरे जैसे अति कठोर जन में उन्होंने अपने जीवात्मा को समर्पित कर दिया था । यद्यपि उस दशा में मृत्यु उनके पास आया और वह जीवात्मा को ढूँढकर चला गया उसे जीवन प्राप्त न हुआ—कारण यह कि उनका जीवात्मा तो मेरे पास धरोहर रूप में रखा था । इस प्रकार प्रतिक्षण में ही उनका जीवन और मरण होता रहा । उस समय क्षण भर के लिये उनकी यह दशमी दशा समस्त दुःखों

एवं क्षणे क्षणे तासां जीवनमरणे भवत: तत्र क्षणं तासां दशमी दशा तु सर्ववेदनानिवर्तकत्वात् जीवनाधिका, जीवनन्तु विविधतापसम्पादकत्वात् मरणाधिकम्, अतस्तत्समयसञ्जातमाधिं कस्यापि पुरत: कथयितुमयोग्यां मन:पीडां मत्संदेशैर्विमोचयेत्युपदिशन्तं त्वां प्रेषयामीति भाव: । पद्यद्वयेऽस्मिन् मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्यय: ।।

**यथा वा—अलमातपैरनल्पै: सखि शरतल्पैश्च विषधराकल्पै: ।**
**यदुपायसार्थमाशा निरर्थयन्ती कदर्थयति ।। ८२ ।।**

अलमातपैरिति । अत्र ज्योत्स्ना, सुमनस्तल्पं (पुष्पशय्या), बिसाकल्पं कमलनालैर्भूषणरचनमित्यर्थ:, सख्या सन्तापोपशमनाय कृतं विरहभरात् सन्तापप्रदतया संख्या मम हिताय कृतं मरणोपायमातपशरतल्पविषधराकल्पतया मन्यमाना तत्रोद्यतां सखीं सनिर्वेदं सनि:श्वासं शनैराह—एतैरातपादिभिर्मरणोपायैर्मम सुखाय कृतैरपि हे सखि ! संख्यास्तवोचितैरलं परिपूर्णतास्तु । मा कुर्वित्यर्थ: । यद् यतस्त्वया कृतं मत्सुखाय उपायानां सार्थं समूहं निरर्थयन्ती निर्थकतां नयन्ती इयमाशा प्रियप्रत्यागमनाशारूपा वैरिणी त्वत्त: प्रबला मां कदर्थयति । अत्र मामिति कर्मपदमाक्षेपलब्धम् । त्वत्कृतं मरणसुखमसहमाना मां जीवयत्येवेत्यर्थ: । तच्च जीवनं तापप्रदत्वान्मम कदर्थनमेव । अत्र मधुररतिकृस्तयोर्विपर्यय: ।। ८२ ।।

**यथा वा—साधयन्ति बहुधा मम सौख्यं साधु मत्सुखसुखा मम सख्य: ।**
**प्राणपालनपरा हि दुराशा हा सदाऽनिनिषति स्वयमेव ।। ८३ ।।**

---

का अन्त कर देने के कारण जीवन से भी अधिक मानी गई, और जीवन तो अनेक दु:खप्रद होने के कारण मरण से भी अधिक गिना गया । इसलिये उस समय उत्पन्न हुई मनोव्यथा को किसी के सामने कहना भी उन्होंने उचित नहीं समझा । सो अब तुम वहाँ जाकर मेरे संदशों से उस मनोव्यथा से उन्हें मुक्त करो इसी हेतु मैं तुम्हें वहाँ भेज रहा हूँ । पूर्वोक्त दोनों पद्यों द्वारा मधुर रतिकृत दोनों का विपर्यय हुआ है । ग्रन्थकार का पद्य सं० ८२ प्रमाण में दिया गया है—

**श्लोकार्थ**—हे सखि ! यह जो तुम शीतोपचार कर रही हो यह तेज–घाम के समान, शय्या बाण के समान, मृणाल निर्मित वेष-भूषा आदि विषधर सर्प के समान हैं । इन बहुत से उपायों को यह प्रियतम संगम की आशा व्यर्थ करती हुई मुझे दु:ख दे रही है । इति ।। ८२ ।।

**टीकानुवाद**—यहाँ चाँदनी–पुष्प शय्या, कमलनाल निर्मित भूषण रचना आदि अपनी प्रिय सखी के सन्ताप को दूर करने के लिये यह सब उपाय किये गये । परन्तु यह सब विरह की अधिकता के कारण सन्तापप्रद ही सिद्ध हुए । मेरे हित के लिये की गई यह इनकी अधिक संख्या मरण का उपाय ही बनी और इनको आतपादि दु:ख देनेवाली सामग्री समझकर, शीतोपचार में लगी सखी के प्रति बड़े वैराग्य से जोर-जोर से साँस लेकर धीरे से कहती है—ये आतपादि मृत्यु के उपायों से बचाने के लिये मेरे सुख के लिये किये गये, इन पुष्प शय्यादि से भी हे सखि ! जो तेरे लिये उचित थे, इनकी संख्या अब पूरी हो गई । अब इन उपचारों को बन्द कर दो । क्योंकि तेरे द्वार मेरे सुख के लिये किये गये इन उपाय समूह को व्यर्थ करती हुई यह आशा अर्थात् प्रिय के पुन: लौट आना रूप यह वैरिणी आशा, जो तेरे (उपायों) से भी अधिक बलवती है मुझे पीड़ा पहुँचा रही है । यहाँ 'माम्' यह कर्म पद आक्षेप लभ्य है अर्थात् ऊपर से जोड़ना चाहिये । तेरे द्वारा किये गये, शीतोपचार रूप सुख को यह सहन नहीं कर रही है और मेरे को जीवित रख रही है और ऐसा जीवन दु:खप्रद होने के कारण मेरा कदर्थन (नष्ट करना) ही है । यहाँ यह विपर्यय मधुर रतिकृत है । इति ।। ८२ ।।

ग्रन्थकार का पद्य ८३ उदाहरण में दिया गया है—वियोग ताप संतप्त प्रेयसी को उसकी प्रिय सखी शीतोपचार से सुखी बनाने का प्रयत्न करती है, परन्तु उनसे उसे कोई शान्ति नहीं मिलती । वैसे

काचित् श्रीकृष्णविरहपरवशतया अतिखिन्न निर्विण्णा मरणमेव मम जीवनमिति मनसि मन्यमाना निजप्रियसखीं शनैराह—साधयन्तीति । हे सखि ! एता मम सख्यः मदेकजीवना अपि एतस्या जीवनहानौ अस्माकमपि जीवनं न स्यदित्यविगणय्य बहुधा विषवह्न्यादिवत् सद्यःप्राणपरिपन्थिभिः सचन्द्रचन्दनचन्द्रिकादिभिर्विविधोपायैर्वियोगसन्तप्तायाः मम साधु यथा भवति तथा सौख्यं जीवनहानिलक्षणं साधयन्ति, यतो मत्सुखसुखा मत्सुखमेव सुखं यासां ताः । तथापि मम हृदयवसतिरियं दुराशा दुष्टा निजजीवनार्थिनी प्रियप्रत्यागमनाशा सदा प्राणपालनपरा सततं मत्प्राणरक्षणपरा हा कष्टं पालनकैतवेन स्वयमनिनिषति अनितुं जीवितुमिच्छति, ममान्यथाभावे तस्या अपि तथात्वापत्तेः । "अन प्राणने" इत्यस्य सन्नन्तं रूपम् । यद्वा हासदेत्येकं पदम् । इयं कुलिशादपि कठिना प्रियतमविरहे मम सखीभी रचितैः मरणोपायसहस्रैरपि जीवनं धारयत्येवेति लोके सखीजनेष्वपि मम हास्यप्रवर्तिकेत्यर्थः । मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्ययः ॥ ८३ ॥

**यथा वा—मलयाचलविषपङ्कं वपुषि विशङ्कं हितेहया दधती ।**
**हन्त मम रागरङ्कं कुशले ! किमलं कलङ्कयसि ॥ ८४ ॥**

---

जीवन से उसे मृत्यु ही भली जान पड़ती है । इस स्थिति में वह—प्रिय सखी से कहती है—

**श्लोकार्थ ८३**—मेरे सुख में ही सुखी रहनेवाली मेरी प्रिय सखियो ! मेरे लिये कई प्रकार की सुख सामग्रियों को तुम जुटाती रहती हो, परन्तु वे सब मुझे सुख देने में समर्थ नहीं हैं । यद्यपि प्रियतम के वियोग में मैं जीवित नहीं रहना चाहती, तो भी उनसे मिलने की यह दुराशा मेरे प्राणों का पालन कर रही है । वस्तुतः मुझे जीवित रखने के मिस से यह स्वयं ही जीवित रहना चाहती है ॥ ८३ ॥

**टीकानुवाद**—कोई प्रेयसी, श्रीकृष्ण विप्रयोग में परवश अत्यन्त दुःखी, परम उपरत, मृत्यु को ही अपने मन में जीवन माननेवाली—अपनी प्रिय सखी के प्रति धीरे से कहती है—हे सखि ! यह मेरी (हितैषी) सखियें ऐसी हैं, कि जिनका मैं एकमात्र जीवन हूँ, और यह समझती हैं कि इसकी (मेरी) जीवन हानि होने पर इनका (हमारा) जीवन भी नहीं रहेगा । इसलिये कोई भी बात उठा न रखकर, अनेक प्रकार से मेरी सेवा में तत्पर हैं । यह सभी मेरे सन्ताप को दूर करने के लिये कर्पूर मिश्रित चन्दन का लेप मुझे करती है, चन्द्रमा की शीतल चान्दनी में शय्या आदि प्रस्तुत करती हैं, परन्तु यह सब नाना प्रकार के उपाय वियोग संतप्त मेरे लिये विष और अग्नि आदि के समान तुरत प्राण हरण करनेवाले शत्रुओं जैसे ही लगते हैं । इनके द्वारा जुटाई गई यह सब उत्तम सुख सामग्री मेरी जीवन हानि को ही सिद्ध करती हैं यद्यपि ये मेरी सखियें मेरे सुख को ही सुख माननेवाली हैं, तथापि मेरे हृदय में निवास करनेवाली दुराशा-दुष्टा आशा, जिसे एकमात्र अपने जीवन से ही प्रयोजन है, प्रियतम समागम की आश से सदा मेरे प्राणों की रक्षा करने में तत्पर रहती है । बड़े खेद की बात है—मेरा पालन करने के बहाने अपने आप ही जीवित रहना चाहती है, क्योंकि मेरे न रहने पर यह भी नहीं रह सकेगी । 'अनिनिषति' यह प्राणनार्थक अन धातु से सन्नन्त रूप है अथवा चतुर्थपाद में 'हासद्' ऐसा पदच्छेद करके एक पद समझना चाहिये—जिसका अर्थ हास्य करनेवाली है—अर्थात् यह वज्र से भी अति कठोर, प्रियतम के विरह में मेरी सखियों द्वारा निर्मित हजारों मरने के उपायों के होने पर भी जीवन धारण कर रही है । लोक में और सखीजनों में, इस प्रकार जो मेरे हास्य का प्रवर्त्तन करनेवाली है । यहाँ मधुर रतिकृत दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ८३ ॥

ग्रन्थकार की उक्ति है—यहाँ भी वियोग दुःखिनी शीतोपचार आदि से खिन्न होकर अपनी सखी से कहती है—

**श्लोकार्थ**—हे चतुरे ! मलयाचल पर्वत पर उत्पन्न चन्दन को जो विष से मिला हुआ है, हित की दृष्टि से निशंक मेरे शरीर में लेप करती हुई तू रंक के समान अति अल्प राग को, क्यों विशेष रूप से

व्रजनवयुवराजवियोगरोगराजकृशतरतनुः काचिदाभीरवरतनुरखिलगदवेदनाविपदवसादनभेषजाभिज्ञामपि दशमीं दशां विपद्यनभिमुखीं सखीमिव मनागपि नानुयन्ती परमप्रेमसारसंवित्सम्पन्नमतिः मनाक् तापोपशमनाय सचन्द्रचन्दनपङ्केनाङ्गमनुलेपयन्तीं सखीं सवाष्पं शनैः सादरमिवाह—मलयाचलविषपङ्कमिति। कुशले ! हे चतुरे ! एकैव सम्बुद्धिरियं पद्यव्याख्यानारम्भे प्रथममुदीरिता सखि ! साधु साधु ममास्याः सख्या जीवनमिदमत्यन्तमहितमिति सम्यगवसितमिति व्यञ्जयति। उत्तरार्द्धे तु पुनः पठिता विरुद्धलक्षणया तस्यश्चातुर्य्याभावं व्यञ्जयतीति रसविशेषपोषकतयोभयत्राप्यनुसन्धेया। अत एव मलयाचलविषपङ्कं मलयाचलस्य यद्विषं तस्य पङ्कमज्ञातं चन्दनपङ्कमिदं न भवति, तस्य शीतलीकरणस्वभावत्वात्। इदं सन्तापातिशयसम्पादकत्वान्मलयाचलविषपङ्कमेव, सुव्यवसिततया त्वया सुविचार्य्यैवानीतमिति। अत्र मलयाचलपदोपादानं तस्मिन्नितस्ततः प्रसर्पत्सर्पसहस्रगलविलविनिर्गलदनर्गलगरलाविरलसेवसम्भावनया विषस्योग्रतमत्वं व्यञ्जयति। मम हितस्य जीवनप्रतियोगिलक्षणस्य ईहया कर्त्तुमिच्छया विशङ्कं गतशङ्कं यथा भवति तथा दधती लेपयन्त्यपि त्वं हन्त कष्टं मम रागरङ्कं रागः प्रेमा स एव रङ्को दरिद्रोऽसमृद्धः क्षीणोऽल्पतर इति यावत्। अत्र रागस्य रङ्केण रूपकम्। यदि रागः समृद्धोऽभविष्यत्तदा वियोगक्षणे

---

कलङ्कित कर रही है—यही मेरे लिये बड़े खेद की बात है ॥ ८४ ॥ इति।

**टीकानुवाद**—व्रज नव युवराज श्रीकृष्ण सम्बन्धी वियोग रूप जो रोगों का राजा—उससे जिसका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया है—ऐसी कोई गोपाङ्गना, समस्त रोगों की वेदना रूप विपत्ति के शमन करनेवाली औषधियों की ज्ञाता भी, विपत्ति के समय सखी समान मुख न मोड़नेवालीं, दशमी दशा (मृत्यु) के सम्मुख भी थोड़ा भी अनुनय न करती हुई, उच्चकोटि के प्रेम सार को भली भाँति जाननेवाली वह, वियोग ताप को मिटाने के लिये कुछ कर्पूर मिश्रित चन्दन के घने लेप से अंगों का अनुलेप करनेवाली सखी के प्रति अश्रु बहाती, आदर सहित धीरे-धीरे बोली—हे चतुरे ! यहाँ यह एक ही सम्बोधन पद्य की व्याख्या के आरम्भ में पहले कहा गया इस बात को व्यक्त करता है—सखि ! साधु—बहुत अच्छा—मेरी इस सखी का यह जीवन अत्यन्त अहित कर है यह भली भाँति जान लिया गया। (अर्थात् नायिका के द्वारा सखी को चतुरे ! यह सम्बोधन एक प्रकार से व्यङ्ग रूप है। जिसका भाव यह होता है कि सखी के द्वारा सम्पादित शीतोपचार आदि उस वियोगिनी को अत्यन्त असह्य हैं—अतएव उनसे दुःखी होकर उपालम्भ के रूप में उसका यह कहना कि तू मुझे जीवित नहीं रहने देना चाहती है।) उत्तरार्ध में 'चतुरे ! यह सम्बोधन पुनः पठित होकर विपरीत लक्षण द्वारा उसके 'चातुर्याभाव' अकुशलता को व्यक्त करता है। इस तरह रस विशेष का पोषक होने के कारण इसको पद्य के दोनों भागों (उत्तरार्ध-पूर्वार्ध) में जोड़ना चाहिये। (उस अकुशलता का हेतु बताते हैं) यह जो तू लेप आदि कर रही है—इस बात से अनभिज्ञ है—कि यह वास्तव में मलयाचल का गाढ़ा विष है—और उसका स्वभाव तो शीतल करना है परन्तु यह सन्ताप को बढ़ाने के हेतु ही मलयाचल की विष पङ्क ही है। सो व्यवस्था पूर्वक विचार कर ही तू उसे लाई है। यहाँ 'मलयाचल' पद का उल्लेख इस बात का निर्देश करता है कि उसके इधर-उधर फैलनेवाले सर्पों के हजारों मुख से निकलते हुए प्रचुर मात्रा में विष के सर्वत्र अधिकता से सींचे जाने की संभावना से विष की तीव्र उग्रता व्यक्त होती है। जीवन के प्रतियोगी लक्षण अर्थात् मृत्यु रूप मेरे हित करने की इच्छा निशंक होकर उसका लेप करती हुई तू—बड़े कष्ट की बात है—कि मेरे 'राग रङ्क' असमृद्ध-अति क्षीण, अल्पतर प्रेम को कलङ्कित कर रही है। यहाँ 'राग रङ्क' पद में राग का रङ्क के साथ रूपक समास एवं रूपकालङ्कार भी है। भाव यह है कि यह राग समृद्ध होता तो वियोग क्षण में ही अन्यथा भाव (मृत्यु) हो जाता इस अनुमान का व्यञ्जन करता है। अनुमान का प्रकार वर्णन करते हैं।

टि—(अनुमान दो प्रकार का होना है, १—स्वार्थानुमान, २—परार्थानुमान इन में भी 'पंचा-

एवान्यथाभावोऽभविष्यदित्यनुमानं व्यञ्जयति। तथा च प्रयोगः मम रागोऽल्पतमो वियोगक्षण एव जीवनाभावकरत्वाभावात्, यदेवं तदेवं याज्ञिकपत्नीवद्, निरुद्धगोपीसमूहवत्, कादम्बर्य्यादौ पुण्डरीकादिवत्, यन्नैवं तन्नैवमहमिवेति। हे कुशले ! तत्किमित्यलमत्यर्थं कलङ्कयसि कलङ्कितं करोषि। सर्ववेदनाविदुन्मूलनस्यान्यथाभावस्य स्वसुखार्थमङ्गीकारेण रागस्यात्यन्तकलङ्कितत्वं स्यादेव। निर्दयस्यापि तस्य मद्दयितस्य मम सौख्याभावेनैव यदि सुखाधिक्यं तर्हि तथैवास्तु, तत्सुखसुखत्वेनैव रागस्य स्वच्छतासिद्धेः। अतो रङ्कस्य तस्य सकलङ्कित्वसम्पादनं निपुणयास्तव नैपुण्यहानिकरत्वान्नैवोचितमिति ध्वनिः। रागस्य कलङ्कप्रदत्वात्त्वया मम हितत्वेनावसितमपि मरणमहितमेव। हितन्तु प्रेम्णः निर्मलत्वनिदानं विरहविविधवेदनसहनदुःखेनैव यथाकथञ्चिज्जीवनमेवेत्यनुध्वनिः। अतः सद्यो मदसुखमपश्यतो हरेरेभिरुपायैरलमिति प्रत्यनुध्वनिः। मधुररतिक्रतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः ॥ ८४ ॥

यथा वा—अनल्पैरालेपैः शिशिरतरतल्पैः सुमनसां
बिसानामाकल्पैः शशधरकरैरब्जनिकरैः।
ममोपायं रामा विदधति विरामाय विपदां
दुराशेयं वामाऽनिनयिषति हा मामतिकृशाम् ॥ ८५ ॥

---

वयाव' का प्रयोग होता है—वे हैं—(यह दोनों प्रतिज्ञा के अन्तर्गत हैं) १–पक्ष, २–साध्य, ३–हेतु, ४–दृष्टान्त, ५–उपनयन, ६–निगमन इति।)

तथा च, १–मेरा अनुराग, २–वहुत अल्प है, ३–वियोग क्षण में ही जीवन को समाप्त न कर देने के कारण जो ऐसा होता है वह वैसा ही होता है—४–याज्ञिक पत्नियों की तरह—रोकी गई गोपी समूह की तरह—बाणादि की कादम्बरी आदि गद्य काव्यों के पुण्डरीक आदि की तरह—५–जो ऐसा नहीं होता वह वैसा भी नहीं होता—६–मेरी तरह। इति। हे चतुरे ! इसलिये तुम मुझे क्यों अधिक मात्रा में कलंकित कर रही हो। सभी वेदना रूप विपत्ति का मूलोच्छेदन रूप अन्यथा भाव (मृत्यु) का अपने सुख के लिये स्वीकार करने से प्रेम का अत्यन्त कलङ्कित होना ही है। वे मेरे प्रियतम चाहे निर्दय हों—मुझे दुःख देकर देकर भी यदि उन्हें अधिक सुख होता हो तो भले ही वैसा हो, क्योंकि राग-प्रेम का तो तत्सुख सुखित्व भाव ही मुख्य है और इससे उसकी स्वच्छता सिद्ध होती है। इसलिये मेरे उस, रङ्क के समान अति स्वल्प प्रेम को कलङ्कित करना तेरे जैसी चतुर सखी की चतुराई को बट्टा लगने के कारण अनुचित ही है इसमें यह ध्वनित है। तुम मेरे सुख की दृष्टि से यह जो शीतोपचार कर रही हो, मेरे मृत्यु रूप अहित का सम्पादन करने के कारण राग को कलंकित करना है। हित तो इसमें है कि प्रेम को निर्मल बनाने का मूल कारण विरह की अनेक वेदनाओं के दुःखों को सहन करते रहकर ही, जिस किसी प्रकार जीवित रहना चाहिये (इसे हित कहा जाता है) यह यहाँ अनुध्वनि है। अतएव मेरे दुःखों को प्रत्यक्ष देखते हुए हरि को इन उपायों का विस्तार ठीक नहीं यह प्रत्यनुध्वनि हुई अर्थात् शीघ्र दर्शन दें जिससे यह विरह दुःख समाप्त हों। मधुर रतिकृत यह दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ८४ ॥

ग्रन्थकार का यह पद्य सं० ८५ प्रमाण है—एक मात्र प्रियतम दर्शन की आशा ही किसी प्रेयसी को कैसे जीवित रखती है इस प्रसङ्ग का इस पद्य में वर्णन ग्रन्थकार ने किया है—

**श्लोकार्थ**—यह मेरी सखियें मेरे वियोग ताप को दूर करने के लिये कई तरह के उपाय रचती है जैसे—चन्दन कर्पूर मिश्रित लेप करती हैं—पुष्प सज्जित शीतल शय्या तय्यार करती हैं—कमल नालों से निर्मित शीतल वेष धारण कराती हैं—कमल समूह और चन्द किरणों से भी मुझे सुखी करना चाहती हैं, परन्तु मैं अत्यन्त कृश ही होती जा रही हूँ। फिर भी यह कुटिला दुराशा मुझे जीवित रखना

प्रियतमविरहर्बाहि:शुष्ममहोष्मविवशवर्ष्मण: कस्याश्चिदीषत्सन्तापशान्तिचिकीर्षया कयाचित् प्रियसख्याकल्पितैरालेपादिभि: पञ्चभिरुपायै: शतगुणितसन्तापाऽस्वस्थासीति पृच्छन्तीं कामपि सखीं सकरुणमाह–अनल्पैरिति। अत्रानल्पैरिति आलेपादित्रयस्य विशेषणम्। तच्च तदङ्गोष्मण: सद्य: शुष्यमाणानां तेषां मुहुरुत्तरोत्तरसम्पादनं बोधयत् सन्तापस्यानल्पतमत्वं व्यञ्जयति। अब्जनिकरैरित्यत्रापि निकरपदं पूर्ववदेवार्थं सूचयति। रमयन्तीति रामा: सख्यो मम विपदां विरामाय निरसनाय, अर्थाज्जीवनाभावाय एतै: करणरूपैरुपायं विदधति कुर्वन्त्येव। परन्तु इयं दुराशा दुर्दुष्टा मदीयं स्वास्थ्यमसहमाना आशा प्रियप्रत्यागमनाशाऽतिकृशामपि मामानिनयिषति अनयितुं जीवयितुमेवेच्छति। अन प्राणधारणे—इत्यस्य धातोर्णिच: सन्नन्तं रूपम्। यतो वामा कुटिला परदु:खदर्शनसन्तोषिणी। अतो दुराशायां सत्यां किं मम स्वस्थ्यं पृच्छसीति ध्वनि:। एतास्तु मुग्धा आशानिरसनोपायं न जानन्तीत्यनुध्वनि:। अतो विदग्धा त्वमेव, तत्र सख्येन कमप्युपायं रचयेति प्रत्यनुध्वनि:। हा शब्दोऽतिखेदे। एवमत्रापि मधुररतिकृतोऽयं विपर्ययः स्फुट एव॥ ८५॥

**यथा कस्यापि—"तस्या: कुशलं जीवति कुशलं पृच्छामि जीवतीत्युक्तम्।**
**पुनरपि तदेव कथयसि मृतां नु कथयामि या श्वसिति॥"**

मथुरायां संस्थितस्य श्रीकृष्णस्य व्रजात्प्रत्यागतस्य चोद्धवस्योक्तिप्रत्युक्तियुक्तमेतत्पद्यम्—तस्या

---

चाहती है॥ ८५॥

**टीकानुवाद**—प्रियतम के वियोगाग्नि की अत्यधिक उष्मा से जिसका शरीर पराधीन हो रहा है। ऐसी किसी प्रेयसी के सन्ताप की कुछ शान्ति के लिये कोई प्रिय सखी चन्दन लेप आदि पञ्च उपायों को जुटाती है परन्तु उसे सौ गुगा सन्ताप से अस्वस्थ·त्रस्त समझ कर उससे ऐसा पूछती है ? और करुणा से कहती है—यहाँ 'अनल्पै' पद आलेप आदि तीनों का विशेषण है, और वह उसके अङ्गों के ताप प्रभाव से तुरत सूखते रहने के कारण तथा फिर-फिर उनका प्रयोग करते रहना सन्ताप को अधिक व्यक्त करता है। 'अब्जनिकरै:' यहाँ भी पूर्व जैसे अर्थ को सूचित करता है अर्थात् कमल समूह भी सूख जाते हैं। 'रामा' का अर्थ है जो रमण करावे अर्थात् सुख दे। ऐसी मेरी यह सखी तापादि विपत्ति को दूर करने के लिये अर्थात् जीवन के अभाव (मृत्यु) के लिये इन साधन रूप उपायों को जुटा रही हैं परन्तु यह दुराशा मेरे स्वास्थ्य को सहन नहीं कर सक रही है अर्थात् प्रियतम के प्रत्यागमन की यह आशा अति दुर्बल मरणासन्न भी मुझको जीवित ही रखना चाहती है। 'प्राणधारणार्थक' अन धातु से 'णिच्' प्रत्यय करने पर सन्नन्त का यह रूप है। क्योंकि यह आशा वामा अर्थात् कुटिला है जिसका अर्थ है, दूसरे को दु:खी देखकर सन्तोष करनेवाला—इसलिये इस दुराशा के उपस्थित रहने पर मेरे स्वास्थ्य के विषय में तुम क्या (व्यर्थ) पूछती हो। यह यहाँ ध्वनि है, और यह सब भोली भाली सखियें आशा दूर करने के उपाय तो जानती ही नहीं यह अनुध्वनि हुई। इसलिये तू ही एक चतुर है इस प्रसङ्ग में अपनी मैत्रीवश तू कोई उपाय रच यह प्रत्यनुध्वनि हुई। 'हा' शब्द अति खेद अर्थ में है। यहाँ भी मधुर रति कृत दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है॥ ८५॥ इति।

जैसा कि किसी अन्य कवि का भी पद्य है—व्रज से उद्धव के लौटने पर श्रीकृष्ण ने वहाँ का समाचार पूछा जो इस पद्य में वर्णित है—

**श्लोकार्थ**—वह (श्रीराधा) कुशल से हैं ? (श्रीकृष्ण ने पूछा) हाँ जीवित है (उद्धव ने उत्तर दिया)—मैं कुशल पूछ रहा हूँ—(श्रीकृष्ण ने फिर प्रश्न किया) उद्धव ने फिर वही उत्तर दिया—हाँ जीवित है श्रीकृष्ण ने पूछा फिर वही बात दुहराते हो ऐसा क्यों ? उद्धव ने उत्तर दिया जब श्वास ले रही है तब कैसे कह दूँ कि मृत हो गई। इति॥

इति । तस्याः कुशलमिति कस्याश्चित्प्रयतमाया गोपकिशोर्य्याः कुशलं पृष्ट उद्धवः प्राह—जीवतीति । तन्निशम्य हरिः पुनराह—भो कुशलं पृच्छामि । तच्छ्रुत्वा स पुनराह—जीवतीत्युक्तन्तु । तदाकर्ण्यकृष्णः पुनरुवाच—पुनस्तदेव कथयसीति । तन्निशम्य सव्यङ्गं स पुनराह—या श्वसिति, तां नु निश्चयेन मृतामेव कथयामीति काक्वा मरणमेव तस्याः कुशलं नान्यथेति ध्वनिः । ततस्त्वरितं त्वमेव व्रज प्रयाहीत्यनुध्वनिः । इतरथा पुनर्महाविप्रतीसारं यास्यति भवानित्यनुध्वनिः । मधुररतिकृतोऽय यतोर्विपर्य्ययः ॥

**यथा वा—तीव्रैस्तपोभिः स्वतनुं तिलीकृतां संस्कृत्य निष्पीड्य नयामि तैलताम् ।**

**विक्रीय तत्तत्कचसङ्गि चेत्सकृत् सद्यस्तदा यामि मृतापि जीविताम् ॥ ८६ ॥**

मनाक्प्रियतरसम्बन्धबन्धुरफलं मरणं जीवनमेवेति निश्चयवती परमानुरागवती कापि गोपयुवती स्वप्रियसखीं प्रति निजाभिलषितमुद्गिरति—तीव्रैरिति । तीव्रैरुग्रतरैर्बहुभिस्तपोभिः । उक्तिरियं तैर्विना मनोभिलषितसिद्धिं बोधयन्ती लालसातिशयने तस्य दुर्लभतमत्वं व्यञ्जयति । तिलीकृतां तिलसमुदायतां

---

टि—(इस प्रसङ्ग में सूर सागर का अनूठा गीत स्मरण हो आया है । श्रीराधा की दशा उद्धव हरि से कह रहे हैं)—

देखी मैं लोचन चुवत अचेत । मनहुँ कमल शशि त्रास ईश कौं मुक्ता गनि गनि देत ॥
द्वार खड़ी इकटक मग जोह्वत-ऊरध श्वास न लेत । मानहुं मदन मिले चाहति है, मुञ्चत मरुत समेत ॥
श्रवण न सुनत चित्र पुतरी लौं समुझावत जितनेत । कहुँ कङ्कण, कहुँ गिरि मुद्रिका, कहुँ ताटङ्क, कहुँ नेत ॥
मनहुँ विरह दव जरत विश्व सब राधा रुचिर निकेत । ध्वज होइ सूख रही सूरज प्रभु बन्धी तिहारे हेत ॥

(विरह दशा का हठात् रुला देनेवाला ऐसा मार्मिक ध्यान श्रीजी का विरल ही हुआ है ।) (दास धर्म्मचन्द)

**टीकानुवाद**—जब श्रीकृष्ण मथुरा में विराज रहे थे—व्रज से उद्धव के लौटने पर दोनों की उक्ति प्रत्युक्ति—प्रश्नोत्तर इस पद्य में वर्णित है । उसकी कुशल तो है ? यह किसी गोप किशोरी प्रियतमा के विषय में श्रीकृष्ण का उद्धव से प्रश्न है—उद्धव बोले—जी रही हैं । यह सुनकर फिर श्रीकृष्ण ने पूछा—हे भैया ! मैं तो कुशल पूछ रहा हूँ ? यह सुनकर उद्धव ने फिर वही उत्तर दिया (प्रभो !) जी रही है कह तो दिया है । वही उत्तर सुनकर श्रीकृष्ण फिर बोले फिर वही उत्तर (दुहरा देने से क्या समझा जावे) —यह सुनकर कुछ व्यङ्ग से उद्धव बोले—जो श्वास ले रही है उसे निश्चय रूप से मरी हुई कैसे बता दूँ—इस काक्वुक्ति से उसका मरण ही कुशल है अन्यथा नहीं यह ध्वनि है । इसलिये बहुत शीघ्र आप व्रज में पधारो यह अनुध्वनि हुई, नहीं तो फिर आपको पछताना पड़ेगा यह प्रत्यनुध्वनि हुई । मधुर रतिकृत यह उन दोनों का विपर्य्यय है ।

ग्रन्थकार का पद संख्या ८६—किसी प्रेयसी का प्रिय संगम विषयक अपूर्व भाव इस पद्य में है ।

**श्लोकार्थ**—बहुत उग्र तपस्याओं द्वारा अपने शरीर को तिल बनाकर—उनका संस्कार करके, (कोल्हू में) पिलकर तेल निकाल लूँ । तब वह तेल बाजार में बिककर एक बार भी प्रियतम के केशों का सम्बन्ध प्राप्त कर लेगा तो मैं मरी हुई भी तुरन्त जीवित हो सकती हूँ ॥ ८६ ॥

**टीकानुवाद**—प्रियतम के थोड़े भी सम्बन्ध के सुन्दर फल रूप, मरण को जीवन मानती हुई परम अनुरागवती कोई गोप युवती प्रिय सखी के प्रति अपनी अभिलाषा को प्रकट करती है—'उग्र बहुत तपस्याओं द्वारा' इस उक्ति से यह बताया कि तपस्याओं के बिना मनोभिलषित अर्थ की सिद्धि नहीं होती । इस बात का बोधन करती हुई तथा उत्कट लालसा से उसकी दुर्लभता व्यक्त कर दी है । 'तिली.......' इस पद में 'अभूततद्भाव' में च्विः प्रत्यय हुआ है । तिल रूपता को प्राप्त शरीर का फिर संस्कार कर दिया जायगा—

नीताम्। "अभूततद्भावे च्विः"। स्वतनुं निजाङ्गं तुषलक्षणमलापाकरणेन सुमनः सौगन्धलक्षणातिशयाधानेन संस्कृत्य पुनस्तैलयन्त्रे निष्पीड्य तैलतां नयामि प्रापयामि। पुनस्तत्तैलं विक्रीय तद्रूपेणाहमेव प्रतिहट्टपथं विक्रयं प्राप्य, तैलस्य तदङ्गपरिणामरूपत्वात्। पुनस्तत्तैलं सकृदेकवारमपि तस्य सौन्दर्यसिन्धोः श्यामसुन्दरस्य कचसङ्गि कुन्तलस्पृक् चेत्कथञ्चित्स्यात्तदा तत्क्षणमेव सद्यस्तूर्णं पूर्वं मृताप्यहं जीवितं यामि। जीवितवती स्यामित्यर्थः मधुररतिकृतो विपर्य्ययोऽत्रापि स्फुट एव ॥ ८६ ॥

**यथा वा—मृदस्तु मेऽङ्गं खनितं खनित्रकैः खराधिरूढं बहुमुद्गराहतम्।**
**बन्धभ्रमातापवदल्पभाजनं तच्चेत्तदीयाधरसङ्गि जीवयेत् ॥ ८७ ॥**

मृदस्त्विति। अत्रापि पूर्ववावतारिका। मे मम अङ्गं वपुर्मृद् मृद्भावमस्तु प्राप्नोतु—इति विधातारं प्रति प्रार्थनायां लोट्। ततो मदङ्गं ममाङ्गं खनित्रकैः खननसाधनैः कुद्दालकादिभिः खनितमस्तु। "स्वार्थे कः"। पुनः खरे रासभपृष्ठेऽधिरूढमस्तु। पुनर्बहुभिर्मुद्गरैराहतमस्तु। सम्यक् चूर्णितं भवत्वित्यर्थः। पुनर्बन्धभ्रमातापवदस्तु—बन्धो जलेन पिण्डीभावः, भ्रमश्चक्रारूढस्य भ्रमणम्, आतापः महानलसन्तापः, तच्च तच्च तद्वत् तत्तद्युक्तमस्तु। पुनरल्पं लघु मसृणं मञ्जुलं कुब्जकरूपं भाजनं पानपात्रमस्तु। तत्करकिसलयस्पर्शोत्थापनयोग्यमित्यर्थः। अत्राल्पपदं प्रियतमस्य परमसुकुमारत्वं व्यञ्जयति। तद्भाजनं चेद् यदि कथञ्चन महाभाग्योदयेन तदीयाधरसङ्गि तस्य माधुर्य्यसिन्धोः व्रजेन्द्रकुमारस्याम्बुपानादौ अधरस्पृक् स्यादिति शेषः। तदा तदैव मृद्भावेन मृतमपि मदङ्गं मामेव जीवयेत्। तदधरस्पर्शमात्रेण मृताप्यहं जीवामीत्यर्थः। एवं मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ॥ ८७ ॥

---

संस्करण दो प्रकार से होता है—१—उसके मल को दूर करना, २—उसमें सुगन्धित द्रव्य मिलाना। इसी का यहाँ वर्णन है। अपने शरीर का 'तुष...' छिलका दूर करना रूप मल को हटाना और पुष्प सौगन्ध लक्षण का अतिशयेन समिश्रण करना यह संस्कार कहा। फिर तेल यन्त्र (कोहलू वानी आदि) में उसको निष्पीडन क्रिया से उनका तेल निकाल लूँगी और उस तेल रूप में बाजार की दुकानों पर बिक जाऊँगी। इस प्रकार प्रेमिका का अङ्ग (शरीर) तेल रूप में परिणित हो गया। फिर वह तेल एक बार सौन्दर्य समुद्र श्रीश्यामसुन्दर के केशों में लग गया (और इस तरह मुझे उनका स्पर्श प्राप्त हो गया) तो पहले मृत्यु को प्राप्त भी मैं, तत्काल—उसी क्षण जीवित हो जाऊँगी। इस प्रकार मधुर रतिकृत यहाँ भी उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ८६ ॥ इति। यह सं० ८७ भी ग्रन्थकार का पद्य है—इस पद्य में पूर्ववत् उत्थानिका समझें—

**श्लोकार्थ**—यह मेरे अङ्ग मृतिका हो जाएँ—फिर फावरे से खोदकर गधे पर लादा जाए। घर लाकर मुग्दरों से पीसा जाए—पानी से पिण्ड बने (लौदा) कुम्हार के चक्र पर घुमाया जाए। ताप द्वारा आवे में पटक कर छोटा सा पात्र बनकर प्रियतम के अधर का सम्बन्ध प्राप्त करके जीवित हो जाऊँगी ॥८७

**टीकानुवाद**—मेरा शरीर मृतिका भाव को प्राप्त हो जाए यह विधाता से प्रार्थना करती है। यहाँ 'अस्तु' इस क्रिया पद में प्रार्थनार्थ 'लोट् लकार' है। फिर वह मिट्टी कुदाल आदि से खोदी जाए। यहाँ 'खनित्रकैः' में स्वार्थ में कः प्रत्यय है। फिर वह गधे की पीठ पर लादा जाए बहुत से मूसलों से पीस कर उसे महीन कर दिया जाए—जल मिलाकर लोंदा बनकर कुम्हार के चक्र पर घुमाया जाए और आँवा में पककर—इतनी प्रक्रियाओं से यह मिट्टी एक सुन्दर पान पात्र तय्यार हो, जो प्रियतम के कर पल्लव के कोमल स्पर्श से उठाया जा सके। यहाँ 'अल्प' पद प्रियतम की अति सुकुमारता का व्यञ्जक है। वह पात्र किसी भी तरह महा भाग्योदय से, उन माधुर्य्य समुद्र व्रजेन्द्र कुमार के जल पानादि प्रसंग में, उनके सुमधुर अधर का सम्बन्ध प्राप्त करे तो मृतिका रूप से मृत भी वह मेरा शरीर उसी क्षण मुझे जीवित दशा में

यथा कस्यापि—"पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य किन्तु शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गण-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥"

वल्लभविप्रलम्भवनदहनगहनकीलावलिभिः परिरम्भिता चिरमनासादितघनाघनागमा दशमीं दशामुपगतामेव मन्यमाना कापि वृन्दावनकनकमल्लिकावल्लिर्निजमनसि निखिलवरदातुर्विधातुर्वरविशेषमीहते—पञ्चत्वमिति । मम तनुः पञ्चत्वं दशमीं दशामेतु प्राप्नोतु । भूतनिवहाः पञ्चभूतानि स्वांशे—स्व आत्मा अंशो यस्य स तस्मिन् निजनिजांशिनीत्यर्थः । भूतपञ्चके विशन्तु । स्फुटं तत्प्रकटमेवेति सर्वसाधारणत्वमभिप्रेतम् । तत्रापि प्रवेशसमयेऽपि । हन्त इति खेदेऽव्ययपदं निजाभिलषितस्यासुलभत्वं व्यञ्जयति । प्रणिपत्य साष्टाङ्गं नमस्कृत्य पयस्तु स्वांशिनि पयसि प्रवेशं गमिष्यत्येव, किन्तु दीनायां मयि करुणया तस्य महाभिमानिनः बहिरन्तरसितस्य केलिवापीष्वेव प्रविशतु—इत्येतावन्मात्रं प्रार्थनम् । एवमग्रेऽपि । अत्र क्रमातिक्रमस्तापातिशयेन चित्तास्वास्थ्यं व्यञ्जयति, "स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सम्भवन्ति" इत्युक्तेः । वापीष्विति वृन्दावनीयानन्तनिकुञ्जेषु प्रतिकुञ्जं वृन्दया परमादरेण प्रेम्णा रचितां समस्तक्रीडासम्पदं बोधयति ।

---

पहुंचा देगा—अर्थात् मरी हुई भी मैं उनके अधर स्पर्श से जीवित हो जाऊँगी । यह मधुर रतिकृत उन दोनों का विपर्यय स्फुट है ॥ ८७ ॥

किसी अन्य कवि का पद्य है—दशमी दशा के निकट कोई प्रेयसी ब्रह्मा से प्रार्थना करती है—

**श्लोकार्थ**—यह मेरा शरीर जब पंचत्व (मृत्यु) को प्राप्त हो और इसके पंच भूत जब अपने-अपने कारण पंचभूतों में समा जाएँ तो मेरी सृष्टि रचयिता ब्रह्मा से साष्टाङ्ग प्रणाम करके प्रार्थना है—कि मुझे यह वरदान दें कि मेरा शरीर का जल तत्व प्रियतम के स्नान आदि की बावली के जल में, तेज तत्व उनके देखने के शीशे में, आकाश उनके प्राङ्गण के आकाश में और भूमि तत्व उनके चलने के मार्ग में एवं वायु उनके पंखे में (क्रम से) मिल जाएँ । इति ।

**टीकानुवाद**—प्रियतम के विप्रयोग दावानल की ऊँची ज्वालाओं से घिरी हुई और एक लम्बे समय से जलवर्षी बादलों को न प्राप्त करती हुई अतएव दशमी दशा (मृत्यु) के समीप पहुँची हुई अपने को माननेवाली कोई वृन्दावन की स्वर्ण मल्लिका की लता अपने मन में समस्त वरदानियों के विधाता ब्रह्मा से वर विशेष माँगती हुई कह रही है । मेरा यह शरीर पंचत्व अथवा दशमी दशा को प्राप्त हो जाए और उसके पञ्चभूत अपने-अपने कारण तत्व में मिल जाएँ । 'स्फुटं'—पद का भाव है कि यह बात प्रकट ही है और सर्व साधारण जन इस बात को जानते ही हैं । परन्तु प्रवेश के समय भी मैं ऐसा चाहती हूं । 'हन्त' पद खेदार्थ में अव्यय और अपनी अभिलषित की दुर्लभता को व्यक्त करता है । अतएव ब्रह्मा को साष्टांग प्रणाम करके यह वर चाहती हूँ । कि (मेरे शरीर का) जल तत्व यद्यपि कारण जल में मिलेगा ही, किन्तु मुझ दीन पर करुणा करके बाहिर भीतर से काले उस महाभिमानी कृष्ण की स्नान क्रीड़ा बावली में प्रविष्ट हो बस इतनी ही प्रार्थना है । ऐसे ही आगे के भी समझ लेना चाहियें । यहाँ क्रम का भी अतिक्रम हो गया है । यह वियोग की अधिकता के कारण चित्त की अस्वस्थता को व्यक्त करता है—कहावत भी है—चित्त के स्वस्थ होने पर ही बुद्धि अपना काम ठीक करती है । 'वापी' शब्द—वृन्दावन के अनन्त निकुञ्जों में प्रत्येक कुञ्ज में वृन्दा द्वारा परम आदर से प्रेमपूर्वक निर्मित समस्त जल क्रीड़ा सामग्री का बोधन कराता है । 'तदीय मुकुरे' (ज्योति) उनके शीशे में—(वायु) उनके पंखे में—इस प्रार्थना द्वारा यह ध्वनित है कि मरने के बाद भी उनके सम्बन्ध का गन्ध विछिन्न न हों । इस स्थिति में मरना भी जीवन की अपेक्षा अधिक

तदीयमुकुरे तस्यादर्शे। तालवृन्ते तदीयव्यजने। एवं प्रार्थनेन मरणान्तरमपि तदीयसम्बन्धगन्धो मा विरमतु इति ध्वनितम्। एवञ्चेन्मरणमपि जीवनाधिकमित्यनुध्वनिः। एवं तस्यानुरागस्योन्नततमत्वमिति प्रत्यनुध्वनिः। मधुररतिकृतोऽयं विपर्य्यासः॥

**यत्र लघुत्वमेव गुरुत्वम्। यथोक्तं श्रीरूपगोस्वामिभिः—**

**"नर्मोक्तौ मम निर्मितोरुपरमानन्दोत्सवायामपि**
**श्रोत्रस्यान्ततटीमपि स्फुटमनाधाय स्थितोद्यन्मुखी।**
**राधा लाघवमप्यनादरगिरां भङ्गीभिरातन्वती**
**मैत्रीगौरवतोऽप्यसौ शतगुणां मत्प्रीतिमेवादधे॥"**

अहो व्रजनवयुवराज! भवता यदाज्ञप्तं त्वमेव तद्दिनवत् तामेव मां कृपया पुनर्दर्शयेति तदतीव दुष्करमिति दूतीस्वभावान्मुहुर्वदन्तीं वृन्दां श्रीराधायां पूर्वारागवान्नागेन्द्रः व्यञ्जितपरेङ्गिताभिज्ञत्वं स्वरसाभिज्ञत्वमभिवदन्निजाज्ञायाः सुकरत्वं व्यञ्जयति—नर्मोक्ताविति। अनादरगिरां भङ्गीभिर्मम लाघवमातन्वती राधा मैत्रीगौरवतोऽपि मत्प्रीतिमेवादध इत्यन्वयः। कीदृशी सा—मम नर्मोक्तौ नर्मणा परिहासेन या उक्तिः—वनविहारेण श्रान्तासि क्षणं निषीद, मत्कृतां चरणक्षालनवीजनादिसेवामुररीकुरु, सहजारुणचरणकमलैर्मदीयं निकुञ्जमन्दिरं सफलयेति—तस्याम्। श्रोत्रस्यान्ततटीं श्रौत्रस्य कर्णस्यान्तः प्रान्तस्तस्यापि तटीं कोटिमपि

---

महत्व का है यह अनुध्वनि हुई— तथा उनके प्रति अनुराग ही परमोन्नत सार है यह प्रत्यनुध्वनि हुई—इस प्रकार यहाँ मधुर रतिकृत यह दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही हैं॥ इति॥

**मूलानुवाद**—जहाँ लघुत्व अर्थात् छोटापन ही बड़प्पन माना जाता है—जैसे भ० र० सिं० ५० ल० ४।८६८ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—(श्रीराधा की कृष्ण विषयक रति का वर्णन है) परम आनन्दोत्सव को उत्पन्न करनेवाले मेरे (श्रीकृष्ण के) नर्म वचनों (शृङ्गारोचित हास्य वचनों) के प्रति भी स्पष्ट रूप से अपने कानों को न लगती हुई सी—(अर्थात् वास्तव में तो मेरी नर्मोक्तियों को सुनकर अत्यन्त आनन्दित होने पर भी बाहर से ऐसा प्रकट कर रही है कि वह मेरी सुन ही नहीं रही है। इस प्रकार की) मुँह उचकाए बैठी हुई और अनादर पूर्वक बोले गए शब्दों के द्वारा (मेरी नर्मोक्तियों प्रति) तुच्छता को सूचित करती हुई भी (यह मानिनी और लाघव प्रदर्शित करनेवाली राधा मेरे प्रति) मैत्री एवं गौरव (प्रदर्शन करनेवाली राधा) से भी सौगुना आनन्द प्रदान कर रही है। इति।

**टीकानुवाद**—अहो व्रजनव युवराज! आपने जो उस दिन कहा था (यह बात चीत वृन्दा और श्रीकृष्ण में हो रही है) तुम ही उस पूर्व दिन की तरह जैसे भी बने कृपया मुझे उस (राधा) के दर्शन करा दो।—सो (प्यारे) यह अत्यन्त कठिन है। दूती स्वभाव से, वृन्दा बार-बार वैसा करने का निषेध कर रही है—गोवर्धनाधीश श्रीकृष्ण, श्रीराधा के प्रति पूर्वानुरागवान हैं (अतएव दर्शन को उत्कण्ठित हैं), वे दूसरे की चेष्टाओं द्वारा उसके मानसिक अभिप्राय को भी जान जाते हैं। वे उस (वृन्दा) के प्रति अपनी रसिकता को द्योतन करते हुए अपनी (दर्शन कराने को) आज्ञा पालन होना सुगम व्यञ्जित कर रहे हैं। पद्य में ऐसा अन्वय लगाना चाहिये—अनादर पूर्ण वाक्यों की रचना विशेषों से मेरी लघुता का विस्तार करती हुई, श्रीराधा ने मैत्री की गुरुत्ता से भी मेरे प्रति प्रीति का ही प्रदर्शन किया, मेरे परिहास की उक्तियों को उसने मानो कान के कोने तक भी नहीं आने दिया। नर्मोक्ति का स्वरूप यह है—हे राधे! तुम वनविहार के कारण थक गई हो, थोड़ा विश्राम करो और मैं तुम्हारे चरणों की सेवा, पंखे से हवा करता हूँ,

स्फुटं प्रकटमनाधाय कर्णमदत्वेत्यर्थः। स्थिता। अत्र स्फुटमनाधायेत्यप्रकटं सम्यगाधायेति ध्वनितम्। कीदृश्यां नर्मोक्तौ—निर्मितोरुपरमानन्दोत्सवायामपि निर्मितः कृत उरुर्बहुतरो यः परमानन्दस्तेन उत्सवो यया तस्यामपि। ततः क्षण तूष्णीं स्थित्वा तत्सुखमनुभूय पुनः सावगुण्ठनं तूष्णीं स्थातुमनीशा सती उद्यन्मुखी अवगुण्ठनाच्चन्द्र इवोद्यन्मुखं यस्या सा मुखचन्द्रमीषत्प्रकाशयन्तीत्यर्थः। अनादरगिरां सनिरादरवाचाम्—रे गोपकिशोर! निजश्यामतयैवातिगर्वितोऽसि, सतीजनेष्वेवं वक्तुं योग्यमयोग्यं वेति न जानासि, अतः क्वचिज्जलादावपि निजमुखमवलोकयेत्येवंविधानां विविधानां गिरां वाचाम्—भङ्गीभी रचनाविशेषैस्तूष्णीं स्थित्वा मनसि सद्यो रचिताभिः, न तु नैसर्गिकीभिः, मम व्रजेन्द्रनन्दनस्यापि लाघवं लघुत्वमातन्वती विस्तारयन्ती सा मैत्रीगौरवतोऽपि अन्यासां मैत्र्या कृतं यद् गौरवमादरविशेषस्ततोऽपि शतगुणां मत्प्रीतिं मम प्रसन्नतामेवादधे, न तु तदितरामित्येवशब्दार्थः। एवं तस्या निरादरक्रिययानुमितं निजाज्ञायाः सुकरत्वं तां प्रति ध्वनितम्। अतस्तदर्थं यत्नमाचरणीयमेवेत्यनुध्वनिः। एवं त्वं मां जीवयेति प्रत्यनुध्वनिः। एवं एवं मधुररतिकृतो लघुत्वगुरुत्वविपर्ययः स्फुट एव। अत्र लाघवगौरवपदयोः प्रत्यक्षविन्यासादनादर एवादर इत्यत्र नातिव्याप्तिः॥

**यथोक्तं गोवर्द्धनेन—"त्वामभिलषतो भामिनि मम गरिमगुणोऽपि हन्त दोषाय।**
**पङ्किलकूलां तटिनीं पिपासतः सिन्धुरस्येव" ॥ इति।**

---

मेरी इस सेवा को स्वीकार करो, अपने सहज अरुण चरण कमलों से मेरे निकुञ्ज भवन को आज सफल करो। मेरे इस परिहास वाक्य को उसने कान के समीप तक स्पर्श भी न होने दिया अर्थात् कान ही न दिया। यहाँ 'स्फुटं.......' पद से प्रकट रूप से सर्वथा नहीं सुना परन्तु अप्रकट रूप से भली भाँति सुना और स्वीकार किया यह ध्वनित होता है। जिसका यह भाव है कि नर्मोक्ति की यह विशेषता थी, कि बहुत अधिक मात्रा में परमानन्द और उसके उत्सव से परिपूर्ण थी (ध्यान न देकर भी) उसने थोड़ा चुपचाप रुककर उस (उक्ति) के सुख का अनुभव किया और अवगुण्ठन (लज्जा) मुद्रा में अधिक देर न रुकी रह सकीं, मुख चन्द्र को उठाकर अर्थात् प्रकाशित करती हुई चल पड़ीं, साथ ही वाणी से मेरा लाघव भी व्यक्त करती बोलीं—रे गोपकिशोर! अपनी इस श्यामता से ही ऐसे गर्वित हो रहे से, सती स्त्रियों के प्रति क्या कहना—क्या नहीं कहना चाहिये, इतनी भी समझ तुम में नहीं है। जाओ किसी तालाब के जल में अपना मुख तो देखो—इस प्रकार की अनेक वाग्भंगियों से—जो स्वाभाविक नहीं थी और मन में तुरन्त रची गई थीं—आगे कुछ रुक कर मुझे व्रजेन्द्रनन्दन के भी लघुत्व (छोटेपन) का विस्तार करती हुई, परन्तु दूसरी स्त्रियों की मैत्री कृत आदर विशेष से भी सौ गुणा अधिक मेरी प्रसन्नता (प्रीति) को बढ़ानेवाली थी, न कि न्यूनता को करने वाली, यह एव शब्द का अर्थ है। इस प्रकार उस (राधा) की निरादर क्रिया से अनुमित (अन्दाजन) तुम्हारे (वृन्दा के) प्रति अपनी आज्ञा का (दर्शन कराने की) सुगमत्व ध्वनित किया। इसलिये तुम्हें प्रयत्न करना ही चाहिये यह अनुध्वनि हुई और इस तरह तुम मुझे जीवन दान करो यह प्रत्यनुध्वनि हुई। इस प्रकार मधुर रतिकृत यह उन दोनों का विपर्यय (अर्थात् लघुत्व-गुरुत्व) स्पष्ट ही है। यद्यपि लाघव गौरव और अनादर आदर एक से प्रतीत होते हैं परन्तु इस पद्य में यहाँ लाघव गौरव का स्पष्ट उल्लेख होने से दोनों में भेद है और अति व्याप्ति दोष नहीं है। इति। यहाँ इस विषय में रसिक कवि श्रीगोवर्द्धन की भी गम्भीर उक्ति है—वे कवि निबद्ध प्रौढोक्ति रूप से नायक द्वारा इसे कहला रहे हैं—

**श्लोकार्थ**—हे भामिनि! बड़े खेद की बात है, तुमको चाहते हुए भी, मेरा यह गरिमा रूप गुण (गौरव) भी दोष का हेतु हो गया है, जैसे पिपासु हाथी की कीचड़ के किनारेवाली नदी के समीप दशा होती है। टि—(यहाँ गौरव शब्द में श्लेष है—भारीपन और गुण गौरव।) इति।

सङ्केतनिकेतकुञ्जान्त: स्थितं स्वविरहविवशं स्वकान्तं स्वसखीमुखादीषन्निशम्य सत्वरमभिसारिकाम्, तत्र तमनवलोक्य अवनतवदनां सप्रतिसाराम्, पुन: परिवृत्य गन्तुकामाम्, तमागतमेव जानीहीति परिजनानुनयेन कथञ्चिदुपविष्टां वासकसज्जाम्, पुन: प्रणयोत्कलिकया क्षणादेव विप्रलब्धाम्, तत्सौन्दर्य्यस्मरणसमुदितबहुवल्लभत्वस्फूर्तिसञ्जातासूयाम्, तदनन्तरं निजान्तिकमायान्तं सौन्दर्यसागरनागरं दूरादवलोक्य मनाग् मानवतीमनुनयन् रसिकनायक: स्वस्य विलम्बेनागमनं निजापराधाभावत्वं व्यञ्जयति त्वामिति। हे भामिनि ! त्वामेवाभिलषत: "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" इति न्यायात् । सततं तवैव दर्शनादिमनोरथवतोऽपि मम सदन्वयोत्पन्नत्वेन सज्जनसम्भावितस्वभावत्वेन व्रजराजकुमारत्वेन च यो गरिमा लघिमप्रतियोगी समस्तजनादरणीयत्वलक्षण: स एव गुण: लोके गुणत्वेन प्रसिद्धोऽपि । हन्त इति खेदे। दोषायैव, अर्थात् मम तु त्वत्सम्बन्धलक्षणमहादोषोत्पादक एवाभूदिति भाव:। उक्तमर्थं पूर्णोपमया विशदयति । पङ्किलकूलां पङ्किलं घनपङ्काकुलं तीरं यस्यास्तां तटिनीं नदीम् । अत्र तटिनीपदोपन्यासात् परिकुरांकुरेणान्यत्रावतरणमार्गा भावं व्यञ्जयति । पिपासत: पातुमीहत: सिन्धुरस्य हस्तिन: गरिमागुण इव। यदि दैवदयया तस्य लघुत्वमभविष्यत् तदा तदभिलषितपूर्तिरभविष्यत्तथा ममापि। इति मधुररतिकृतोऽयं पूर्वोक्तयोर्विपर्य्यय: स्फुट एव। यथोक्तं दानकेलिकौमुद्यां श्रीरूपगोस्वामिचरणै:—"गुरुरपि गौरवचर्य्यया विहीनो जयति मुरद्विषि राधिकानुराग:" ।। इति ।

**यत्र स्तुतिरेव निन्दा ।**

---

**टीकानुवाद**—किसी प्रेमिका ने अपनी सखी से सुना, कि संकेत कुंज में विरह विवश उनके प्रियतम विराजमान हैं। यह सुनकर तुरन्त वह अभिसार के लिये तैयार हो गई, परन्तु उनको वहाँ न पाकर उसका मुख पश्चात्ताप से नीचा हो गया। फिर वह लौटकर जाने लगी, तब सखीजनों ने अनुनय किया कि उनको आया ही जान। तब वह कुछ रुककर बैठ गई और उस दशा में उसकी संज्ञा वासकसज्जा नायिका हुई। फिर प्रेम की उत्कण्ठा वश क्षण भर में वह विप्रलब्धा हो गई। प्रियतम के सौन्दर्य का स्मरण हो आने से प्रियतम के प्रति उसे बहु वल्लभत्व की स्फूर्ति हो गई अत: वह असूयावती हो गई। उसके बाद उन सौन्दर्यसार नायक को दूर से अपने समीप आते देखकर कुछ मानवती हो गई। वे रसिक नायक उसका मान मनाते हुए 'इस विलम्ब में मेरा कोई अपराध नहीं' यह अभिव्यक्त करते हैं—'सर्व....' इस न्याय से बोले हे भामिनि ! मुझे तुमसे मिलने की सदा ही अभिलाषा लगी रहती है, दर्शन का मनोरथ बना ही रहता है। परन्तु क्या करूँ ? यह उत्तम कुल में जन्म होना, सज्जनों का आदर करने का स्वभाव, और व्रजराज कुमार होने का गौरव लघुता का प्रतियोगी है। समस्त जनों से आदर प्राप्त करने का स्वभाव रूप गुण, जो लोक गुण रूप से प्रसिद्ध होते हुए भी, बड़े दु:ख की बात है कि मेरे लिये वही दोष ही है। अर्थात् मेरे लिये तो तुम्हारे साथ सम्बन्ध रूप महा दोष का उत्पादक ही हुआ यह भाव है। इस अर्थ को 'पूर्णोपमालङ्कार' से स्पष्ट करते हैं—ऐसी नदी जिस का किनारा घने कीचड़ से भरपूर है। 'तटिनी........' पद का उल्लेख—'परिकरांकुर' नामक अर्थालङ्कार द्वारा इस बात को व्यञ्जित करता है, कि किसी दूसरी जगह उसके उतरने का रास्ता ही नहीं, तथा जल पीने की इच्छा वाले हाथी का भारी होना गुण ही है। यदि दैव की दया से उसमें लघुत्व होता तो उसके अभिलाषा की पूर्त्ति हो जाती वैसे ही मेरी भी। यह मधुर रतिकृत पूर्व वर्णित दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है—जैसे कि रूप गो० पाद ने दानकेलि कौमुदी काव्य में कहा है—'श्रीकृष्ण की राधारानी का प्रेम गुरु होते हुए भी गौरव चर्या रहित होकर सर्वोत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है। इति।

**मूलानुवाद**—जहाँ स्तुति ही निन्दा समझी जाती है—ग्रन्थकार की अपनी रचना उदाहरण में है—

**यथा वा—त्वय्येव सुभग सुतरां सेयं संभाविताश्रिता सरणिः ।**
**संप्रति जगति जनानां वचसि किमपि मानसे किमपि ॥ ८८ ॥**

कदाचिद् मधुरमधुरमृदुलतरविविधविनयवचनरचनाभिः कान्तामनुनयन्तं सहसा संजातगोत्रस्खलनतया अवनतविवर्णवदनं कान्तं धीरा मानवती किंचिदवगुण्ठनमपसार्य्याऽनुनीतस्मिता स्तुवन्तीवाह—त्वय्येवेति । हे सुभग ! हे सुन्दर ! इति संबुद्धया तस्य बहुवल्लभत्वं ध्वनितम् । ततस्तव तादृग वचनमुचितमेवेत्यनुध्वनिः । अतो मम किं मानेन किं तवानुनयेनापीति प्रत्यनुध्वनिः । या संभाविताश्रिता संभावितैः सच्चरितैः साधुभिः सत्ययुगादौ आश्रिता सेविता सा सरणिः पदवी मार्ग इति यावत् । "सारणिः पद्धतिः पद्या" इत्यमरः । सुतरामतिशयेन त्वय्येव, तिष्ठतीत्याक्षेपलब्धम्, नान्यत्र दृश्यते इत्येवशब्दार्थः । यतः संप्रति इदानीं जगति सर्वस्मिन्नेव जनानां त्वद्वचतिरिक्तानां सर्वेषामेव मनसि किमपि अन्यदेव, वचसि वचने किमपि अन्यदेव दृश्यते इत्यर्थः । अतो यदेव मनसि तदेव वचसीत्ययं सभावितमार्गः सत्यवक्तृत्वलक्षणः त्वय्येवेति स्तुतिर्निन्दैवेति मधुररतिकृतोऽयं स्तुतिनिन्दयोर्व्यत्ययः स्फुट एव ॥ ८८ ॥

**यथा वा—शिरस्तु सन्तो ददति स्वकीयं निशम्य निन्दां दयितस्य तस्य ।**
**श्रुत्वैव सद्यः स्तवमप्यमुष्य दातुं शिरः स्वं वयमेव शूराः ॥ ८९ ॥**

कदाचित् केनापि कंससेवकेन कृतं नन्दनन्दनस्य निन्दनं निशम्य सद्यस्तं हन्तुमुद्यतायुधैस्तदनुगैर्निन्दनसमयेऽपि प्रमुदितवदनत्वादपूर्वोऽयं भक्त इत्युपहसितः कोपि तन्माधुर्य्यामृतजीवातुकः निर्मञ्छनीकृत-

---

**श्लोकार्थ**—हे सुन्दर चरित्रवान पुरुषों द्वारा स्वीकृत (मन वाणी की एकता रूप) यह पद्धति केवल तुम में ही शोभित हो रही है, इस समय तो संसार में मनुष्यों की वाणी में कुछ, और मन में कुछ होता है ॥ ८८ ॥

**टीकानुवाद**—किसी समय मीठे मीठे, अति कोमल अनेक प्रकार के विनय भरे वचनों की रचना से कोई प्रेमी अपनी प्रियतमा का अनुनय कर रहा था । इस प्रसङ्ग में उसके मुख से सहसा कोई गोत्रस्खलन (संभवतः अन्य नायिका स्फुरण) की बात बोली गई । इस पर उसका मुख कुछ नीचे झुक गया और फीका पड़ गया । धीरा मानवती नायिका ने उस दशा में घूँघट हटाकर कुछ मुस्कराहट से उसकी प्रशंसा करते बोली—हे सुन्दर ! —इस सम्बोधन में उसका बहु वल्लभत्व ध्वनित हुआ है तथा साथ ही यह अनुध्वनि भी है कि तुम्हारा वैसा कहना उचित ही है इसलिये मेरा मान और तुम्हारा अनुनय भी क्या (दोनों निष्प्रयोजन) यह प्रत्यनुध्वनि हुई । जो पद्धति सत्य युगादि में साधु पुरुषों द्वारा सेवित (आचरित) की गई वह अतिशयेन तुम में ही विराजमान है यहाँ सरणि, पद्धति, पद्या आदि अमर कोष के अनुसार पर्यायवाची शब्द हैं और 'तिष्ठति' यह क्रिया ऊपर से जोड़नी चाहिये । यह बात दूसरी जगह नहीं दीखती है यह 'एव' शब्द का अर्थ है । क्योंकि इस समय संसार में तुम्हारे अतिरिक्त मनुष्यों के मन में कुछ और वाणी में कुछ और देखा जाता है अतएव जो मन में, वही वचन में यह सत्यवादिता का साधु मार्ग, तुम में ही है । इस प्रकार ऐसी स्तुति निन्दा ही है । मधुर रतिकृत स्तुति-निन्दा इन दोनों का विपर्यय यहाँ स्पष्ट ही है ॥ ८८ ॥ ग्रन्थकार की उक्ति है जैसे—

**श्लोकार्थ**—उस प्रियतम की निन्दा सुनकर सन्त हृदय लोग अपना सिर दे देते हैं और उनकी स्तुति सुनकर तुरन्त अपना सिर देने के लिये हम ही शूर वीर हैं ॥ ८९ ॥

**टीकानुवाद**—एक समय कंस के सेवक ने श्रीनन्दनन्दन की निन्दा की, उसको सुनते ही तुरन्त उसे मार देने के लिये श्रीकृष्ण के सेवकों ने शस्त्र उठा लिये । निन्दा के समय भी उसका मुख प्रसन्न देखकर यह अपूर्व भक्त है—ऐसा किसी ने उपहास किया । उनका माधुर्य्यामृत ही जिसका जीवन है, जो अपने

प्राणो बहिरेवाभिव्यक्तपुंभाव एते सानुरागं तन्मुखमवलोकयन्त: (न्ति ?) इति तादृशप्रेम्ण: सहजस्वभावा-त्रिजनयनयोरपि सासूय: परमासक्तभक्तोत्तम: शनैस्तान्प्रत्याह—शिर इति। तस्य मदीयजीवनस्य सौदर्य्य-सागरस्य, दयितस्य, अर्थात्तेषां प्रीतिप्रेयोमयतया तस्य निन्दां निशम्य ये स्वकीयं शिरो ददति, ते ददतु दातुमुद्यता: भवन्तु। साधव: सन्त: समीचीना एवेति स्तुत्या निन्दैव। ददतीत्यत्र पूर्वमाङ्पसर्गाप्रयोग: "शूरैरपि सदा ध्येयो जयात्पूर्वं पराजय:" इति न्यायेन ज्ञेय:। एवमग्रेऽपि। परन्तु अमुष्य तस्य मम प्राणप्रियस्य स्तवं स्तोत्रम्—श्रीकृष्ण: परमसुन्दर:, परमरसिक:, युवतीनां मनोमोहन इत्यादिलक्षणम्—श्रुत्वैव सद्यस्तत्क्षणमेव स्वकीय शिरो दातुं वयमेव शूरा:, नान्ये भवद्विधा इति तेषामाक्षेप:। अयं भाव:—यस्तु निन्दति स तु न:स्नेह एव, ये तु हन्तुमुद्यतास्तेऽपि स्वप्रभुं सखायं वा मत्वा तं पश्यन्तु, तत्र न ममासूया-लेशोऽपि ये तु "सुन्दरोऽयं रसिकोऽयम्" इति परोक्षेऽपि वदन्ति, तेभ्य: शिर: समर्पयितुं वयमेव शूरा:। एवञ्च मधुररतिकृतोऽयं स्तुतिनिन्दयोर्विपर्य्ययोऽत्यन्तस्फुट एव॥ ८८॥

**यत्र निन्दैव स्तुतिरस्ति। यत्रेति स्पष्टार्थ:॥**

**यथा वा—"विशदं प्रतिवेशि पयोजमणिद्वितयं नसि चारुरुचाऽरुणितम्,**
**मृदुना सुचिरादधरेण कृतं द्विजवृन्दमद: स्वरमासहितम्।**
**सखि! येन मन:पिहितप्रियसंगमसूचनमेव सदाऽवसितम्,**
**तदनेन सदा निजसीमसितं निजमन्दतयैव सितं हसितम्॥ ९०॥**

---

प्राणों को उन पर न्यौछावर करता है, जिसका पौरुष ऊपर ही दीखता है (भीतर नहीं है)। ऐसे यह बड़े अनुराग से उसका मुख देख रहे हैं। जिसके नेत्रों में भी सहज स्वाभाविक प्रेम का उदय हो गया है वह परम आसक्त उत्तम भक्त असूया के साथ उनके प्रति शान्ति से बोला—उन मेरे जीवन सौन्दर्य के समुद्र प्रियतम की अर्थात् उनकी प्रीति प्रेयोमयता (दासता) वश निन्दा को सुनकर जो अपने सिर दे देते हैं वे अवश्य देने को उद्यत हों, वे साधु हैं, सन्त हैं, समीचीन (सच्चे) हैं ही, इस स्तुति से निन्दा ही है। 'ददति' इस क्रिया से पहले 'आङ्' उपसर्ग का प्रयोग न होना 'शूरै....' इस न्याय से समझना चाहिये और ऐसा आगे भी अर्थात् "जय से पूर्व शूर वीर लोग पराजय का भी ध्यान रखकर आगे बढ़ते हैं।" परन्तु उस मेरे प्राण प्रिय की स्तुति अर्थात् श्रीकृष्ण परम सुन्दर हैं, परम रसिक हैं, युवतियों के मन मोहक हैं इत्यादि-रूप स्तुति को सुनते ही तत्क्षण अपने सिर को देने के लिये तो हम ही शूर हैं तुम्हारे जैसे नहीं यह उनका आक्षेप वचन है—भाव यह है कि जो निन्दा करता है वह स्नेह हीन ही है और जो मारने को उद्यत हैं वे भी श्रीकृष्ण को अपना प्रभु अथवा मित्र मानकर उसको देवे, वहाँ मुझे लेश (तनिक) भी असूया नहीं है, किन्तु जो, यह सुन्दर हैं, यह रसिक हैं, ऐसा परोक्ष में भी कहते हैं उनको सिर देने के लिये हम ही शूर हैं—इस प्रकार मधुर रतिकृत स्तुति निन्दा का विपर्यय स्पष्ट ही है॥ ८९॥ टि—(इसमें यह भाव प्रतीत होता है कि अपने प्रभु या मित्र के सामने उसकी निन्दा की जा रही है, इसे सुनकर डींग मारनेवाले तो बहुत हैं परन्तु उनके परोक्ष—पीठ पीछे होनेवाली निन्दा को सुनकर सिर बलिदान करनेवाले तो हम ही हैं)॥ ८९॥

**मूलानुवाद**—जहाँ निन्दा ही स्तुति समझी जाती है—

अपने कृतार्थ भाव को कोई प्रेयसी, अपनी प्रिय सखी से गुप्त रखना चाहती थी परन्तु उस (प्रेयसी) के वैसे चिन्हों से उसने सहज जान लिया। इस पद्य में दूसरी सखी इसे कह रही है—

**श्लोकार्थ ९०**—हे सखि! तुम्हारे सुन्दर अधर के पड़ोसी और नासिका में विराजमान यह जलजमणि सुन्दर कान्ति से स्पष्ट अरुणित हो रही है तथा उस कोमल अधर ने बड़ी देर से उस दन्त समूह

प्रियतमसमागमसमुदितविविधविलाससुखसमूहे तत्क्षणमिव सन्नीतसकलरजनीकां कथमप्युषसि मञ्जुलकेलिकुञ्जमन्दिरद्वारादितस्ततः सशङ्कमवलोक्य, शनैर्निःसृतां प्रसादसुमुखीं कान्तामवलोक्य सहर्षं काचित् प्रियसहचरी त्वयापलपितमपि रजनीरहस्यमेतत्तव मृदुहास्यमेव स्फुटमनुलपतीति व्यञ्जयन्ती निन्दा-व्याजेन तदवदातमन्दस्मितं स्तौति—विशदमिति। तत्र चतुश्चरणस्यास्य कवित्वस्य तृतीयपादादौ सखि ! इति सम्बुद्धचा पारस्परिकप्रणयास्पदत्वं ध्वनितम्। ततस्तत्पुरतस्त्रपयावहित्थादिचातुर्य्यं विफलमित्यनु-ध्वनिः। अमुना तवाधरेण विशदं सततान्तर्बहिः स्वच्छतासरसतासुवृत्ततागुणसमेततया तत्प्रतियोगिमालिन्य-शून्यम्। नसि नासायामित्यधिकरणे सप्तमी। अलङ्कृतनासिकोन्नतपदमित्यर्थः। तत एव प्रतिवेशि निज-निकेतनानतिदूरनिवासमपि पयोजमणिद्वितयं मुक्ताफलयुगलं चारुरुचा, अर्थात् स्वस्यैव बिम्बबन्धूकविद्रुमे-भ्योऽपि चारुर्मनोहारिणी या रुक् कान्तिस्तया अरुणितमरुणतां नीतम्। पुनर्यथा मृदुलस्वभावेन केनापि पुंसा स्वसदनाश्रितं द्विजवृन्दं विप्रकुलं दानादिभिर्निजसम्पदामास्पदं क्रियते, तथा स्वभावत एव मृदुना तेनैव सुचिरात्तदुत्पत्तित एव अदः कुन्दकलिकाकमनीयं निजनिकेताश्रितं द्विजवृन्दम्, श्लेषेण दन्तपक्तिः, स्वरमा-सहितं निजारुणलक्ष्मीसमवेतं कृतम्, किन्तु त्वदधराङ्के विलुठदपि हसितं निजमन्दतयैव। नात्र कोप्यपराध इत्येवशब्दार्थः। सितमुज्ज्वलमेव न मनागप्यरुणम्। तन्मन्दतामेव विशदयतित्वया स्वमनसोऽपि पिहितः

---

को अपनी शोभा से युक्त बना दिया है। जिससे मन में छिपे हुए प्रिय संगम की निरन्तर सूचना हो रही है। इसी कारण अपनी सीमा से ही सित (स्वच्छ) तुम्हारा मन्द हास्य भी श्वेत हो रहा है॥ ९०॥

टि—(हास सहज श्वेत रूप से वर्णन होता है यहाँ अधर की श्वेतिमा से और अधिक श्वेत उसे व्यञ्जित किया गया है)—

**टीकानुवाद**—प्रेमवती नायिका की प्रियतम के समागम से उत्पन्न हुए अनेक विलास सुखों में रात्री एक क्षण के समान व्यतीत हो गई। किसी तरह प्रातः अरुणोदय उस सुन्दर निकुञ्ज मन्दिर के द्वार से, इधर-उधर सशंक दृष्टि से देखती हुई, चुपचाप प्रसन्न मुद्रा में निकलती हुई, उस कान्ता को निहार कर, उसकी कोई प्रिय सखी बड़े हर्ष से बोली—तुम्हारे द्वारा गत रात्री के रहस्य को छिपाये जाने पर भी, तुम्हारा यह मृदु हास्य ही बार-बार स्पष्ट ही बता रहा है, ऐसा व्यञ्जन करती हुई निन्दा व्याज से, उसके स्पच्छ मन्द स्मित की स्तुति करती है—उस प्रसंग में चार चरणवाले इस पद्य के तीसरे चरण के आरम्भ में 'सखि !' यह सम्बोधन परस्पर प्रीति की पात्रता को ध्वनित करता है। इसलिये इसके सामने लज्जा, अवहित्था (आकार गोपन आदि चतुराई) विफल हैं यह अनुध्वनि हुई। तुम्हारा यह अधर अत्यन्त स्वच्छ है अर्थात् सदा अन्दर और बाहर भी स्वच्छता, सरसता और मण्डलाकारता गुणों से युक्त होने के कारण इसके प्रतियोगी मलिनता आदि से रहित है। 'नसि' यहाँ अधिकरण में सप्तमी है। अलङ्कारों से शोभित नासिका को इसमें श्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है। इसी कारण प्रतिवेशि—अर्थात् अपने भवन के समीप निवासी भी यह मुक्ताफल युगल अपनी ही (समानता के) विम्बाफल, बन्धूक पुष्प और विद्रुम मणियों की अपेक्षा भी मनोहारी शोभा—छटा से युक्त है जो उससे अरुण भाव को प्राप्त हो रही है। फिर जैसे कोई सरल स्वभाव का पुरुष अपने गृह आश्रित विप्र समूह को दानादि देकर अपनी सम्पत्तियों का स्थान अर्थात् अपने समान बना लेता है, वैसे ही स्वभाव से ही कोमल अधर ने आरम्भ से ही कुन्द कली के समान सुन्दर अपने निकट आश्रित द्विज वृन्द श्लेष में दन्त पंक्ति को अपनी अरुण शोभा से युक्त बना दिया है किन्तु तुम्हारे अधर रूप अङ्क में लोट-पोट हुआ भी यह हास अपनी मन्दता से ही युक्त रहा। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं यह 'एव' शब्द का अर्थ है। वह 'सित' केवल उज्ज्वल ही-किन्तु थोड़ा भी अरुण नहीं। आगे उसकी मन्दता को स्पष्ट करते हैं। तुमने जिस अपने प्रिय संगम को परिजनों से तो क्या अपने मन से भी छिपा कर रखा अथवा मन में ही छिपाकर प्रिय सखियों के सामने भी जिसे प्रकट नहीं करना चाहा, उस

पिधानोचितः किमुत परिजनतः, यद्वा, मनस्येव पिहितः संवृतः प्रियपरिजनपुरतोऽपि नाविष्कृतो यः प्रियसङ्गमस्तस्य सूचनं पैशुन्यमेव, न (पत्यादिसङ्गमसूचनम्—इति वा पाठः) सख्यादिसङ्गमसूचनम्, सदैव न कदाचिद्, येनावसितमेवावश्यकर्त्तव्यतया निश्चितम्, नाकस्माद्भ्रमप्रमादापतितमित्येकस्याप्यवधारणस्यार्थसौष्ठवात् त्रिधोपयोगः। ततः 'यत्तदोनित्यसम्बन्धात्' तद् हसितम् अनेनातिमृदुनापि तवाधरेण परमापराधभाजनतया निजसीमनि स्वान्तिक एव सितं निबद्धम्। "षिञ् बन्धने" इत्यस्मान्निष्ठा। ततो मनागपि बहिर्गन्तुमनीशमिति गम्योत्प्रेक्षा। तल्लक्षणं चन्द्रालोके—"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः। उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः॥ तदभावे तु विज्ञेया गम्योत्प्रेक्षा मनीषिभिः"। इति। अत्र हसितस्य निन्दासमर्थनार्थं प्रयुक्तमपि पिशुनत्वं निबद्धत्वं सितत्वं मन्दत्वञ्च स्तुतिपर्य्यवसाय्येव, स्मितस्य तथैव शोभाविशेषोदयशालित्वेन महाकविभिस्तत्रतत्र बहुशो वर्णितत्वात्। सख्याः सख्यरतिकृतोऽयं निन्दास्तुत्योर्मधुररतिपोषको विनिमयः सम्यक् प्रकारेण स्पष्ट एव। अतो नात्राधिकव्याख्यानावसरः॥

**सख्यः सहायतां यात पश्यताऽस्यापि विक्रमम्।**
**मन्दो मरुन्मत्समीपे मानिनीमानिनीषति॥ ९१॥**

मञ्जुलवञ्जुलनिलयान्तर्निजकलितललितकुसुमकिसलयशयनः सरसीरुहनयनः सहसा समागतमन्दमलयानिलमिलनसन्धुक्षितविरहानलः शतशो विफलगतागतनुनयखिन्नखिन्नाङ्गमनोवचसः कथमपि मानवतीं प्राणधीशामनुनीयानेतुमनीशा वृन्दावीराद्याः स्वसखीः पुनरपि तत्रैव प्रेषयिष्यन्सोपपत्तिकं शनैराह—

---

संगम का पैशुन्य (चुगली) करना ही जिसने अपना अवश्य कर्तव्य रूप से निश्चित किया। इसने सख्यादि संगम को कदाचित् नहीं किन्तु सदा ही सूचन किया। इस प्रसंग में 'एव' शब्द का एक बार प्रयोग भी अवधारण की अर्थ सुष्टुता के कारण तीन बार हुआ है, अकस्मात् या भ्रम, प्रमादवश नहीं। 'यत् और तत्' शब्दों का नित्य सम्बन्ध है इस कारण से यहाँ 'हसित्' के साथ 'तत्' पद जोड़ना चाहिये, जिसका अर्थ होगा 'वह हसित'। यह तुम्हारा अति कोमल अधर भी, जो अपराधों का पात्र है उसको तुमने अपने समीप ही बान्ध कर रख छोड़ा है। यहाँ 'सितं' यह बन्धनार्थक 'षिञ्' धातु से निष्ठा है—'क्त' प्रत्यय करने से सिद्ध हुआ है। जिससे वह तनिक भी बाहर जाने में समर्थ नहीं है। यह यहाँ 'गम्योत्प्रेक्षालङ्कार' है—उसका लक्षण चन्द्रालोक में बताया गया है—'मन्ये....इत्यादि' पदों से उत्प्रेक्षा व्यक्त होती है 'इव' शब्द भी वैसा ही है। इनके अभाव में व्यक्त होनेवाली उत्प्रेक्षा को विद्वान लोग 'गम्योत्प्रेक्षा' कहते हैं। यहाँ हसित की निन्दा का समर्थन करने के लिये भी प्रयुक्त हुए पिशुनता (चुगली), निबद्धता, सितता, मन्दता आदि पदों का प्रयोग स्तुति में ही पर्यवसित है। स्मित का उसी प्रकार शोभा विशेषोदयशाली (विशेष शोभा का उद्गम करने वाला) होने के कारण महाकवियों ने उन-उन स्थानों में बहुत प्रकार वर्णन किया है। सखी के द्वारा सख्य रतिकृत यह निन्दा स्तुति का मधुर रति का पोषक विपर्यय भली भाँति स्पष्ट ही है। इसलिये यहाँ अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं है॥ ९०॥ पूर्ववत ग्रन्थकार पद्य है—

**श्लोकार्थ ९१**—हे सखियो! आप मेरी सहायता करो और इस मन्द वायु की भी प्राक्रम देख लो। यह उस मानिनी को मेरे समीप ले आना चाहता है॥ ९१॥

**टीकानुवाद**—एक कमल नयन प्रेमी सुन्दर अशोक कुञ्ज के भीतर अपने हाथ से पुष्प और पल्लवों की शय्या रचकर प्रतीक्षा कर रहे थे। कि उस समय अचानक मन्द-मन्द मलयानिल का झोंका आया, उससे उनका विरहाग्नि प्रज्वलित हो गया। वृन्दा और वीरा आदि उनकी अपनी सखियें, मानवती नायिका को मनाने के लिये सैकड़ों बार विफल हो चुकी थीं उनका बार-बार जाना-आना, अनुनय-विनय करना रूप प्रयास से उनके अङ्ग, मन, वाणी अत्यन्त खिन्न हो गये थे। वे किसी भी प्रकार प्राणाधीश मानवती को

सख्य इति। हे सख्यः! इति सम्बोधनेन कमलकोमलकमनीयस्वकलेवर कदनमविचार्य्य मदुपकृतये कृत-संकल्पा यूयमेव सत्याः सख्य इति ध्वनितम्। तदुक्तम्—

"करावित्र शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी। अविचार्य प्रियं कुर्यात्तन्मित्रं मित्रमुच्यते॥" इति।

अन्यास्तु सख्याभासा एवेत्यनुध्वनिः। अतः श्रान्ता अपि यूयं यथाकथमपि मदुपकृतये मदुक्तं यत्नान्तरं कुरुतेति प्रत्यनुध्वनि। तामानेतुं बद्धपरिकरः सञ्चलितोऽयं मन्दः सावलेपतया मन्थरः, श्लेषेण युष्मद्विक्रमासाध्यं कर्म्म सिसाधयिषुरयं महामूर्खस्तां मानिनीं मत्समीपमानिनीषति आनेतुमिच्छति, अत एतस्य सहायतां यात—चलितस्यास्य सहायार्थं यूयमपि शनैरनुयात। ननु कोऽयं मन्दो वराको यदनुगतयेऽस्मानाज्ञापयसीत्यत आह—मया तु निश्चितं युष्मत्साध्यं कर्म्म शीघ्रं विलम्बेन वा युष्माभिरेव सेत्स्यतीति, तथापि मन्दस्यास्य स्वविक्रममविचार्य्य मदुपकृतये सोत्साहस्य विक्रमं पश्यत। एतस्य यत्किञ्चिद्विक्रमानन्तरमेतत्सहायमिव विधायानुनीय तामानयतेति एतस्याविचारितस्वविक्रमस्य विक्रमाभासावलोकनाय युष्मान्प्रेषयामि, ममाभिलषितलाभस्तु भवतीभिरेव भविष्यतीति भावः। अत्र श्लेषेणापि मलयमारुतस्य निन्दार्थं प्रयुक्तमपि मन्दपदं स्तुतावेव पर्य्यवसितम्, तस्य तथैव सुखदत्वेन श्लाघनीयत्वात् अत्रापि मधुररतिकृतोऽयं निन्दास्तुत्योर्विनिमयः सम्यक् स्पष्टतर एव॥ ६१॥

---

अनुनय करके ले जाने में समर्थ नहीं थीं। उनको फिर भी वहाँ भेजने की इच्छा से युक्ति पूर्वक समझाते हैं—सखियो! इस सम्बोधन से यह ध्वनित होता है कि कमल के समान कोमल, सुन्दर अपने शरीर की क्षति की परवाह न करके, मेरे उपकार के लिये कृत (दृढ़) संकल्प, तुम लोग ही सच्चे मित्र हो—जैसा कि कहा भी है—

**श्लोकार्थ**—जैसे दोनों हाथ शरीर की, पलकें नेत्रों की बिना विचारे हित करती हैं वैसे ही जो मित्र बिना विचारे हित करता है वही मित्र कहा जाता है। इति॥

और तो केवल नाम मात्र की सखी हैं यह अनुध्वनि है। इसलिये तुम चाहे थक भी गई हो, तो भी जैसे भी बने वैसे मेरे उपकार के लिये मेरे द्वारा बताये गये दूसरे प्रयत्न को करो यह प्रत्यनुध्वनि है। अब मन्द वायु चल पड़ी है उस प्रेयसी को लाने के लिये इसने कमर कसी है, अभिमान का बोझ होने के कारण मानो यह मन्द अथवा मन्थर गति है। श्लेष से यह अर्थ निकला तुम्हारे पुरुषार्थ मे जो सिद्ध नहीं हुआ, उसे सिद्ध करने को यह महामूर्ख तय्यार हुआ (यह वायु) उस मानिनी को मेरे समीप ले आना चाहता है, इसलिये (स्वयं) चल पड़े इसकी सहायता के लिये तुम लोग भी इसके पीछे हो लो। यदि वे कहें कि यह विचारा कौन है जिसके पीछे जाने की हमें आज्ञा दे रहे हो, इस पर कहा—मेरा तो निश्चय है कि तुम्हारे द्वारा सिद्ध होनेवाला कार्य देर से तुम्हारे ही द्वारा सिद्ध होगा, फिर भी इस मन्द के अपने पुरुषार्थ पर बिना विचारे किये गये मेरे उपकार के लिये इस उत्साही का पुरुषार्थ भी देख लो। इसके कुछ पराक्रम दिखाने के बाद, इसकी सहायता सी करके उसे अनुनय करके ले आओ। इसने अपने प्राक्रम पर कोई विचार नहीं किया, इसके नाम मात्र के विक्रम को देखने के लिये तुम लोगों को (पीछे-पीछे) भेज रहा हूँ। मेरा अभिलषित लाभ तो तुम्हीं लोगों द्वारा होने का है यह भाव है। यहाँ श्लेष के द्वारा मलय मारुत की निन्दा के लिये प्रयुक्त किया 'मन्द' पद स्तुति में ही पर्यवसित है, क्योंकि वह उस प्रकार सुखद होने से प्रशंसनीय है। यहाँ भी मधुर रतिकृत निन्द-स्तुति उन दोनों का उलट फेर भली भाँति स्पष्ट ही है॥ ६१॥ पुनः ग्रन्थकार का पद्य है—

**श्लोकार्थ**—हे सखि! मेरे हृदय रूप भूमि में प्रीति रूप बीज को, जो गुप्त रीति से तुमने बोया है वह अब नवीन बादलों के जलसिंचन से घनत्व को प्राप्त हुआ है। अब उस पर मेरे प्रति दुर्बुद्धि रखनेवाले जनों की निन्दा रूप चान्दनी से युक्त यह दोष रूप चन्द्रमा उदय हुआ है॥ ६२॥

**हृदि भुवि रतिबीजं यत्त्वया गुप्तमुप्तं नवघनरससेकैरालि ! भेजे घनत्वम् ।**
**अथ तदुपरि निन्दाकौमुदीवानुदीयान्मयि मलिनमतीनां दोषधीरोषधीशः ।। ६२ ।।**

अयि कुलवति ! गोकुलेऽस्मिन् प्रतिसदनं प्रतिजनवदनं प्रवृत्ता तवापवादप्रवृत्तिस्तद् बहिरन्तरस्मितेन तेन समं किमनेन प्रणयानुबन्धेनेति निजोपशिक्षितप्रणयपरिणामपरीक्षणाय सखीसंसदि सावहित्थमुपदिशन्तीं प्रियसखीं सासज्जनावज्ञं सावलेपं सभयाभावं सहसितं सहर्षमाह—हृदीति । आलि ! प्रियसखि ! इति सम्बुद्ध्याऽनभिज्ञानां गुरुजनानां तथा पुरजनानांञ्च नानाविधनिन्दनं न मां मनागप्युपतापयति, मदिङ्गितज्ञायास्तव तु उपदेशलेशोऽपि परमारुन्तुद इति ध्वनितम् । तदलं तवोपदेशप्रलापैरित्यनुध्वनिः । मदभिप्रायमप्याकर्णयेति प्रत्यनुध्वनिः । तामेवमाभाष्याऽभिमुखीकृत्य निजसत्यव्रतत्वमभिव्यञ्जयन्त्याह—यत्पूर्वं त्वया रतिबीजं मनाक् तद्गुणमाधुर्य्यरसज्ञताद्यात्मकं प्रणयबीजं हृदि भुवि मदीयमृदुहृदयानूषरक्षेत्रे गुप्तं निभृतं यथा स्यत्तथा उप्तं निक्षिप्तम् । उप्तमिति "टुवप् बीजसन्ताने" इत्यस्य रूपम् । तद् यथा सद्भूमावुप्तं बीजं नीरसेकेनैव घनीभवति तथा नवघनस्यातिशयोक्त्या श्यामसुन्दरतारसवर्षितातापहारितादिसाधारणधर्म्मैर्व्रजनवयुवराजस्य रससेकैस्तत्कर्तृकभ्रूभङ्गापाङ्गानुनयाभिवादनवेणुवादनादिभिः शृङ्गाररसात्मकैः सेकैरिव सेकैर्निषिञ्चनैः । अत्र बहुत्वं मुहुः सेकव्यञ्जकम् । घनत्वं भेजे घनीभाव प्रापेत्यर्थः । अथानन्तरं तदुपरि प्रेमक्षेत्रोपरि मलिनमतीनां स्वारसिकमलिनबुद्धीनां मयि या दोषधीरसद्बुद्धिः सैव ओषधीशश्चन्द्रः जनकृतनिन्दैव सर्वतः प्रकाशकत्वप्रसरणादिसाधारणधर्म्मैः कौमुदी जोत्स्ना तद्वान् तत्समवेतः सन् काममुदीयादुदयं प्राप्नुयादिति । ईगताविवत्यस्य रूपम् । तथा च प्रयुक्तोऽयं महाकविना श्रीहर्षेण नैषधे—"उदित-

---

**टीकानुवाद**—किसी प्रेमिका सखी ने श्रीराधारानी को समझाया—हे कुलीने ! इस गोकुल के घर-घर में और जन-जन के मुख से तुम्हारे अपवाद की कथा प्रवृत्त हो रही है । इसलिये बाहर-भीतर से कृष्ण, उसके साथ अब प्रेम जोड़ना ठीक नहीं है । इस पर अपने द्वारा शिक्षित प्रेम परिणाम की परीक्षा के लिये, सखियों की सभा में अपने आकार को छिपाकर उपदेश देती हुई प्रिय सखी के प्रति वह, दुर्जनों की अवज्ञा के साथ गर्व से, निर्भीक होकर हँसती हुई हर्ष से बोली—हे प्रिय सखि ! —इस सम्बोधन से यह ध्वनित है कि इस (प्रेम) रहस्य को न जाननेवाला गुरुजन तथा नगर निवासियों द्वारा अनेक प्रकार की निन्दा मुझे जरा भी दुःख नहीं देती है जैसा मेरी चेष्टाओं को जाननेवाली तुम्हारा यह उपदेश लेश भी मुझे पीड़ा पहुँचाता है । इसलिये तुम अब इस अपने उपदेश प्रलाप को बस करो यह अनुध्वनि है, और मेरे अभिप्राय को जरा सुनो यह प्रत्यनुध्वनि हुई । उसके प्रति ऐसा कहकर सामने करके अपने सत्यव्रत को प्रकट करती बोली—तुमने जो उनके थोड़े से गुण माधुर्य, रसज्ञता आदि रूप प्रीति के बीज को मेरे कोमल हृदय रूप ऊसर क्षेत्र में गुप्त रीति से बोया है । बीज सन्तानार्थ 'टुवप्' धातु को 'उप्तम्' यह रूप है । जैसे श्रेष्ठ भूमि में बोया गया बीज जल के सिंचन से बढ़ने लगता है वैसे ही नव घन का अतिशयोक्ति से श्यामसुन्दरता-रसवर्षिता, ताप हारिता आदि साधारण धर्म्म से युक्त व्रज नव युवराज के द्वारा रस सिञ्चन से अर्थात् उनके द्वारा प्रयुक्त भ्रूभङ्ग, अपाङ्ग, अनुनय, अभिवादन, वेणुवादन आदि रूप शृङ्गार रसात्मक मानो सिञ्चनों से वह पुष्टि को प्राप्त है । यहाँ सिञ्चन में बहु वचन बार-बार सिञ्चन करने का द्योतक है । इसके बाद उस प्रेम क्षेत्र के ऊपर स्वभाव से ही मलिन बुद्धिजनों की मेरे प्रति जो असद् बुद्धि उत्पन्न हुई है वही एक प्रकार से औषधियों का राजा दोषबुद्धि है और जन कुल निन्दा ही चारों ओर प्रकाश और प्रसार (विस्तार) आदि साधारण धर्मों से युक्त उसकी चान्दनी है । उससे युक्त होक यह चन्द्रमा भले ही उदय को प्राप्त होवे । 'उदीयात्' यह गत्यर्थक 'ई' धातु का रूप है । महाकवि श्रीहर्ष के द्वारा नैषध चरित्र में इसका प्रयोग हुआ है—जैसे चन्द्रमा अन्धकारमयी रात्रियों के तमः पुञ्ज से ढके हुए वन, उपवन, आराम

स्तम्भो न धर्त्तुं सहसा शशाक" इति। यथा चन्द्रस्तामसीतमःपुञ्जपिहितं स्वस्यौषधीशत्वादात्मपोष्यं वनोपवनारामक्षेत्रादिकं निजकौमुदीभिः प्रकाश्य सम्पोष्य समेधयति, तथा मयि दोषधीलक्षणोऽयमौषधीशः अपत्रपातामसीतमःपुञ्जपिहितं प्रणयक्षेत्रं जननिन्दाकौमुदीभिः सम्प्रकाश्य सम्पोष्य समेधयितुमुदयं प्राप्नोतु—इति ममात्यन्ताभीप्सिततमामाशिषमिमामहमिष्ठदेवं भगवन्तं भास्करं साञ्चलप्रसारमभ्यर्थयामि। भवती तु वृथैव भीता भवतीति भावः। अत्र "ओषधीशः, भुवि, बीजम्, उप्तम्" इति पदचतुष्टयेन प्रेम्णो महौषधित्वमारोपितम्, तेनात्मनस्तदेकजीवातुकत्वं ध्वनितम्। तत्त्यागे जीवनमेव न स्यादित्यनुध्वनिः। ततो दुर्जनसारमेयभषितैस्त्वं किमिति विषीदसीति प्रत्यनुध्वनिः।

"ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम्"। इति श्रीभागवते।

यथा—"दिवि भूमौ च ते राजन् राजते कीर्तिचन्द्रमाः" इति बृहत्कथायाम्।

तथा—"विहाय कल्पद्रुमहो सुधान्धसां त्वत्कीर्तिकल्पद्रुममाश्रिता वयम्।"

इति कृष्णकौतुके जयदेवः।

"वयं हरेर्मञ्जुनिकुञ्जकेलिपयोधिकल्लोलकृतावगाहाः"। इति गोपाल भट्टाः।

"घण्टालं साधुवादैरनभिमतयशो देव ! मृद्नन्मृणालं। युष्मत्कीर्त्यभ्रकुम्भी जगदुदरसरः-सम्भ्रमी बम्भ्रमीति॥" (अभ्रकुम्भी=अभ्रमातङ्गः, ऐरावत इति यावत्।) इति कालिदासः।

"भूभृत्त्वभीत्येवौदीच्याः शैला हिममिषादधृतैः। देव ! त्वत्कीर्त्तिकर्पूरपूरैरेव कृताः सिताः"॥

इति कुलपतिकविरिदानीन्तनः। इत्यादिमहाकविप्रयोगदर्शनात्, "कवयः प्रयोगशरणाः" इति

---

क्षेत्र आदि को औषधीश होने के कारण अपने द्वारा पोष्य समझकर अपनी चान्दनी से उनको प्रकाशित करके पुष्ट करके बढ़ाता है—वैसे ही मेरे प्रति दोष बुद्धिरूप यह ओषधीश चन्द्रमा लज्जा रूप तामसी तमः पुञ्ज से ढके हुए प्रेम क्षेत्र को जन निन्दा रूप चान्दनी से प्रकाशित करके पुष्ट करके उसे बढ़ाने के लिये भले ही उदय हो, यही तो मुझे अत्यन्त अभिलषित है। इस आशिश को तो मैं अपने इष्टदेव सूर्यदेव से अंचल पसार कर इसी के लिये प्रार्थना करती हूँ तुम तो वृथा भयभीत हो, यह भाव है। यहाँ 'ओषधीश' आदि चारों पदों से प्रेम में महोषधि का आरोप हुआ है। इससे यह ध्वनित हुआ कि वही एकमात्र अपना (मेरा) जीवन है। उस प्रेम के छोड़ देने पर जीवन ही नहीं रहेगा यह अनुध्वनि हुई। ऐसी स्थिति में तुम इन दुर्जन कुत्तों के भौंकने से क्यों विषाद करती हो यह प्रत्यनुध्वनि हुई। जैसा भागवत् ३-९-५ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—मेरे स्वामी ! जो लोग वेद रूप वायु से लायी हुई आपके चरण रूप कमल कोश की गन्ध को अपने कर्ण पुटों से ग्रहण करते हैं, उन अपने भक्तजनों के हृदय कमल से आप कभी दूर नहीं होते, क्योंकि वे पराभक्ति रूप डोरी से आपके पाद पद्मों को बाँध लेते हैं॥ इति॥ जैसे गुणाढ्य नाम के कवि की वृहत्कथा में कहा है—

**श्लोकार्थ**—हे राजन् ! द्यु लोक और भूमि पर तुम्हारा कीर्ति रूप चन्द्रमा शोशित हो रहा है॥ इति॥ कृष्ण कौतुक काव्य में भी श्रीजयदेव का वचन है—

**श्लोकार्थ**—देवताओं के कल्पद्रुम को छोड़कर हमने आपके कीर्ति रूप कल्पद्रुम का आश्रय लिया है॥ इति॥ जैसे श्रीगोपालभट्ट के वचन हैं—

**श्लोकार्थ**—हमने श्रीहरि के सुन्दर निकुञ्ज केलि रूप समुद्र की तरङ्गों में अवगाहन (स्नान) किया है॥ इति॥ ऐसे ही कालिदास की उक्ति है—

**श्लोकार्थ**—हे देव ! साधुवादों द्वारा अपकीर्ति रूप मृनाल को कुचलता हुआ यह आपका कीर्ति रूपी ऐरावत जगत के उदर रूप तालाब में संभ्रम द्वारा खूब भ्रमण कर रहा है॥ इति॥ आधुनिक कवि कुलपति का कहना है—

न्यायात्, पद्येऽत्र दोषध्योषधीशयोः स्त्रीपुंव्यक्तिमतो रूपकमनवद्यम्। यथा स्तुतिभिः सकलजनानां मनांसि प्रसन्नानि भवन्ति, मम तु निन्दयैव तत्सिद्धिरिति निन्दास्तुत्योर्मधुररतिकृतोऽयं विनिमयः सम्यक् स्पष्ट एव वर्त्तते। पद्यत्रितयमिदं व्यतिरेकोदाहरणरूपमिति प्रकरणान्तेऽन्यत्राप्येवमेव ज्ञेयमिति ज्ञापनार्थं लिखितमित्यवधेयम् ॥ ९२ ॥

**यत्र नतिरेव परमोन्नतिः। यथाह श्रीजयदेवः श्रीगीतगोविन्देव—**

**"स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनं धेहि पदपल्लवमुदारम्"। इति।**

**यथा वा—स्थाने मानेन हे कृष्ण ! पदं न पतति क्षितौ।**

**अहो महोन्नतेर्मूलं यद् राधापदयोर्नतिः ॥ ९३ ॥**

(ते कृष्ण ! इत्यपि पाठः।)—कदाचिदनपेक्षितसखीसमूसहायं स्वयमेव पदपतनादिभिरनुनीतकान्तं कान्तयाऽनुगृहीतं तत्संगमसुखेन सद्यःसञ्जातनिशान्तं ततः सङ्केतनिकुञ्जनिशान्तान्निःसृतं सानन्दं विकसद्वदनं कान्तमवलोक्य तां कान्तां निजनिकेतं नेतुमागता ललिता सानन्दं सशिरःकम्पं सासूयमिवाह—स्थान इति। हे कृष्ण ! इति संबुद्धया सर्वचित्ताकर्षकत्वं ध्वनितम्। तेन तस्याः स्वयमेवानुनयादिना प्रसादनमुचितमेवेत्यनुध्वनिः। इदानीमस्माक सर्वथा प्रयोजनाभाव एवेति प्रत्यनुध्वनिः। यद्वा, हे कृष्ण !

---

**श्लोकार्थ**—हे देव ! मानो भूभृत (पर्वत) पने के भय से ही उत्तर दिशा के यह शैल हिम के बहाने से धारण किये गये तुम्हारे कीर्ति रूप कर्पूर के समूह से सफेद कर दिये गये हैं ॥ इति ॥

इन पद्यों में स्त्रीलिंग—पुल्लिंग का आरोप्य—आरोपक भाव वर्णन हुआ है—जैसे कीर्त्ति-वात, कीर्ति-चन्द्रमा, कीर्ति-कल्पद्रुम, केलि-पयोधि, कीर्ति-अभ्रकुम्भी, कीर्ति-कर्पूर, इनमें प्रथम स्त्रीलिंग, दूसरा पुल्लिंग स्पष्ट है इत्यादि महाकवियों के प्रयोग देखे जाते हैं और कवियों के प्रयोग ही हमारी शरण हैं। इस न्याय से इस पद्य में दोषधी-ओषधीश पद्यों में स्त्री-पुं व्यक्तिवाला घटित रूपक दोष रहित है। जैसे प्रशंसा से समस्त मनुष्यों के मन प्रसन्न हो जाते हैं, वैसे मेरे लिये तो निन्दा द्वारा सुख की सिद्धि है। इस प्रकार यहाँ मधुर रतिकृत यह दोनों का विपर्यय भली भाँति स्पष्ट ही है। यह तीनों पद्य व्यतिरेक उदाहरण रूप हैं। इसलिये प्रकरण के अन्त में अथवा अन्यत्र भी ऐसा जानना चाहिये ऐसा ज्ञापन करने के लिये लिखे गये हैं ॥ ९२ ॥

**मूलानुवाद**—जहाँ झुकना ही परम उन्नति समझा जाता है—गीतगोविन्द में श्रीजयदेव कवि का वचन है—

**पद्यानुवाद**—आपका यह उदार पद पल्लव काम बाधा (विष) का ध्वंसक है तथा मेरे लिये भूषण स्थानीय है। कृपया निसंकोच आप इसे मेरे मस्तक पर स्थापित करो। जैसा कि ग्रन्थकार का पद्य है—

**श्लोकार्थ**—हे कृष्ण ! अब तो अभिमान के करण तुम्हारा पाँव भूमि पर नहीं पड़ रहा है, सो ठीक ही है। आश्चर्य तो यह है, कि श्रीराधा चरणारविन्द में झुकना अर्थात् प्रणाम, यही सबसे ऊँची उन्नति का मूल कारण है ॥ ९३ ॥

**टीकानुवाद**—एक समय (श्रीकृष्ण ने) सखियों की सहायता बिना अपने आप ही प्रेयसी के पद पतनादि अनुनय द्वारा उसे मना लिया। प्रेयसी अनुग्रहीत होकर संगम सुख के लाभ में क्षण के समान उन्हें वह रात्री बीत गई। प्रभात समय वे संकेत निकुञ्ज से आनन्द पूर्वक बाहर निकले। उन्हें प्रसन्न मुख देखकर ललिता सखी, जो प्रेयसी को अपने घर लिवा ले जाने को आई थी, बड़े आनन्द से सिर हिलाकर असूया सी दिखाती हुई बोली—हे कृष्ण ! —इस सम्बोधन से सर्व चित्ताकर्षकत्व रूप अर्थ ध्वनित होता है। और यह अनुध्वनित हुआ कि प्रेयसी को अनुनय द्वारा प्रसन्न कर लेना उचित है तथा अब लोगों से सर्वथा कोई

श्यामसुन्दर ! इत्यस्मत्सम्मतिपप्यपास्य स्वयमेव स्वकीयसमस्तकार्य्यसम्पादकतया बहिरन्त: सकैतवत्वं व्यञ्जयति। मानेन सुवर्णाङ्ग्या मम सख्या: सङ्गमलाभसम्भूतया चेतस: परमोन्नतया। 'मानश्चित्तसमुन्नति:" इत्यमर:। तेन ते गमनसमये पुरतो निहितं पदं क्षितौ पृथिव्यां न पततीति लोकोक्तिरीति:। तया स्वाभाविकपदन्यासमपास्यान्यथैव लक्षणया तदभिप्रेतं तत्स्थाने उचितमेव। औचित्यमेवाह—शास्त्रपुराणगमादिषु समस्तसूरिरसिकजनेषु च यत्प्रसिद्धं तदिदानीमपरोक्षतयाऽवलोकितमिति। अहो—इत्याश्चर्य्ये। यद् स्माद् राधाया मत्सख्या: पदयोर्नतिर्नमनं परमोन्नतेर्मूलमिति तत्त्वयि सम्प्रति साक्षात्कृतमिति भाव:। देवगन्धर्व-स्मरणपूर्वकं शतश: पदपतनै: प्राप्ते वस्तुनि सहसा स्वसहायेष्वपि किमेवं मानमुद्वहसीति गूढोऽभिप्राय:। एवं मधुररतिकृतोऽयं नतिपरमौन्नत्योर्विनिमय: स्फुट एव ॥ ६३ ॥

**यथा वा—शिखिपिच्छ ! गोपमौले: शिरोधिरोहात्तवोन्नतिर्भवतु।**
**तस्तास्तु मानवत्या: पदतललुठनं फलं जनुस्तपसो: ॥ ६४ ॥**

काचित्परमनिपुणतासंवलिता ललिता परिजनपरिषदि सोपहासमिव केकिचन्द्रकान्योक्ति कथयन्ती गुरुमानवतीं कान्तामनुनेतुं कान्तं सत्वरमभिसारयति—शिखिपिच्छेति। हे शिखिपिच्छ ! मयूरचन्द्रक ! गोपमौलेर्गोपकुलोत्तंसस्यास्य व्रजराजकुमारस्य शिरोधिरोहात् शिरसि उत्तंसतया योऽवरोहोऽवस्थितिस्तस्मा-

---

प्रयोजन नहीं यह प्रत्यनुध्वनि हुई, अथवा हे कृष्ण ! हे श्यामसुन्दर ! यह सम्बोधन इस बात को व्यक्त करता है, कि अब तुमने हमारी सलाह लेना भी छोड़ दिया और अपने आप ही अपने समस्त कार्यों को पूरा कर लेते हो। इससे स्पष्ट है कि तुम बाहर और भीतर से भी सर्वथा कपटी हो। सुवर्णाङ्गी मेरी सखी के संगम लाभ से उत्पन्न हुए, अपने चित के परमोन्नति रूप मान (गर्व) के कारण अब चलते समय तुम्हारे पाँव जमीन पर ही नहीं पड़ते यह लोकोक्ति व लोक रीति है। चित्त की समुन्नति को ही मान कहते हैं ऐसा अमरकोष का प्रमाण है। चित्त की वैसी प्रसन्नता के कारण ही स्वाभाविक पदन्यास की पद्धति को छोड़कर यह अन्यथा रूप उचित न होते हुए भी लक्षणा से 'स्थाने' अर्थात् उचित ही है। उस औचित्य का ही बखान करती है। 'शास्त्र .......' में और समस्त विद्वानों तथा रसिकजनों में जो प्रसिद्ध है वह इस समय प्रत्यक्ष देखा गया। आश्चर्य की बात है, कि मेरी सखी श्रीराधा के चरणों में नमन करना परमोन्नति का मूल है। सो यह तुम्हारे विषय में इस समय मैंने प्रत्यक्ष जान लिया, यह भाव है। यहाँ उसका गूढ़ अभिप्राय तो यह है कि देवता, गन्धर्व आदियों के स्मरण के साथ और सैकड़ों बार चरणों में गिरने से प्राप्त होने वाली वस्तु के विषय में एकाएक अपने सहायकों के प्रति भी तुम क्यों इतना मान रख रहे हो। इस प्रकार यहाँ मधुर रतिकृत यह नति-परमोन्नति का विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ६३ ॥

जैसे ग्रन्थकार के पद्य सं. ६४ में 'चन्द्रिकान्योक्ति' से, नति ही उन्नति का कारण है बताया गया है—

**श्लोकार्थ**—हे मयूरपिच्छ ! गोपों के शिरोमुकुट श्रीकृष्ण के सिर पर स्थित होना, भले ही तुम्हारी उत्कृष्ट उन्नति है, परन्तु जब श्रीकृष्ण, तुमको सिर पर धारण करके श्रीराधारानी का मान मनाते, उनके पाँव पर लोट-पोट होते हैं, वस्तुत: वही समय तुम्हारे तप की सफलता का है ॥ ६४ ॥

**टीकानुवाद**—एक बार ललिता ने चतुरता पूर्ण शब्दों में सखी समाज में परिहास की मुद्रा में मयूरपिच्छान्योक्ति का वर्णन करते हुए गम्भीर मानवती कान्ता का अनुनय करने के लिये कान्त को अति शीघ्र अभिसार के लिये प्रेरित किया—हे मयूरचिच्छ ! मयूर चन्द्रिका गोपकुल श्रेष्ठ व्रजराज कुमार के सिर पर स्थित होने के कारण, तपस्वी के ही समान तुमने सर्दी गर्मी वर्षा आदि सहन किया, इसी से तुम जनता के नमस्कार-स्तुति आदि से उन्नति के पात्र हुए और 'यह धन्य है' इस सम्भावना के भाजन भी भले ही बने। यह मयूरपिच्छ है जिसको भगवान् श्रीकृष्ण अपने सिर पर धारण करते हैं। परन्तु गुरु-मानवती इस

द्धतोस्तव तपस्विन इव शीतवातातपादिसहनशीलतया जनतासम्पादितममनस्तवनादिलक्षणोन्नति: धन्योऽयमिति सम्भावितत्वमात्रं भवतु । तुर्भिन्नोपक्रमे । परन्तु मानवत्या गुरुमानिन्यास्तस्या अनिर्वचनीयरूपमाधुर्य्यादिगुणनिधेर्मम सख्या: पदतललुठनं परममृदुलयोश्चरणकमलयोर्मध्ये यल्लुठनं निपत्य चिरमनुत्थानं परमानन्दप्रदतया महाभाग्योदयलभ्यतया तव जनुषो जन्मन: तथा तपसस्तव पूर्वोक्तस्य शीतातपादिसहनरूपस्योन्नतिहेतोरपि फलम् तद्विना परमविचित्रवपुषोऽपि तव जन्मतपसोर्वैफल्यमेवेति ध्वनितम् । अत: प्रच्छन्ना परमोन्नतिस्तु सद्य:सुखसम्पादकतया पदतललुठनमेवेति । अत्रापि मधुररतिकृतोऽयं पूर्वोक्तयोर्नतिपरमोन्नत्योर्विपर्य्यय: सम्प्रस्फुट एव ॥ ९४ ॥

**यथा वा—**

**सुमुखि ! शिरसि नीता: सादरं स्नेहसिक्ता रतिसमितिपरस्तात्लम्बिनोऽमी तथापि ।**
**सुरतसमरशूरे ! बन्धनेनालमेषां लुलितललितकेशा: पादपद्मं स्पृशन्ति ॥ ९५ ॥**

कदाचित् सुरतान्ते पुनर्निजाङ्के विन्यस्ताऽस्तव्यस्तसमस्तालंकृति विस्रस्ततत्कचनिचयशोभावलोकनलोभाभिभूतमनोनयन: तद्बन्धनायोन्मुखीं श्रीवृन्दावनेन्दुरतिनिपुणां तां प्रसादयितुकामो युक्तिविशेषमुररीकुर्वन् सविनयं विज्ञापयति—सुमुखीति । हे सुमुखि ! सम्बुद्धिरियं श्रमसलिलकणकरम्बिताननतया सरदक्षतनीरागरदच्छदतया विलुलिततिलकालिकतया लुलिताल्पलतिककज्जललोचनतया च समयान्तरादपि

---

मेरी सखी के,—जो अनिर्वचनीय रूप माधुर्य्य आदि गुणों का खजाना है' अति कोमल चरण-कमलों में पलोटे बिना तुम्हारे जन्म और तप की सफलता नहीं गिनी जा सकती । 'विलुठन्' का अर्थ है—पाँव में गिरकर चिरकाल तक सिर का न उठाना । वह विलुठन अत्यन्त आनन्दप्रद है, जो तुमको किसी महाभाग्य के उदय से ही प्राप्त हुआ है अथवा शीत आतप आदि सहन रूप तुम्हारी तपस्या का ही फल है । इसके बिना तो तुम्हारा अति विचित्र शरीर धारण करना भी, तुम्हारे जन्म और तप को विफल सिद्ध कर रहा है यह ध्वनित हुआ । अत: अदृष्ट परमोन्नति तो तुरन्त सुखप्रद पाँव में पलोटना ही है । यहाँ भी मधुर रतिकृत नति-उन्नति दोनों का विपर्यय भली भाँति स्फुट ही है ॥ ९४ ॥ जैसे ग्रन्थकार की उक्ति है—

**श्लोकार्थ**—हे सुमुखि ! तुमने इन केशों को अपने सिर पर बड़े आदर से धारण किया है तथा आदर से ही तैल फुलेलादि प्रयोग पूर्वक सिञ्चित किया है, तथापि सुरत समर में यह पीछे ही लटकते रहे, इसलिये तुम जो इन्हें बान्धना चाहती हो यह उचित नहीं है । हे सुरत समर शूरे ! (अर्थात् बिना किसी की सहायता के अकेली ही उस रति रण को जीतने में समर्था हो) बिर बिथुरे हुए इन सुन्दर केशों को जो तुम्हारे चरण कमलों को छू रहे हैं अर्थात् मानो शरणागत होने से, उनका बन्धन अनुचित है ॥ ९५ ॥

**टीकानुवाद**—एक समय सुरतान्त पर (प्रेयसी के) अपने अङ्क पर अस्त-व्यस्त फैले हुए केश कलाप की बड़ी शोभा हो रही थी । प्रियतम के तन और नेत्र उस शोभा को देखने में अति मुग्ध थे । प्रियतमा जब उन्हें (केशों को) बाँधने को उद्यत हुईं, तो श्रीवृन्दावनचन्द्र (लालजी) की रस-रीति में चतुरा वह उनको न बान्धे, इस हेतु उनको प्रसन्न करने के लिये प्रियतम ने एक युक्ति विशेष निकाली और विनय पूर्वक कहने लगे—हे सुमुखि ! यह सम्बोधन तात्कालिक सुरतान्त शोभा विशेष का चित्र सा खींच रहा है । सुरत श्रम से उनके मुख पर पसीने की फूहीं झलक रही हैं—अधरोष्ठ दन्तक्षत युक्त और अत्यन्त नीराग अर्थात् स्वच्छ हो रहे हैं—भाल पर का तिलक पुछ सा गया है और नेत्रों की कज्जल रेखा एकदम मिट चुकी है । इस समय का शृङ्गार रहित भी सुन्दर रूप शृङ्गार काल की अपेक्षा भी अधिक शोभा दे रहा है । यह सब शोभा स्थिति उक्त 'सुमुखि' सम्बोधन से व्यञ्जित होती है । मूल श्लोक में आया 'सादर' पद क्रिया विशेषण है और 'शिरसि नीता:' तथा 'स्नेहसिक्ता' इन पूर्वापर दोनों विशेषणों के

शोभाविशेषं व्यञ्जयति। सादरमिति क्रियाविशेषणं पूर्वापरविशेषणाभ्यां संयोजनीम्। रतिसमितौ सुरतसंग्रामे परस्तात् पश्चादेव न तु नयनवदनाधरादिवत्पुरतो लम्बितुं विलम्बितुं शीलं येषान्ते। एवमेते परमापराधिनोऽपि भवन्ति। तथापि हे सुरतसमरशूरे! सुम्बुद्धिरियमेतान्विनाप्येकस्या एव तस्यास्तत्समरविजये सामर्थ्यं व्यञ्जयति। एषां केशानां बन्धनेनालम्। अलमित्यव्ययमत्र वारणवाचकम्। मा कुर्वित्यर्थः। कुत इत्यत आह—लुलितललित केशाः—लुलिता रतिविलुलिता अत एव केशवेशरचनाविशेषादपि सद्यःकृतबन्धनादपि ललिताः केशाः पादपद्मं स्पृशन्तीति तेषां दीर्घतरत्वं बोधयदपराधिनामपि पादपद्मस्पृशां बन्धनं शूराणामनुचितमिति व्यञ्जयति। अत्र शिरसि नीताः, सादरं स्नेहसिक्ता इति विशेषणद्वयेन तथा युक्तिपोषणाय निन्दनमिव कुर्वता तृतीयविशेषणेनापि तेषां स्तुतिरेव व्यज्यते, तेषां पश्चाल्लम्बमानतयैव शोभाविशेषोदयात्। पुनर्लुलितपदेन तथा पादपद्मं स्पृशन्तीति नतिव्याजेन तेषां दीर्घतमत्वं बोधयत् परमौन्नत्यमेव व्यञ्जयति पद्यमिदमिति मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः प्रकट एवात्र॥ ९५॥

**यत्र व्यय एव लाभः॥ यत्र व्यय इति। स्पष्टार्थमेतत्॥**

**यथाह गोवर्द्धनः—"आदाय धनमनल्पं ददानया सुभग! तावकं वासः।**
**मुग्धा रजकगृहिण्या कृता दिनैः कतिपयैर्निस्वा॥" इति।**

आदायेति स्पष्टार्थम्। अत्रानल्पेन धनदानेन तद्वासस आदानं व्ययोऽपि लाभादधिकः। मधुररतिकृतोऽयं तयोर्व्यत्ययः॥

**यथा वा—वसन्तकाले विदलद्रसाले सुवर्णवल्लीविलसत्तमाले।**
**लभ्येत चेत्संप्रति गोपमौलिर्लाभस्तनुप्राणधनव्ययोऽपि॥ ९६॥**

---

साथ उसे जोड़ना चाहिये। यह केश सुरत संग्राम के समय पीछे ही लटकते रहे न कि नयन-अधर-वदन आदि के समान युद्ध में आगे जूझे। यह स्वभाव से ही पीछे लटकनेवाले ही होने से यद्यपि यह महा अपराधी है तथापि हे सुरत समर शूरे! यह सम्बोधन इस अर्थ को व्यञ्जित करता है कि इनके बिना भी तुम इकली ही समर जीतने की सामर्थ रखती हो। इन केशों को बान्धना ठीक नहीं—'अलम्' यह अव्यय वारण अर्थ में निषेध वाचक है, इनको मत बान्धो यह भाव हुआ। क्यों न बान्धे? इस पर कहते हैं, कि रति केलि काल में अस्त-व्यस्त हुए हैं, इसी लिये कवरी गूँथन आदि केश वेश विशेष रचना की अपेक्षा भी अर्थात् तुरन्त बाँध दिये जाने की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं और तुम्हारे चरणों को छू रहे हैं। इससे केशों का लम्बापन बोधित होता है और पाँव छूकर अपराधी के क्षमा याचना करने पर भी उसे बान्धना शूरवीरों के लिये अनुचित है यह भी सूचित होता है। यहाँ 'शिरसि....' इन दो विशेषणों से तथा युक्ति का पोषण करने के लिये मानो उसकी निन्दा करते हुए, इस तीसरे विशेषण से भी उनकी स्तुति ही व्यक्त होती है, क्योंकि उस पीछे लटकते रहने में ही उन (केशों) की एक विशेष शोभा का उदय होता है। फिर 'लुलित' और 'पाद....' आदि पदों से नमन के बहाने उनकी दीर्घतमता बोधित होती है और साथ ही परमोन्नति की ही व्यञ्जना होती है। इस प्रकार इस पद्य से मधुर रतिकृत उन दोनों का वैपरीत्य यहाँ प्रकट ही है॥ ९५॥

**मूलानुवाद**—यहाँ व्यय ही लाभ गिना जाता है—जैसे श्रीगोवर्द्धन कवि की उक्ति है—

**श्लोकार्थ**—हे सुन्दर! बहुत सा धन लेकर तुम्हारे वस्त्र को देनेवाली रजक गृहिणी (धोबिन) ने कुछ ही दिनों में उस मुग्धा को निर्धन बना दिया। इति।

**टीकानुवाद**—इस पद्य का अर्थ स्पष्ट ही है। यहाँ बहुत से धन दान द्वारा उसके वस्त्रों का ग्रहण करना यह व्यय भी लाभ से अधिक है। इस प्रकार मधुर रतिकृत उनका विपर्यय हुआ है।

श्रीव्रजेन्द्रनन्दने पूर्वानुरागवती रूपमाधुर्यादिगुणवती कापि गोपकुलयुवती व्रीडाविरहाभ्यामतीव मुहुराकृष्यमाणा मनोविनोदाय सखीभिर्वनं नीता तत्र श्रीवृन्दावनस्य वासन्तिकीनां शोभासम्पदामवलोकनेन सद्यःसमुद्दीपितभावविशेषविवशापि कामपि स्वप्रियसखीं प्रति दूत्यादिषु वहुधनादिदानेनापि तं कान्तं सङ्गमय्य मां सञ्जीवयेति व्यञ्जयन्तीं किञ्चित्सोपहासमिवाह—वसन्तकाल इति। वसन्तकाले पुष्पसमये इति यस्य श्रवणस्मरणादिकमप्युद्दीपनं किं पुनरागमनमेवेति तस्योद्दीपनत्वमुक्तम्। पुनः पदद्वयस्य प्रथमातत्पुरुषेण श्लेषार्थेन प्राणपीडाकरत्वं ध्वनितम्। उक्तमुद्दीपनत्वं वक्तुं तं विशिनष्टि—विदलद्रसाले विदलन्तः प्रफुल्लिता रसाला आम्रतरवो यस्मिन्निति साक्षादुद्दीपनत्वमुक्तम्। पुनः विदलन्तः प्रमुदिता रसालाः शुचिरससम्भृताः साक्षात्तद्रसमनुभवन्तः संयोगिन इति यावत्। यस्मिन्निति स्मरणमात्रेण उत्कलिकावर्द्धनत्वमपि तस्य ध्वनितम्। पुनः कीदृशे—सुवर्णवल्लीविलसत्तमाले सुवर्णवल्लीभिर्विशेषेण लसन्तः शोभमानास्तमालाः श्यामतरुविशेषा यस्मिन्निति—उद्दीपनतमत्वमुक्तम्। सम्प्रति इदानीमेतस्मिन्नवसरे गोपमौलिः गोपानां शिरोभूषणमिव शोभाप्रदः परमसौन्दर्यनिधिः श्रीकृष्णश्चेल्लभ्येत तर्हि तनुप्राणव्ययोऽपि लाभ एव। एवञ्च मधुररतिकृतोऽयं व्ययलाभयोर्विपर्यासः स्फुट एव॥ ९६॥

---

**श्लोकार्थ**—(ग्रन्थकार की उक्ति है) किसी प्रेयसी को श्रीकृष्ण प्रेम ने बसन्त रितु में उन्मुग्ध बना दिया और वह अपनी उस दशा का सखी के प्रति वर्णन करती हैं)—हे सखि! इस बसन्त रितु में जब आम्र मञ्जरी विकसित हो रही हैं और स्वर्ण वर्ण की लताएँ (श्याम) तमाल से (आश्लिष्ट) लिपट रही हैं। इस समय यदि वे गोप सुन्दर मिल जाएँ तो तन प्राण और धन के व्यय को भी लाभ ही गिनूँगी॥ ९६॥

**टीकानुवाद**—कोई एक गोपकुल युवती, जो रूप, माधुरी, लावण्य आदि गुणों से परिपूर्ण थी और श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के प्रति उसका पूर्वानुराग था, लज्जा और विप्रयोग उसे बार-बार अपनी-अपनी ओर आकृष्ट करते रहते थे। एक बार मनोविनोद के लिये सखीजन उसे वृन्दावन में ले गईं। वहाँ की वासन्तिक शोभा सम्पत्ति को निहार कर उसमें एक भाव विशेष का अपूर्व उदय हुआ जिसके वश में वह हो गई। उसी दशा में अपनी एक प्रिय सखो के प्रति उपहास मुद्रा में कहा, चाहे दौत्यादि कर्म में मेरा कितना भी धन व्यय हो जाए, परन्तु प्रियतम को मिलाकर तुम मुझे सञ्जीवित करो—वसन्त काल पुष्प समय नाम से ख्यात है जिसके श्रवण स्मरण आदि से भी अद्भुत उद्दीपन होता है, फिर उसके साक्षात् आगम पर तो बात ही क्या है—इस प्रकार उसमें उद्दीपन प्रभाव बताया गया। फिर दो पदों के प्रथमातत्पुरुष समास द्वारा जो श्लेषार्थक है उसका प्राण पीडाकरत्व ध्वनित हुआ—प्रेमीजनों के लिये मनोज वेग करत्व। टि—(व्याख्याकार का भाव यह जान पड़ता है कि 'वसन्तकाले' इस पद में दो शब्द हैं एक बसन्त—दूसरा काल—इन दोनों में जब 'प्रथमातत्पुरुष' समास करेंगे अर्थात् 'बसन्तः-कालः=बसन्तकालः तस्मिन् वसन्तकाले' ऐसा रूप होगा तथा काल शब्द 'कालयतीति' कालः—व्युत्पत्ति से हिंसार्थ के द्योतन में श्लेषार्थक हो जाता है तब उसका प्राणपीडाकरत्व आदि सिद्ध होगा)—अब अगले विशेषण में उसकी उद्दीपनत्व का वर्णन है। जिस वसन्त रितु में आम्र वृक्ष पुष्पित फलित होते हैं इससे साक्षात् उद्दीपनता बताई गई। दूसरा अर्थ यह होगा कि जिस वसन्त रितु में 'विदलन्तः' प्रसन्न हो रहे हैं 'रसालाः' अर्थात् शृङ्गार रस प्रेमी-संयोगी जो साक्षात् उस रस का अनुभव करते हैं यह 'रसालाः' का अर्थ हुआ। (टि—शृगारः शुचिरुज्वलः इत्यमरः)। 'विदलद्रसाले' पद के समास में आए 'यस्मिन्' शब्द से यह ध्वनित होता है कि वह वसन्त केवल स्मरण से ही उत्कण्ठा को बढ़ा देता है, तथा जिस वसन्त रितु में तमाल वृक्ष स्वर्ण लताओं से आलिङ्गित होकर अपूर्व शोभा बढ़ाते हैं। जिससे उसकी उद्दीपकता और भी अधिक बढ़ जाती है। अतएव वह कहती है इस समय वे गोप किशोर भूषण, शोभाप्रद, सौन्दर्य्य सार निधि श्रीकृष्ण यदि मिल जाएँ तब तन और प्राणों (धन) के व्यय को लाभ ही मानूँगी। इस प्रकार यह मधुर रतिकृत व्यय लाभ

यथा वा—अवेहि तमुपागतं गतमवेहि तापं तनो-
रसुर्वसतु ते सुखं द्रविणदेहदानैरलम् ।
पुरैव यदि दित्ससे निखिलमेव मह्यं प्रिये !
प्रियोपरि करिष्यसे कथय किं नु निर्मञ्छनम् ॥ ९७ ॥

कयापि पूर्वानुरागवत्या गोपयुवत्या कुलवत्या वियोगपरवशया विवशया हे प्रियसखि ! कामं द्रविणादिकं गृहाण, किं बहुना, जावज्जीवं निजदेहमपि तव दास्याय दास्यामि, अन्यथा प्राणा यान्ति, ततो हन्त तं महामानिनं कठिनहृदयमत्राभिसारयेति सविविधविनयानुनयं सचिबुकग्रहं प्रेषिता निजचतुरसखी-साधितार्था सत्वरं तदन्तिकमागत्य तदागमनकथामृतं पाययन्ती तां कृशतनुमाप्याययति—अवेहीति । तं प्राणप्रियं नागरं लावण्यामृतसागरमुपसमीपे आगतमेवावेहि जानीहि, तत एव तनोस्तापं विरहसम्भवं गतमेवावेहीति "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" इति न्यायात् । क्रियापदद्वयन्तु तदागमनतापनाशयोरवश्यं शीघ्रभावित्वं व्यञ्जयति । ते असुः प्राणाः सुखं यथा भवति तथा वसतु, अर्थात्त्वदन्तः । ततश्च तद्वचनामृतं निपीय परमानन्दसम्भृतमनसं द्रविणादिकं दातुमुद्यतां प्रणतां तामुपदिशति—द्रविणदेहदानैरलमिति । द्रविणादिदानं मा कुर्वित्यर्थः । अलमव्ययमत्र वारणार्थम् । कथमित्यपेक्षायां सप्रणयं पुनराह—हे प्रिये ! हे प्रियसखि ! यदि दयितागमनतः पुरैव पूर्वमेव निखिलमेव द्रविणदेहादिकं दित्ससे मह्यं दातुमिच्छसि, तर्हि मम चेतसि महती चिन्ता । तामेवाह—तस्य प्रियस्योपरि दर्शनान्तरं किं निर्मञ्छनं करिष्यसीति

---

का विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ९६ ॥

जैसा ग्रन्थकार का पद्य ९७ है—(टि—पिछले पद्य से प्रतीत होता है कि प्रेमिका के पूर्वोक्त वचन के अनन्तर उसे आश्वासन देने के लिये ही प्रिय सखी की उक्ति इस पद्य में वर्णित है)—

**श्लोकार्थ**—हे प्रिय सखि ! उनको तुम आया ही समझो और अपने मन के ताप को गया ही समझो । यह प्राण तुम्हारे शरीर में सुख से बसें—तन और धन के दान को अभी रहने दो । यदि उन प्रियतम के मिलने से पहले ही सब कुछ मुझे दे दोगी तो उन प्रियतम के ऊपर फिर तुम न्यौछावर क्या करोगी ? ॥ ९७ ॥

**टीकानुवाद**—कोई एक पूर्वानुरागवती कुलवती गोपकिशोरी विप्रयोग की पराधीन दशा में में बोली—हे प्रिय सखि ! चाहे कितना भी धनादिक ले ले—अधिक क्या मैं आजीवन (जीवन पर्यन्त) अपने देह को तुम्हारी सेवा में दान कर दूंगी । एक बार उन प्रियतम का दर्शन करा दो, नहीं तो यह प्राण जा रहे हैं । इसलिये हा—उस महामानी कठोर हृदय को किसी प्रकार अभिसार प्रक्रिया से यहाँ लिवा ला । इस प्रकार उसकी ठोड़ी पकड़ कर अनेक मनुहार करके उसे भेजा तथा वह उसकी चतुर सखी अपना प्रयोजन सिद्ध करके शीघ्र उसके पास आ गई और उनके आगमन रूप कथा सुधा का पान कराती हुई उस कृशांगी को तृप्त करती हुई बोली—उन चतुरशिरोमणि, प्राणप्रिय लावण्यामृतसागर को समीप में आया ही समझो और विरह से उत्पन्न ताप संताप को गया ही समझो । इस प्रसंग में यह न्याय भी लगा लेना चाहिये कि समस्त वाक्य अवधारण अर्थात् निश्चय को लेकर ही प्रवृत्त होते हैं । यहाँ मूल में 'अवेहि अवेहि' दो क्रिया पदों का होना यह व्यञ्जित करता है कि उनका आगमन और ताप का नाश यह दोनों ही अवश्य और शीघ्र ही होनेवाले हैं । अब यह तेरे प्राण तेरे ही शरीर में सुख से रहें अर्थात् तू इन अपने प्राणों को शरीर में धारण (पोषण) कर । इसके बाद सखी के ऐसे सुधा सने वचनों का पान करके उसका मन परमानन्द में निमग्न हो गया तथा वह धनादि देने को उद्यत एवं प्रणत हुई, तब उसके प्रति सखी फिर बोली—यह धन आदि का दान अभी मत कर यहाँ 'अलम्' यह अव्यय पद निषेधार्थक है—क्यों न देऊँ ?

युक्तिसमवेतेयमुक्तिः तस्य प्राणपर्य्यन्तं निर्मञ्छनयोग्यत्वेन दर्शनीयतमत्वं तथात्मनो निरपेक्षत्वं तत्सुख-सुखवतीत्वं व्यञ्जयति । एवं मधुररतिकृतोऽयमत्र व्ययलाभयोर्विपर्य्यासः स्फुट एव वर्त्तते, अतो नात्र बहु व्याख्यायते ।। ६७ ।।

**यत्र विस्मरणमेव स्मरणम् ।। यत्रेति । स्पष्टार्थमेतत् ।।**

**यथाह पञ्चमे शुकः—"तयेत्थमविरतपुरुषपरिचर्य्यया भगवति प्रवर्द्धमानानुराग-भरद्रुतहृदयशैथिल्यः प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्यप्रवृत्तप्रणयवाष्प-निरुद्धावलोकनयन एवं निजरमणारुणचरणारविन्दानुध्यानपरिचितभक्तियोगेन परिप्लुत-परमाह्लादगम्भीरह्रदावगाढ़धिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्सपर्य्यां न सस्मार ।।**

तथेति । व्याख्यातमेव श्रीधरस्वामिभिः । एवं गद्येऽस्मिन् विन्यस्तरमणपदसामर्थ्यान्मधुररति-कृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ।।

**तथा दशमे—"गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः ।**
**पूजायां नाविदत्कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः ।।" इति ।**

गोविन्दमिति । एवं वत्सलसंवलितदास्यरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः । अन्यत्स्वामिभिर्व्याख्यातमेव ।।

**यथा द्वादशे—"ध्यायन् सर्वत्र च हरिं भावद्रव्यैरपूजयत् ।**

---

इसके उत्तर में प्रेम पूर्वक वह बोली—हे प्रिय सखि ! यदि उन प्रियतम के आने के पहले ही सब कुछ तन धन आदि दे देना चाहती हो, तो मेरे मन में यह बड़ी चिन्ता हो रही है कि उनके दर्शन पर न्यौछावर क्या और कैसे करोगी ?। यह उसकी युक्तिपूर्ण उक्ति—प्रियतम पर प्राण पर्यन्त का न्यौछावर कर देने की योग्यता और दर्शनीयतमता (अत्यन्त सौन्दर्य) का तथा अपनी निरपेक्षता एवं तत्सुख सुखित्व की भावना का व्यञ्जन करती है । इस प्रकार मधुर रतिकृत ...स्पष्ट ही है—अधिक व्याख्या नहीं की ।। ६७ ।।

**मूलानुवाद**—जहाँ भूल जाना ही याद रखना है—जैसा कि भा० ५-८-१२ में वर्णित है—

**गद्यानुवाद**—इस प्रकार जब वे नियम पूर्वक भगवान् की परिचर्या करने लगे, तब उससे प्रेम का वेग बढ़ता गया—जिससे उनका हृदय द्रवीभूत होकर शान्त हो गया, आनन्द के प्रबल वेग से शरीर में रोमाञ्च होने लगा तथा उत्कण्ठा के कारण नेत्रों में प्रेम के अश्रु उमड़ आये, जिससे उनकी दृष्टि रुक गई । अन्त में जब अपने प्रियतम के अरुण चरणारविन्दों के ध्यान से भक्तियोग का आविर्भाव हुआ, तब परमानन्द से सराबोर हृदय रूप गम्भीर सरोवर में बुद्धि के डूब जाने से उन्हें उस नियमपूर्वक की जानेवाली भगवत्पूजा का भी स्मरण न रहा ।। इति ।

**टीकानुवाद**—इस प्रसङ्ग की व्याख्या श्रीधर स्वामीपाद ने की है । इस प्रकार इस गद्य में आये 'रमण' पद के आधार पर मधुर रतिकृत यह उन—विस्मरण स्मरण दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है । वैसा ही भा० १०-७१-४० में आया है—

**श्लोकार्थ**—देवदेवेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को राजमहल के अन्दर लाकर राजा युधिष्ठिर आदर भाव और आनन्द के उद्रेक से आत्म विस्मृत हो गये, उन्हें इस बात की सुधि न रही कि किस प्रकार से भगवान् की पूजा करनी चाहिये । इति ।

**टीकानुवाद**—इस प्रकार वत्सल रति मिश्रित दास्य रतिकृत उन दोनों का विपर्यय हुआ है । अन्यत्र श्रीधर स्वामी पाद ने भी इसी की पुष्टि अपनी व्याख्या में की है । इति । वैसे ही भा० १२-६-६ में आया है—

क्वचित्पूजां विसस्मार स्नेहप्रसरसम्प्लुतः ॥" इति ।

क्वचित्पूजामिति । दास्यरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः ॥

**तथोक्तं विदग्धमाधवे श्रीरूपगोस्वामिभिः—**

"प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहारन्ती मनः ।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल तस्य पश्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥"

ललितादयः सख्यो मुख्याया निजसख्याः श्रीकृष्णविषयकप्रणयसमृद्धिस्वभावसिद्धां तां प्रसिद्धां लोकविरुद्धां पद्धतिं तदनुभावैरनुभूय सानुतापं सविस्मयं परस्परमनुवर्णयन्ति—प्रत्याहृत्येति । कश्चिद्धन्यो मुनिः मननशीलः स्वमनोविषयत इन्द्रियार्थेभ्यः प्रत्याहृत्य प्रतिकूलतयाऽऽहरणं कृत्वा—योगाङ्गेषु पञ्चमं प्रत्याहारं कृत्वेत्यर्थः । यस्मिन् श्रीकृष्णे क्षणं क्षणमात्रं मनश्चित्तं धित्सते धातुमिच्छत्येव, न तु कथा कर्तुं शक्नोतीत्यर्थः । अत्रैकवचनन्तु तद्विधानां मुनीनां वैरल्यं बोधयति । असौ मत्सखी तु ततः श्रीकृष्णात् मनः प्रत्याहरन्ती प्रतिकूलं नावमिवाहरन्ती सती विषयेषु धित्सति धातुमीहते । कीदृशी सा—बाला । एतेन विशेषणेन स्त्रीत्वं तथाल्पवयस्कात्वं तद्धेतुकमज्ञत्वमपि ध्वनितम् । अहो प्रेम्णो विरुद्धकर्त्तृत्वमिति भावः । किञ्च, यस्य श्रीकृष्णस्य स्फूर्तिः स्फुरणमात्रं तस्यापि लवो लेशस्तदर्थं योगी कश्चन भाग्यवान् भक्तियोगी समुत्कण्ठामेव करोति, इयन्तु तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिं निर्गमनमेव आ समन्तात् सर्वथा काङ्क्षति प्रार्थयते ।

---

**श्लोकार्थ**—और तो क्या—सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन करते हुए मानसिक वस्तुओं से उनका पूजन करते रहते । कभी-कभी तो उनके हृदय में प्रेम की ऐसी बाढ़ आती कि वे उनके प्रवाह में डूबने-उतराने लगते, उन्हें इस बात की भी याद न रहती कि अब कहाँ किस प्रकार भगवान् की पूजा करनी चाहिये ॥ इति ।

**टीकानुवाद**—इस प्रकार दास्य रतिकृत उन दोनों का विपर्यय हुआ है ।

वैसे ही विदग्ध माधव में श्रीरूप गो० पाद का पद्य है—नान्दीमुखी पौर्णमासी से कहती है—

**श्लोकार्थ**—आश्चर्य देखो, मुनिजन विषय से मन प्रत्याहार कर क्षण भर के लिये जिसमें लगाना चाहते हैं, वह बाला आज उसी में से मन को हटाने का यत्न करती हुई विषयों में लगाना चाहती है। हृदय में जिसकी लवमात्र स्फूर्ति के लिये बड़े-बड़े योगी उत्कण्ठित रहते हैं उसे आज यह मुग्धा हृदय से निकालना चाहती है ॥ इति ॥

**टीकानुवाद**—ललितादि सखीजन अपनी मुख्या सखी के श्रीकृष्ण विषयक स्वाभाविक प्रेम स्मृद्धि को तथा उसकी प्रसिद्धि और लोक विरुद्ध पद्धति को उसके अनुभावों से अनुभव करके अनुताप और विस्मय पूर्वक परस्पर वर्णन करती हैं—वह कोई मननशील मुनि धन्य है जो अपने मन को इन्द्रियों के अर्थ, रूपादि विषयों से हटाकर जिन श्रीकृष्ण में क्षणमात्र के लिये लगाना चाहता है । परन्तु वैसा करने में समर्थ नहीं होता । यहाँ 'प्रत्याहार' शब्द योग का पाँचवाँ अङ्ग लिया गया है । यहाँ 'मुनि' में एक वचन ऐसे मुनि की विरलता का बोधक है । परन्तु वह मेरी सखी तो प्रवाह के प्रतिकूल नाव के समान श्रीकृष्ण से अपने मन को हटाती, विषयों में लगाना चाहती है । वह बाला है यह विशेषण—स्त्रीभाव, तथा अल्प आयु के कारण प्रेम विषयक अज्ञता को ध्वनित करता है ! देखो प्रेम की कैसी विरुद्ध सम्पादकता है । जिस श्रीकृष्ण की एक लव मात्र स्फूर्ति के लिये कोई भाग्यवान भक्तियोगी केवल उत्कण्ठा ही करता है, किन्तु यह तो हृदय

किलेति निश्चये । कीदृशीयम्—मुग्धा सुन्दरी शुद्धबुद्धिश्च, या मम हृदयादेनं बहिरन्तरसितं मानिनं निरनुग्रहं निःसारयेत् सैव मम जीवनप्रदा प्रियसखीति मुहुर्वदतीति भावः । एवं मधुररतिकृतोऽयं विस्मरणस्मरणयोर्विपर्य्यासः प्रकट एव ॥

**यथा वा—सन्त्यज सखि ! तदुदन्तं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः ।**
**स्मारय किमपि तदितरद् विस्मारय हन्त मोहनं मनसः ॥ ९८ ॥**

कापि प्रेमपरिपन्थिपरवशा विरहविवशा भृशं कृशाङ्गी निजजीवसञ्जीवनाय श्रीकृष्णकथामेव मुहुः कथयन्तीं सखीं कथं कथमपि शनैः सखेदं सनिर्वेदमिदमाह—सन्त्यजेति । हे सखि ! अस्याः सख्या मल्लक्षणायाः सुखलवमपि सुखस्य लवो लेशः, क्षणमात्रमपि सुखमित्यर्थः, यदि समीहसे सम्यक् प्रकारेण कर्त्तुमीहसे वाञ्छसि, तर्हि तदुदन्तं तस्योदन्तं वृत्तान्तं वार्त्ता सन्त्यज सम्यक् प्रकारेण मुञ्च । तत्कथाभिः सम्भवदपि स्वल्पं सुखं तत्कैतवत्वादिस्मरणेन शतगुणतां गतेन तापेन समीचीनतया न भवतीति मनागपि तत्कथां मा कथयेत्युभयत्र संशब्दार्थः । अत्र सखि ! इति सम्बुद्धया तथा ममेति पदमप्रयुज्य सख्या इति पदेनैव स्वनिर्देशेनापि आवयोः सहजसख्यवत्वे तत्कथाभिः किं तत्प्रतियोगितामिवाचरसीति ध्वनितम् । ननु मम मौनमपि तव मनोऽवलम्बनप्रतिकूलमेवेति चेत्, तत्राह—किमपि तदितरत् तस्मात् कैतवात् तत्कथाभ्यो वा इतरदन्यदेव वस्तुविशेषं स्मारय मम मनोविनोदाय स्मरणविषयीकुरु । ननु त्वत्कर्णसुखदं तत्कथं स्याद ? अत आह—हन्तेति खेदे । मम मनसो मोहनं कितवं मानिनं बहुवल्लभं-कथमपि विस्मारय । अन्यकथया श्रवणसुखाभावेऽपि क्षणं

---

से उसी के निकल जाने के लिये प्रार्थना करती है । 'किल' यह निश्चयार्थक अव्यय है । वह मुग्धा—सुन्दरी अथवा शुद्ध बुद्धि है जो बार-बार यह कहती है कि वही मेरी जीवन प्रदाता प्रिय सखी है, जो बाहर-भीतर कृष्ण (कपटी) मानी, निष्ठुर को मेरे हृदय से निकाल कर बाहर कर दे । इस प्रकार मधुर रतिकृत विस्मरण-स्मरण दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ इति ॥ जैसा कि ग्रन्थकार का पद्य है—

**श्लोकार्थ**—हे सखि ! यदि तुम अपनी प्रिय सखि का थोड़ा भी सुख चाहती हो, तो श्रीकृष्ण विषयक बात-चीत को छोड़ दो—उसके अतिरिक्त किसी और बात का स्मरण कराओ, इसके मन से (खेद मूलक) उन मोहन को किसी तरह निकालो ॥ ९८ ॥

**टीकानुवाद**—एक प्रेयसी विपरीत गतिवाले प्रेम के परवश तथा विरह से विवश, दुर्बल शरीर भी हो रही थी । उसको सुखी करने के लिये उसकी प्रिय सखी बार-बार उसे श्रीकृष्ण कथा सुना रही थीं । उसने किसी प्रकार उसे इस कार्य से रोका और बड़े खेद से, वैराग्य पूर्वक धीरे से वह बोली—हे सखि ! मुझ अपनी सखी का क्षण मात्र भी सुख चाहती हो तो उनकी बात को सर्वथा छोड़ो । उनकी कथा से यद्यपि थोड़ा सा सुख मिलता है तथापि उसके कैतव आदि का स्मरण आ जाने से ताप शतगुणा बढ़ जाता है । सुख का तो लेश भी नहीं रहता । इसलिये उनकी चर्चा को बिलकुल न चलाओ । यहाँ 'सखि' यह सम्बोधन-इस बात का द्योतक है कि 'मम' यह पद प्रयोग न करके 'सख्या' इस पद से ही सुनने वाली सखी का अपने साथ स्वाभाविक सख्य सम्बन्ध बनाकर यह सिद्ध किया कि अपने लोगों को उनकी कथाओं से क्या प्रयोजन है। उनके प्रसङ्ग को चलाकर तू सुख के प्रतियोगी दुःख का आचरण कर रही हो । 'सखि' सम्बोधन से यह भाव ध्वनित होता है । यदि मेरा मौन रहना ही तेरे मन के सहारे के लिये प्रतिकूल ही है तो उस धूर्त अथवा उसकी कथाओं के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु विशेष का स्मरण करा अर्थात् मेरे मनोविनोद के निमित्त किसी और विषय को चला । यदि वह कहे कि वह विषयान्तर तेरे कानों को कैसे सुख देगा ? इस पर वह बोली हाय ! पहले मेरे मन से तू उस कितव, मानी, बहुवल्लभ मोहन को जैसे-तैसे किसी प्रकार विस्मरण करा—कारण अन्य कथा श्रवण से सुख न मिलने पर भी—क्षण भर के लिये केवल

सन्तापान्तरानुत्पत्तिमात्रं सुखं स्यादेवेति भावः । एवं मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ॥ ६८ ॥

**यथा वा—प्रेमावृतानि नितरामममृतायितानि दत्तानि साररहितानि च भक्तपत्न्या ।**
**मोदप्रदानि मनसा मम विस्मृतानि नाद्यापि तानि कदलीफलवल्कलानि ॥ ६९ ॥**

प्रेमावृतेति । भक्तपत्न्या विदुरस्त्रिया । अत्र दास्यरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव सारं प्रक्षिप्य वल्कलदानरूपः । यथा प्रेमपत्तनापरपर्य्याये तस्मिन्नगरे विस्मरणमेव स्मरणं रत्या स्थापितम्, तथा तद्वर्णनसमये प्रेमपत्तनाभिधेऽस्मिन्सन्दर्भेऽपि मूले टीकायां वा क्वचित्कदाचिदन्तःपातिनां कोशव्याकरणकाव्य-रीत्यलङ्काराव्याप्त्यतिव्याप्तिपुनरुक्त्यादीनां विस्मरणं स्मरणादपि विच्छित्तिविशेषशालि, प्रणयमाध्वीक-मदनिपीतमतित्वात्कवेः, अतोऽत्रापि तस्मिन्निव वादविवादानवसरः अतः प्रेमोन्मदैरेव श्रोतृभिः श्रोत-व्यमपीति दिक् ॥ ६९ ॥

**यत्रागर्वत्वमेव सगर्वत्वम् ॥ यत्रेति । स्पष्टार्थमिदम् ॥**

**यथोक्तं श्रीरूपगोस्वामिचरणैः पद्यावल्यां—**

**"मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति कृष्णस्वहस्तलिखिता नवमञ्जरीति ।**
**अन्यापि किं न सखि ! भाजनमीदृशीनां वैरी न चेद् भवति वेपथुरन्तरायः" ॥ इति ।**

---

और सन्ताप का उत्पन्न न होना ही सुख का हेतु होगा । यह भाव है । मधुर रतिकृत उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है ॥ ६८ ॥ जैसा कि ग्रन्थकार का पद्य है—

**श्लोकार्थ ६९**—श्रीकृष्ण भगवान् की उक्ति है—भक्त पत्नि विदुरानी ने प्रेम से लपेटे अत्यन्त अमृतमय सार रहित (फली विना) जो केले के छिलके दिये थे उनसे मुझे परमानन्द हुआ था वह आज भी मेरे मन से विस्मृत नहीं हो रहे हैं ॥ ६९ ॥

**टीकानुवाद**—भक्त पत्नि अर्थात् विदुर की स्त्री । यहाँ दास्य रतिकृत उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है । सार (फली) को फेंककर छिलका देना—जैसे प्रेमपत्तन है दूसरा पर्याय है जिसका, उस नगर में रति ने विस्मरण को स्मरण की जगह पर स्थापित किया तथा उसके वर्णन समय में प्रेमपत्तन नामक इस सन्दर्भ में मूल अथवा टीका में कहीं कदाचित् बीच में आये, कोश, व्याकरण, काव्य, रीति, अलङ्कार, व्याप्ति, अति व्याप्ति और पुनरुक्ति आदियों का विस्मरण स्मरण से भी अधिक शोभा-विशेष का पोषक है। क्योंकि कवि की बुद्धि इस समय प्रेम माध्वीक (आसव) का पान करके उसके मद से मुग्ध हो रही है—इसलिये यहाँ भी उसी प्रेम नगर की तरह वाद-विवाद का कोई अवसर नहीं है—श्रोताओं को भी इसलिये प्रेम में मतवाले बनकर ही इसे सुनना चाहिये ॥ इति ॥ ६९ ॥

**पद्यानुवाद**—जहाँ निरभिमानता ही साभिमानता समझी जाती है—जैसा श्रीरूप गो० पाद के पद्यावली ३०२ में श्रीराधा की सखी के प्रति चन्द्रावली की सखी का असूयायुक्त वाक्य है—

**श्लोकार्थ**—श्रीकृष्ण के निज हस्तकमल से लिखित नव मञ्जरी (मकर पत्रिका) मेरे कपोलों पर सुशोभित हो रही है, इस हेतु से तुम अपने मन में गर्व मत धारण करो । सखि ! और क्या कोई ऐसी नवमञ्जरी रचना के सौभाग्य का भाजन नहीं बन सकती ? यदि रचना करते समय वैरी कम्परूप विघ्न उपस्थित न हो—अर्थात् श्रीकृष्ण जब हमारे कपोलों पर चित्रकारी करना आरम्भ करते हैं, तभी उनके स्पर्शमात्र से शरीर रोमाञ्चित एवं कम्पित हो जाता है । अतः रचना बिगड़ जाती है इसमें हम क्या करें ? श्रीकृष्ण का दर्शन स्पर्शन आदि पाकर भी तुम्हारे शरीर में सात्विक भावों का उदय नहीं होता है तो क्या तुम पत्थर की हो ? ॥ ३०२ ॥

रहसि मधुरमधुरहासविलासादिकलाकलापैर्निजवशीकृतेन रसिककान्तेन निजललितकरकमलकलितरतिविलुलिततिलकाद्यलंकृततया सावलेपां स्वमुख्यसख्या सस्मितमवलोकितामवलोक्यान्ते स्थिता प्रखरस्वभावतया सासूयं तामाह—मा गर्वमिति । तव कपोलतले कपोलपाल्यां कृष्णस्वहस्तलिखिता कृष्णेन श्यामसुन्दरेण स्वेनासाधरेण, यद्वा, स्वेनैव न तु स्वशिक्षया सखीहस्तेन रचिता कृता या नवमञ्जरी नवीनमकरिकापत्रं चकास्ति शोभते, इति गर्वं मा उद्वह उद् उच्चैर्मा वह । अत्रोद्वहेति क्रियापदसामर्थ्याद् मुधा भाररूपं गर्वं मा धारयेत्यर्थः । हे सखि ! इति सम्बुद्धिः सख्येनैव त्वामुपदिशामि मनसि मय्यसूयां मा रचयेति बोधयति । यतोऽन्या किमीदृशीनां भाजनं न ? अपि त्वस्त्येवेति । निजसखीमुखं मनागवलोक्य पुनराह—यदि वैरी शत्रुः प्रकरणसम्भवः हरेः कम्पोऽन्तरायः प्रत्यूहो न भवेत् । मम सख्यां प्रियस्य प्रेमातिशतात् सद्यः करकम्पेन नवमञ्जरीलिखनमशक्यमेवेति प्रेमपरिणाहगुणाभिज्ञा गर्वयोग्यापि गम्भीराशयतया नेयं गर्वं समुद्भावयति, त्वयि तु प्रियस्य प्रेम्णः परिमिततया निष्कम्पाभ्यां कराभ्यां नवमञ्जरीलिखनं सुखं स्यादिति प्रेमतारतम्यानभिज्ञा नवमञ्जरीशोभां मुहुः दर्शयन्ती तन्मात्रेणैव प्रेमगर्विता मा भूरिति भावः । एवं मधुररतिकृतोऽयमगर्वसगर्वयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ॥

**यथा—"मत्सखीं विलुलितालकभूषां वीक्ष्य सेयमलसा स्वयमेव ।**
**तत्तथैव सखि ! सर्वमीर्ष्यया कुर्वती वहति गर्वमखर्वम्" ॥**

---

**टीकानुवाद**—एकान्त में मधुर-मधुर हास-विलास आदि कला-कलापों से रसिक कान्त को अपने वश में करके उनके द्वारा अपने कर-कमलों से निर्मित और रतिकाल में कुछ पुछ गये तिलकादि से सुशोभित अतएव ऐसी कोई अभिमानवती थी । उस दशा में ललिता आदि की मुख्या सखी श्रीराधारानी के द्वारा मुस्कराती देखी गई । उसको देखकर समीप में बैठकर प्रखर स्वभाव होने के कारण असूया के साथ उसके प्रति वह बोली—तुम्हारी कपोलपाली में श्यामसुन्दर ने—उनका वह हस्त विशिष्ट है—उससे, अथवा 'स्व' का अर्थ हुआ अपने हाथों से, न कि अपनी शिक्षा द्वारा सखी के हाथ से, निर्मित यह नवीन मकर पत्रिका शोभित हो रही है । इस बात का तुम गर्व मत करो । 'उद्वह' में 'उत्' का अर्थ अधिक और 'वह' का अर्थ धारण करना, भाव यह है कि तुम इतना अधिक अभिमान मत करो । यहाँ 'उद्वह' क्रिया पद के सामर्थ्य से यह भी अर्थ निकलता है कि वृथा इस अभिमान रूप भार को मत धारण करो (मत ढोवो) । हे सखि ! यह सम्बोधन इस बात को सूचित करता है कि कहनेवाली यह कहना चाहती है कि मैं तुम्हें सखी-मैत्री भाव से ऐसी शिक्षा दे रही हूँ, अपने मन मेरे प्रति किसी असूया भाव को मत बैठा लेना । क्योंकि क्या अन्य प्रेयसी इस प्रकार हस्त लिखित नव पत्रिका रचना की पात्र नहीं हैं ? अपितु है ही—अपनी प्रिय सखी राधा की ओर कुछ देखकर फिर बोली—यदि श्री 'हरि' का सात्विक भावोत्थ कम्प, जो रचना के प्रकरण के समय में सम्भव है, वैरी अर्थात् विघ्न न हो जाये । मेरी सखी के प्रति उन प्रियतम का अत्यधिक प्रेम है इसी कारण जब वह नव मञ्जरी लेखन आरम्भ करते हैं तत्काल कर कम्प हो जाने से, वे वैसा करने में समर्थ नहीं हो पाते । प्रेम के महान् गुणों को जाननेवाली यह हमारी सखी गर्व योग्या भी, आशय की गम्भीरता से गर्व नहीं करती । तेरे प्रति तो प्रियतम का प्रेम परिमित है इसी हेतु निष्कम्प हाथों नव मञ्जरी लेखन सुख से हो जाता है । इस प्रेम सम्बन्ध के तारतम्य को न जानने के कारण नव मञ्जरी शोभा को बार-बार दिखाती हुई इतने मात्र से प्रेम गर्विता मत हो, यह भाव है । इस प्रकार मधुर रतिकृत यह उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट है । जैसा कि इस अगले पद्य में आया है—

**श्लोकार्थ**—हे सखि ! विशाखे ! देख तो सही ? अस्त-व्यस्त भूषण अलक वाली हमारी प्रिय सखी श्रीराधा को देखकर यह वही गोकुल विश्रुत सखी ईर्ष्या विवश हुई, स्वयमेव जैसा का तैसा (हमारी

श्रीकृष्णाङ्गसङ्गमाङ्कालंकृततनुं नयनवचनगमनादिषु समुल्लसदीषदभिमानां कामपि विपक्षासखीं समवलोक्य ललिता प्रखरस्वभावा स्वमुख्यसखीं सुखयितुमितरसखीभिः सह सासूयं तामुपहसति—हे सखि ! विशाखे ! पश्य, सेयं—सा समस्तगोकुलविख्यातरूपगुणचातुर्य्या, इयं पुरतो दृश्यमानेत्यंगुल्या निर्दिशति। प्रातः निकुञ्जमन्दिरादुपागतां विलुलितालकभूषां विलुलिता विपर्यस्तविन्यासा अलका भूषा भूषणानि च यस्यास्ताम् । एतदुपलक्षणमन्येषां वसनाञ्जनतिलकादीनां यथाऽधरव्रणनखाङ्कजृम्भणाङ्गमोटकादीनामपि ज्ञेयम् । एवं सौभाग्यसुखसम्पन्नां मत्सखीं श्रीराधां वीक्ष्य विलोक्य चतुरतया स्वयमेव मुधैव अलसा सती यत्सख्यामवलोकितं तत्तथैव यथावत्स्वाधीनत्वात् स्वयमेव मुधा कुर्वती कुर्वाणा केवलमखर्वमनल्पं गर्वमभिमानं वहति धरति । अत्र वहतीति क्रियापदसामर्थ्याद् गर्वस्य भारत्वारोपः, तेन वृथा भारं वहतीत्याशयः। एवं सखीभिः सह सहस्ततालं स्वयमुपहस्य मुख्यां सखीमपि हासयामासेति । अत्र तस्यां गर्वस्याखर्वत्वकथनं स्वसख्यां गर्वाभावस्य अखर्वत्वं व्यञ्जयति—व्यञ्जनया प्रकाशयति । तेनान्वयव्यतिरेकाभ्यामगर्वत्वसगर्वत्वयोः हास्यरतिकरम्बितसख्यरतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः सम्यक् स्फुट एव । नात्र विशेषव्याख्यानावसरः ।।

**यत्र सकामत्वमेवाऽकामत्वम् ।।**

यत्रेति । प्रेम्णा कृष्णे सकामत्वं निष्कामत्वादधिकमिति मुनीद्रस्याभिप्रायः । पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमिति गोपीनां परमानन्द इत्यादौ भगवत्पदप्राप्तिकामस्य राज्ञस्तेन सादरं तासां सकामत्वस्यैव मुहुर्वणनाद् । उक्तञ्च श्रीभगवता—"न मय्यावेशितधियाम्" इति ।।

---

सखी जैसा) बनावटी वेष करती हुई एवं अलसाती, अखर्व गर्व को धारण कर रही है ।

**टीकानुवाद**—श्रीकृष्ण के अङ्ग-सङ्गम के चिह्न से शोभित शरीरवाली अतएव नयन वचन और गमन (गति) आदि में अभिमान प्रकट करती हुई किसी विपक्षा सखी को देखकर उग्र स्वभाव ललिता अपनी मुख्या सखी को प्रसन्न करने के लिये अन्य सखियों के प्रति असूया पूर्वक उनका उपहास करती है—हे सखि विशाखे ! देख समस्त गोकुल में, जिसके रूप-गुण-चातुर्य्य की विख्याति हो रही है वही यह सामने दीख रही है। इस प्रकार अंगुली से निर्देश करती बताती है। जब इसने प्रातःकाल मेरी सखी राधा को निकुञ्ज मन्दिर से, इस रूप में निकलते देखा—कि जिसके केश फैले हुए, भूषण ढीले पड़े हुए हैं—यह स्थिति अन्य वस्त्र-अञ्जन, तिलक, तथा अधर व्रण, नखाङ्क जृम्भण-अङ्ग मोटन आदि का भी उपलक्षण है। ऐसी सौभाग्य सुख सम्पत्ति सम्पन्न मेरी सखी राधा को देखकर, इसने अपने आप ही चतुराई से झूठ-मूठ वैसा आलस आदि युक्त भाव बना लिया और अब केवल उसी महान् अभिमान को धारण कर रही है। यहाँ पर 'वहति' क्रिया पद के सामर्थ्य से गर्व में भारत्व का आरोप किया गया है—जिससे, वृथा भार ढो रही है, यह आशय निकलता है। इस प्रकार सखियों के साथ हाथों से ताली बजाती हुई अपने आप उपहास करके अपनी मुख्या सखी को भी हँसाया। यहाँ उस विपक्षा में गर्व की अधिकता का वर्णन और अपनी सखी में गर्व का अभाव व्यञ्जना (शक्ति) से प्रकाशित हुआ है। इससे अन्वय व्यतिरेक द्वारा अगर्वत्व और सगर्वत्व का हास्य रति से मिश्रित सख्य रतिकृत दोनों का विपर्यय भली भाँति स्फुट ही है। यहाँ विशेष व्याख्या का अवसर नहीं है ।। इति ।।

**मूलानुवाद**—जहाँ सकामना ही अकामता (निष्कामता) है—

**टीकानुवाद**—श्रीकृष्ण में प्रेमवश सकामता होना निष्कामता की अपेक्षा भी महत्व पूर्ण है यह मुनीन्द्र (शुकदेव) का अभिप्राय है जैसा भा० १०-१५-४३ तथा १०-१९-१६ पद्यों में (देखना चाहिये)—क्योंकि इत्यादि स्थलों में यह प्रकट है कि भगवत् प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले राजा (परीक्षित) के प्रति मुनीन्द्र ने वड़े आदर से उनकी समामता का ही बार-बार वर्णन किया है। वैसा ही श्रीभगवान् का वचन

यथोक्तं श्रीरूपगोस्वामिचरणैः—

"प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि ! कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथा साहं राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम् ।
तथाप्यन्तः खेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति ॥" इति ।

कुरुक्षेत्रयात्रायामेकान्ते कान्तेन सह संलापसङ्गमादिसुखमनुभूय स्वसखीसंसदमुपगता वदनप्रसत्तिसंसूचितसकलसौभाग्यसुख सम्पत्तिरपि कान्ता सस्मितां ललितां प्रति सस्मितं विस्मितं शनैः स्वमनोभिलषितापूर्तिलेशं कथयन्ती रसस्याऽपरिपूर्णतयैव स्वादुविशेषोपलम्भकत्वं व्यञ्जयति—प्रिय इति । हे सहचरि ! ललिते ! अयमेव मदीयमनःसन्तापोपशमनः कृष्णो नवनीरदसुन्दरः सः "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" इति न्यायात् स एवेत्यर्थः । नृपत्वप्राप्तावपि पूर्ववदेव प्रणयरसमयस्वभावसरल एवेत्यर्थः । अत एव प्रियः पूर्ववदेव मयि प्रीतिकृत् "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कर्त्तरिकप्रत्ययविधानात् तत एव प्राणादपि अधिकप्रियो जात इति प्रियपदस्यैवार्थद्वयम्, तथा पुनः राधाख्याहमपि सैव मानाक्रान्तमानसैव, तथा तत्पूर्ववदेव उभयोरावयोः सङ्गमसुखमपीति पूर्ववदेव सर्वसुखसाकल्यमुक्तम् । तथापीदं मम मनः अन्तः निजान्तः कालिन्दीपुलिनविपिनायैव स्पृहयति । कालिन्दी श्रीयमुना तस्यास्तटे यत् पुलिनं तन्निकटे यद्वनं श्रीवृन्दावनमेव मुहुः स्मरतीत्यर्थः । कीदृशाय—खेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे खेलन्ती सुखं गानकेलिं कुर्वती या मधुरस्वरा मुरली तस्याः पञ्चमाख्यो यः सप्तमस्वरविशेषस्तं जुषते सेवत इति तथा तस्मै । एवं स्वसुखसाकल्यमभिव्यज्य

---

भा० १०-२२-२६ में है देखना चाहिये । जैसा कि श्रीरूप गो० पाद का वाक्य पद्यावली ३८३ में आया है—

**पद्यानुवाद**—हे सहचरि ललिते ! इस कुरुक्षेत्र में मिलनेवाले हमारे प्राण प्यारे वही श्रीकृष्णचन्द्र हैं, मैं भी वही राधा हूँ । हम दोनों का परस्पर मिलन सुख भी वही है—तथापि अपने मध्य में खेलती हुई मधुर मुरली के पञ्चम स्वर विशिष्ट राग का जो सेवन कर चुका है, कालिन्दी के तीर पर विराजमान उसी परम रमणीय श्रीवृन्दावन के लिये मेरा मन चाहता है ॥ इति ॥

**टीकानुवाद**—कुरुक्षेत्र यात्रा में (कान्ता) एकान्त में कान्त के साथ संलाप संगम आदि सुख का अनुभव करके, अपने सखी समाज में आई । उस समय उनके मुख की प्रसन्नता से यह भली भाँति सूचित हो रहा था, कि यह समस्त सौभाग्य सुख सम्पत्ति से युक्त है । फिर भी उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उनकी अपने मनोभिलाष की कुछ ही पूर्ति हुई है । इस भाव से वह कान्ता स्वयं मुस्कराती हुई ललिता के प्रति विस्मय मुद्रा में धीरे से—उस स्वाद विशेष की उपलम्भता की अपरिपूर्णता के कारण को व्यञ्जन करती है—हे सहचरि ! हे ललिते ! मेरे मन के सन्ताप कों दूर करनेवाले, नवीन बादल के समान सुन्दर वे ही यह श्रीकृष्ण (प्रियतम) हैं और राज्य पद को प्राप्त होने पर भी यह पहले ही के समान प्रणय रसमय और सरल स्वभाव हैं, अर्थात् पहले ही के समान मेरे प्रति प्रीति रखते हैं । यहाँ 'प्रियः' यह पद 'इग....' इस सूत्र से कर्त्ता में 'कः' प्रत्यय विधान द्वारा सिद्ध हुआ है । इसलिये प्रान से भी अधिक प्रिय हो गये हैं । इस तरह प्रिय पद के ही दो अर्थ हैं । पुनः राधा नामवाली मैं भी वही मान आदि करनेवाली हूँ और हम दोनों का संगम सुख भी पहले ही के समान हुआ है, इससे यह बात कही गई कि पहले ही के समान समस्त सुखों की पूर्णता है । इतने पर भी, यह मेरा मन श्रीयमुना के तीर उसके पुलिन में जो वृन्दावन है—वहाँ श्रीकृष्ण के द्वारा पंचम स्वर से गान करती हुई मधुर मुरली का निनाद सदा गूँजता रहता है । इस प्रकार यहाँ अपने सुख की परिपूर्णता का अभिव्यञ्जन करके कुछ अपूर्णता के कहने से भी उस वृन्दावनस्थ मधुर रस की परम आस्वादनीयता अभिव्यक्त होती है । क्योंकि प्राचीनों की उक्ति ऐसी है, कि अपरिपूर्ण रस-

किञ्चिदपूर्त्तिकथनेनापि तद्रसस्य परमास्वादनीयत्वमभिव्यञ्जितम्, अपरिपूर्ण एव रसः स्वादुतामापद्यते इति प्राचीनानुमुक्तेः। अत्र सर्वसम्पत्परिपूर्त्या अप्राप्तांशस्येप्सिततमत्वाभावात् 'स्पृहेरीप्सितः' इति सूत्रेण चतुर्थ्येवेति ज्ञेयम्। एवं मधुररतिकृतोऽयं सकामत्वाकामत्वयोर्विपर्ययः स्फुट एव॥

**यथा वा—यो गुञ्जन्मुरलीमञ्जुमुखाम्बुजविलोकने।**
**कामो नामोत्तमः प्रेमा कोऽपि गोपनतभ्रुवाम्॥ १००॥**

दुर्दैवात् प्रणयपद्धतिसिद्धान्तविरुद्धा विशुद्धबुद्धीनामश्रान्तसङ्गितसञ्जातदुर्वैराग्यरोगाक्रान्तस्वान्ततयैव श्रीकृष्णविषयकव्रजजनविशेषस्नेहविशेषलेशसंश्लेषादपि बिभ्यतं चिरान्निजान्तिकमागतं स्वशिष्यं करुणावरुणालयः कोऽपि परिणतानन्यरसिकभक्तवरः शनैः समुपदिशति—य इति। रे! त्वं वृद्धोऽपि बाल एवासि, ततः शृणु, गोपनतभ्रुवां व्रजसुन्दरीणां गुञ्जन्मुरलीमञ्जुमुखाम्बुजविलोकने गुञ्जन्ती परममधुराधरमधुमदंमुदितेव मधुरतरकलस्वरवती या मुरली तया मञ्जु पूर्वतोऽपि मञ्जुलं मनोहरं यन्मुखाम्बुजं सर्वसन्तापहारित्वहृदयनयनानन्दकारित्वश्रीनिकेतत्वादिसाधारणधर्मैः मुखमेवाम्बुजं कमलं तस्य विलोकन विशेषेणावलोकनम्। अत्र विशब्देन मुहुरवलोकितेऽपि तस्मिन् प्रेमस्वभावसुलभं परमोत्कलिकाकुलत्वं ध्वनितम्। तस्मिन् यः कामः। नाम इति प्रसिद्धौ। लोके काम इति नाम्ना प्रसिद्ध इत्यर्थः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् स कोऽपि अनिर्वचनीयः परमात्मतत्त्ववद् अन्तरेवानुभूयमानः परमानन्दरूपस्तासां प्रेमा प्रेमैवेत्यर्थः। न तु विद्वद्विवेकबाधाकरः साधारणः कामः, अतएवोत्तम उत्कृष्टतमः, स्वतः सुखरूपस्यापि तस्य

---

स्वादुभाव को प्राप्त होता है। यहाँ सर्व सम्पत्ति के परिपूर्ण होने पर भी, जो अंश अप्राप्त है अर्थात् अपरिपूर्ण है वह 'ईप्सित' अर्थात् अत्यन्त अभिलषित नहीं है। इसी कारण 'स्पृहे...' इस सूत्र से '....विपिनाय' यहाँ चतुर्थी है। इस प्रकार मधुर रतिकृत यह सकाम-अकाम का विपर्यय स्पष्ट ही है। ग्रन्थकार का पद्य सं० १०० प्रमाण में दिया गया है—

**श्लोकार्थ**—वंशी के निनाद से अदि सुन्दर श्रीकृष्ण के मुख कमल का दर्शन करनें में गोपाङ्गनाओं को जिस उत्तम प्रेम का उदय होता है वही काम नाम से यहाँ प्रसिद्ध है॥ १००॥ इति॥

**टीकानुवाद**--किसी महात्मा का एक शिष्य था। दुर्भाग्यवश उसकी बुद्धि प्रेम पद्धति के सिद्धान्त के विरुद्ध थी। उसे विशुद्ध बुद्धिवाले स्नेहीजनों का संग प्राप्त नहीं हुआ था। इसलिये उसका अन्तःकरण दुर्वैराग्य रोगाक्रान्त था। अतएव वह, श्रीकृष्ण विषयक मुख्य व्रजजनों के स्नेह विशेष के थोड़े से भी समीपस्थ सम्बन्ध से डरता था, कुछ दिनों बाद वह अपने परम दयालु श्रीगुरु के पास आया, जो परिणत तथा अनन्य रसिक भक्तवर थे। अपने शिष्य को वैसा देखकर धीरे से उपदेश देने लगे—अरे! तू तो वृद्ध होने पर भी बालक ही है। इसलिये सुन—श्रीकृष्ण के परम मधुर, अधर मधु के मद से मानो प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ, वेणु अत्यन्त मधुर स्वरालाप करता रहता है। उससे श्रीकृष्ण मुख पहले की अपेक्षा भी और अधिक मनोहर हो रहा था। कमल के ही समान उनका मुख समस्त सन्तापों को दूर करनेवाला, हृदय और नेत्रों को आनन्दप्रद तथा शोभा का निकेतन (स्थान) हो रहा था। इस प्रकार कमल के साधारण धर्म श्रीकृष्ण मुख में प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहे थे। गोपाङ्गना जन उसका विशेष रूप से अवलोकन (दर्शन) किया करती थीं। यहाँ विलोकन पद में 'वि' उपसर्ग से यह ध्वनित हुआ, कि बार-बार दर्शन करने पर भी प्रेम स्वभाव सुलभ अति उत्कण्ठा से दर्शन के लिये वे आकुल रहतीं। वहाँ का काम अनिर्वचनीय है—परमात्म तत्व के तुल्य ही वह अन्तःकरण में अनुभव का विषय है अतएव परमानन्द रूप है—यह गोपाङ्गनाओं का प्रेमानाम शब्द प्रसिद्धि वाचक है—लोक में इस प्रेम ही की काम नाम से प्रसिद्धि है। 'यत्' और 'तत्' का नित्य सम्बन्ध है। इससे यह आया

कामरूपताङ्गीकारेणैव तत्तत्केलिकदम्बनिदानतया परमचमत्काराकरत्वावाप्तेः। तदुक्तं श्रीरूपगोस्वामिभिः—"तत्तत्क्रीड़ानिदानत्वाद्" इति। तथा च तन्त्रे—"प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्" इति। पुनरुत्तम इति विशेषणेनैवास्य प्रेम्णो लोकप्रसिद्धैः सिद्धैः साधकैरपि क्रमेण रसरूपतया स्वादनीयपरमफलरूपत्वेन तथा निखिलरागरोगनिरसनरसरूपतया सर्वथा सेव्यत्वं ध्वनितम्। ततस्त्वयापि सांसर्गिकहृदयरूक्षतारोगनिरासार्थमयमेव सततं सेव्य इति स्वशिष्यशिक्षणमनु ध्वनिः। ततस्तस्मिन्नपथ्यमतिमतथ्यां सन्त्यजेति प्रत्यनुध्वनिः। इममेवार्थं तन्नगरे कीरोक्तिविलासोऽपि क्षतभावत्वादीषन्मर्यादामेवावलम्ब्य स्वान्तःस्थेन युक्तिविशेषमयेण भगवद्वचनेन तत्रत्यान् सर्वदा शिक्षयति। यथा—"न मय्यावेशितधियाम्" इति। एवं मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव॥ १००॥

**यत्र रविरेव चन्द्रः॥ यत्र रविरिति। स्पष्टार्थमेतत्॥**

**यथा कस्यचित्—"भीष्मग्रीष्मर्त्तुसन्तापशून्यरथ्यान्तरस्थयोः।**
**अन्योन्यालापसुखिनोर्यूनोश्चन्द्रायते रविः"॥ इति।**

कदाचित्प्रबलतराऽपूर्वपूर्वानुरागरसरञ्जितमनसोर्दूरादपि क्वचिदपि कदाचिदपि किञ्चिदपि कथमपि दर्शनमात्रमपि स्यादिति निरन्तरमन्तरभिलषितवतोर्दिने एव निर्जनवनवीथिकायां यदृच्छया सहसा सङ्गतयोस्तयोः कान्ताकान्तयोः परस्पररसावलोकनपरे ललिताविशाखे परस्परमास्वादयतः—भीष्मेति। अयि!

---

कि जो काम है वही प्रेम है, न कि विद्वानों के विवेक ज्ञान का बाधक साधारण काम। अतएव वह उत्कृष्टतम है—स्वयं सुख स्वरूप है—उसकी काम रूपता के स्वीकार करने से ही उन-उन केलि समूहों की कारणतावश परम चमत्कारों की निधि वह बना है। जैसे...श्रीरूप गो० पाद का प्रमाण एवं तन्त्र का प्रमाण उद्धृत है कि 'गोपियों का प्रेम ही काम नाम से प्रसिद्ध हो गया है।' फिर इसे उत्तम कहा गया है इस विशेषण से ही प्रेम की लोक प्रसिद्धि, सिद्ध और साधकों द्वारा क्रम से रस रूप से आस्वादन की परम फल रूपता से तथा समस्त राग रूप रोगों को निराकरण (मिटा देना) करना ही इसकी रस रूपता है, और इसी से इसमें सर्वथा सेव्यत्व ध्वनित हुआ अर्थात् जगत के राग ही रोग हैं उन्हें यह नष्ट कर देता है। इसलिये तुम भी संसर्ग दोष से उत्पन्न हुए हृदय रूक्षता रोग को दूर करने के लिये इसी प्रेम का निरन्तर सेवन करो, इससे यहाँ अपने शिष्य को शिक्षा देने की अनुध्वनि हुई तथा श्रीकृष्ण विषयक जो तुमको मिथ्या ज्ञान हुआ, ऐसी अनुचित बुद्धि हो गई है उसका त्याग करो यह प्रत्यनुध्वनि हुई। इस प्रकार प्रेम-नगर में भागवत् भाव की रक्षा करते हुए तथा कुछ मर्यादा अवलम्ब लेकर अपने युक्तियुक्त विशेष वचन से वहाँ के जनों को सर्वदा शिक्षा देता है। तथा भगवान् के वचन १०-२२-२६ में स्पष्ट कहा। इस प्रकार मधुर रतिकृत यह सकामता-अकामता का विपर्यय स्पष्ट ही है। इति॥ १००॥

**मूलानुवाद**—उस प्रेमपत्तन में सूर्य ही चन्द्र का स्थान लेता है:—जैसे किसी कवि की सूक्ति है—

**श्लोकार्थ**—भयानक ग्रीष्म ऋतु के सन्ताप से मार्ग में कोई भी प्राणी नहीं चल रहा था, परन्तु उसी समय उस मार्ग पर दो प्रेमी अपने परस्पर प्रेमालाप से सुखी हो रहे थे। उनके लिये वह सूर्य चन्द्र के जैसा हो रहा था॥ इति॥

**टीकानुवाद**—एक समय की बात है कि अति प्रबल और अपूर्व पूर्वानुराग रस से प्रिया-प्रियतम का मन अति रञ्जित था। वे परस्पर संयोग को लालायित थे, परन्तु दूर से भी—कहीं भी-किसी प्रकार भी-थोड़ा सा भी-कैसे भी-दर्शन मात्र भी नहीं हो पा रहा था। उनके मन में निरन्तर इस बात की अभिलाषा लगी ही रहती थी। एक बार दिन में ही निर्जन वन मार्ग में एकाएक अकस्मात् उन दोनों को वार्तालाप करने का सुयोग मिल गया। उन दोनों के उस परस्पर सुख प्रसङ्ग को देखने में मग्न हुई ललिता

पश्य, कनकमालतीकमलदलकोमलकलेवरयोरप्यनयोर्यूनो रविः वृषादित्योऽपि चन्द्रायते शरच्चन्द्रतामाचरति। तीव्रातपोऽपि कौमुदीत्वं प्राप्त इति भावः। कीदृशयोः—भीष्मेति भीष्मो भयानको यो ग्रीष्मस्तेन यः सन्तापः परमोष्मा तेन हेतुना शून्या जनयातायातरहिता या रथ्या प्रतोली तस्या अन्तरं मध्यं तत्र स्थितयोः, अत एव सचकितं ससम्भ्रममन्योन्यं परस्परं यः आलापः सम्भाषणमात्रं तेनैव सुखिनोः परमानन्दवतोः इति मधुररतिकृतोऽयं तयोः पुष्पवतोर्विपर्य्ययः॥

(टि—एकयोक्त्या पुष्पवन्तौ दिवाकर निशाकरौ इत्यमरः)

**यथा वा—तपन्तु दैवाद्बत केऽपि जन्तवः समीक्ष्य कान्तां निजकान्तसङ्गताम्।**

**दिने स पापोऽपि तपार्कसम्भवस्तापोऽपि चन्द्रावलि! चन्द्रिकायते॥ १०१॥**

श्रीवृन्दावनशीतभानुना समं श्रीवृषभानुसुता मध्यंदिने भानुमत्सहस्रभानुसंसर्गसञ्जातचाकचिक्याधिक्यं भानुसुता सकैतवमवलोकयतीति निजसखीमुखान्निभृतं निशम्य सद्यःसमुदितमत्सरतया किञ्चिद्विवर्णवदना धीरतया क्षणमात्रं मौनमवलम्ब्य, अहो धन्यास्ताः, वयन्त्वस्मिन् तीव्रातपे बहिः पदमप्यर्पयितुमनीशा इति व्यञ्जितेन निजसौकुमार्य्येणोपहसित स्वसखीसौकुमार्य्यां चन्द्रावलिं प्रति ललिता प्रगल्भस्वभावाऽपि वल्गुभिरेव वचनैः सावहित्थं किञ्चिदुदन्तकथनकैतवेन तदाक्षेप पुरस्सरं कान्ताकन्तयोः पारस्परिकमनुरागातिशयं व्यञ्जयति—तपन्त्विति। हे चन्द्रावलि! इति सादरं सम्बुद्धिः आस्तां तावद्बहिर्निःसरणं सुकुमारीणां चन्द्रा-

---

विशाखा आपस में आस्वाद मुद्रा में कहती हैं—हे सखि! देख कनक मालती दल तथा कमल दल के समान कोमल कलेवर इन दोनों प्रिया-प्रियतम के लिये यह वृष राशि स्थित सूर्य भी शरत् कालीन चन्द्रमा का आचरण कर रहा है। यह घोर घाम भी इनके लिये (शीतल) चान्दनी बन गई हैं। भयानक ग्रीष्म ऋतु के सन्ताप के कारण यह व्रज की गलियाँ जनता के यातायात से शून्य हो रही हैं। उस ऐसी एक गली के बीच में दोनों स्थित हैं तथा अति चकित एवं सम्भ्रम से आपस में वार्तालाप कर रहे हैं जिस सम्भाषण मात्र से ही दोनों परमानन्द का अनुभव कर रहे हैं। इस प्रकार मधुर रतिकृत सूर्य चन्द्र का विपर्यय स्पष्ट ही है॥ इति॥

यह पद्य ग्रन्थकार का प्रमाण में है—श्लोकार्थ १०१—अपने प्रियतम के संग में प्रियतमा को देखकर कोई प्राणी दुर्द्दैववश भले ही दुःखी हो तथा दिन में ग्रीष्म ऋतु के सूर्य से उत्पन्न यह पापी ताप भी चाहे रहे, परन्तु हे चन्द्रावलि! उनके लिये तो यह ताप (घाम) चान्दनी के जैसा (तुल्य) है॥ १०१॥

**टीकानुवाद**—श्रीवृन्दावनचन्द्र के साथ श्रीवृषभानुसुता को ग्रीष्म की घोर दुपहरी में, जब कि सूर्य की सहस्रों तीक्ष्ण रश्मियों के सम्बन्ध से भूमि में चिन्गारियें उड़ रही थीं, भानुमुता अर्थात् यमुना छल से उनको देख रही थी। इस बात को अपनी सखी के मुख से एकान्त में सुनकर चन्द्रावलि को तुरन्त मत्सर भाव उदय हो गया। उसका मुख मुरझा गया परन्तु धैर्य से क्षण मात्र वह मौन हो गई तथा मन में सोचा—अहो! वे धन्य हैं—हम तो इस तीव्र आतप में बाहर एक पाँव रखने में भी समर्थ नहीं हैं—इससे यह व्यक्त हुआ कि अपनी सुकुमारता से उसने स्वसखी अर्थात् राधा के सौकुमार्य्य का उपहास किया। ऐसी चन्द्रावली के प्रति प्रगल्भ स्वभाव ललिता सुन्दर वचनों से—अपने आकार को छिपाती, संक्षिप्त बात-चीत के मिस से, उसका आक्षेप करती हुई प्रिया-प्रियतम के पारस्परिक अतिशय अनुराग को व्यक्त करती है—

हे चन्द्रावलि! —यह सम्बोधन आदर पूर्वक है, परन्तु यह इस आक्षेप को व्यञ्जित करता है कि चन्द्रावलि (तुम) जैसी सुकुमारियों का बाहर निकलना तो दूर रहा—उनका धूप (शब्द) सुनना अथवा दर्शन मात्र से ही मुख मुरझा जाता है। हे चन्द्रावलि! सुनो यह विश्व के प्राणियों के जीवन का

वल्यादीनामातपश्रवणदर्शनमात्रेणैव मुखे वैवर्ण्यं भवतीति तस्या आक्षेपं व्यञ्जयति। शृणु, स प्रसिद्धः पापोऽपि विश्वजीवनशोषकत्वात् पापरूपोऽपि कान्तां सौन्दर्य्यनिधिं मत्सखीं राधिकां निजेन सहजसिद्धेन कान्तेन परमसुन्दरेण नायकेन नन्दनन्दनेन सह दिने दिवसे सङ्गतां मिलितां समीक्ष्य दृष्ट्वा तपार्कसम्भवस्तपो निदाघस्तस्य योऽर्कस्तस्मात्सम्भवो यस्य स तथा, "उष्ण ऊष्मागमस्तपः" इत्यमर वचनात् "तपेन वर्षा शरदा हिमागमः" इति माघकाव्योदाहरणाच्च। तापोऽपि चन्द्रिकायते—कौमुदीवच्छीतलत्वमेवाचरतीत्यर्थः। एतेन निजसख्या भाग्यविशेष उक्तः। एवंप्रभावां तां समीक्ष्य ये जन्तवस्तपन्ति, ते दैवान्निजदुर्दैवादेव तपन्तु, न तत्र कोऽपि तदपरोध इति पुनरपि प्रच्छन्नस्तदाक्षेपः। मम सख्यास्तु प्रियसङ्गमे निदाघातपोऽपि जोत्स्नारूपतां यातीति निजसखीप्रेमातिशयो व्यञ्जितः। एवं मधुररतिकृतोऽयं रविचन्द्रमसोर्विपर्य्यासः सम्यक प्रस्फुट एव ॥ १०१ ॥

**यत्र चन्द्र एव रविः।**

**यथा कस्यचित्—"कुलाकीर्त्तिव्रीडाऽऽकुलितमतिरात्मानमधुना**
**तिरोधातुं धत्ते नियतमयमङ्कं दिनमणिः।**
**कलङ्की मे प्रेयानिति मलिनतामेति नलिनी**
**द्वितीयोऽभूदिन्दोरिति कुमुदवृन्दं विहसति॥" इति।**

मर्य्यादापुरुषोत्तमस्यापि सकलकल्याणगुणनिधेर्मधुरमेचकीयस्वरूपान्तरत्वेनोद्रिक्तसीमासमुन्मूलनप्रबलप्रणयपरवशतया वैदेहीविरहविह्वलस्य रात्रावपि सौमित्रिणा समं तत्र तत्र तामेवान्वेषमाणस्य विरहसन्तापकत्वेन पूर्णं रजनीकरमपि दिनकरमेवाभिमन्यमानस्येन्दुरेवायमिति वदन्तं सौमित्रिं प्रति श्रीरघुकुल-

---

शोषक होने के कारण प्रसिद्ध पाप रूप ताप भी,—सौन्दर्य्य निधि मेरी सखी राधिका का, अपने सहज सिद्ध कान्त—परम सुन्दर नन्द-नन्दन नायक के साथ मिलन देखकर, ग्रीष्मकालिक सूर्य से उत्पन्न होने वाला, (ऐसा ताप) चान्दनी के समान मानो शीतलता का आचरण कर रहा है, इससे निज सखी का भाग्य विशेष वर्णन किया है। मूल में 'तपः' शब्द के अमर कोश के अनुसार-उष्ण ऊष्मागत पर्यायवाची हैं। माघ काव्य में इसका उदाहरण भी है 'तपेन....'। ऐसे (माधुर्य्य) प्रभावशाली उनको देखकर जो प्राणी दुःखी होते हैं, वे अपने दुर्दैव से ही भले दुःखी होते रहो इसमें उस (राधा) का कोई अपराध नहीं है। इस प्रकार यहाँ फिर भी छिपा हुआ आक्षेप है। मेरी सखी को तो प्रिय सङ्गम होने पर, यह घोर गरमी के दिन भी चान्दनी के समान प्रतीत होते हैं, इससे अपनी सखी के (प्रेमातिशय) गाढ़ानुराग का व्यञ्जन किया। इस प्रकार रवि-चन्द्र दोनों का मधुर रतिकृत विपर्यय स्पष्ट ही है॥ १०१॥ इति॥

**मूलानुवाद**—जहाँ चन्द्र ही सूर्य का आचरण करता है—किसी कवि की सूक्ति है—

**श्लोकार्थ**—भगवान् श्रीराम वैदेही के वियोग में चन्द्र को ही सूर्य मान कर कह रहे हैं—यह सूर्य अपने कुल की अपकीर्त्ति की लज्जा से आकुलित होकर अपने को छिपाने के हेतु लाञ्छन को धारण कर रहे हैं, और यह नलिनी—मेरा यह प्रियतम कलङ्की है—इस कारण से मलिन हो रही है—तथा चन्द्रमा के सम्बन्ध से द्वितीय (प्रकरणात् सूर्य) कलङ्की हो रहा है अतएव यह कुमुद समूह हस रहा है अर्थात् खिल रहा है॥ इति॥

**टीकानुवाद**—मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम सकल कल्याण गुण निधि थे। वे मधुर मेचक (श्रीकृष्ण) का दूसरा स्वरूप ही थे अतएव प्रेम की प्रबलता ने प्रसङ्ग वश उनकी भी मर्यादा सीमा को उन्मीलित कर दिया था। वे अपनी प्रिया वैदेही के विरह में विह्वल हो रहे थे। लक्ष्मण के साथ जहाँ-तहाँ रात्री में उसका अन्वेषण करते फिरे। विरह सन्ताप में पूर्ण चन्द्र को भी सूर्य ही मान रहे थे। लक्ष्मण ने जब कहा कि यह

तिलकस्येयं प्रलापोक्तिः—कुलार्कतिरिति । वत्स ! लक्षण ! अयं नियतं निश्चितं दिनमणिरस्मत्पूर्वपूर्वजः सूर्य्य एव, न चन्द्रः, साक्षात्सन्तापकारित्वात् । अङ्कन्तु आत्मानं तिरोधातुं मां कश्चिद्रविरयमिति मा प्रत्यभिजानातु इत्यात्मानं स्वं तिरोधातुं गोपयितुमङ्कमङ्कमिव किमपि वस्तु धत्ते निजाङ्कमारोपयतीत्यपि नियतं निश्चितमेव । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । अत्र हेतुगर्भं विशेषणम्—कुलाकीर्त्तिव्रीडाकुलितमतिरिति । हीनपराक्रमस्य हतदारस्य दीनस्य मम सम्बन्धाद् या कुलस्य निजान्वयस्याकीर्त्तिस्तया या व्रीडा तया आकुला व्याकुला मतिर्यस्येति । तर्हि नलिनी निमीलनं कथमिति तत्राह—मे मम प्रेयान् प्रियतमः पद्मबन्धुः कलङ्की जात इति नलिनी कमलिनी जातावेकत्वं लज्जया निजवदनमदर्शयन्ती मलिनतामेति, न तु तस्यास्तन्नैसर्गिकं निमीलनमिति भावः । तर्हि कैरवविकासः कथमिति तत्राह—द्वितीयोऽभूदिति, पूर्वमेतत्पर्य्यन्तं मत्प्रियः कुमुदबन्धेरेव कलङ्कीति प्रसिद्धः सम्यग्ज्ञातः । इदानीन्तु तस्मादिन्दोः सकाशाद् द्वितीयः कलङ्की अभूदिति कुमुदवृन्दं विहसति. "न दुःखं पञ्चभिः सह" इति न्यायात् । नायं तेषां स्वाभाविको विकास इत्यत्र कुमुदपदेन कुत्सिता मुदो यस्येति समासेन परविषादसन्तोषतया तन्मुदामतिकुत्सितत्वं व्यञ्जितम् । एवमनुकूलनायकतया प्रख्यातस्य श्रीसीतापतेः दशरथराजकुमारस्य समञ्जसरतिकृतोऽयं निशाकरदिवाकरयोर्विनियमः सम्यक् स्फुट एव ॥

**यथा वा कस्यचित्—"वत्स ! यत्सरसिजस्य मुद्रणं चण्डरोचिरुदयेऽपि दृश्यते ।**
**नूनमत्र शतपत्रकानने शीतदीधितिमुखी भविष्यति" ॥ इति ॥**

---

सूर्य नहीं चन्द्रमा है उस समय रघुकुल तिलक की लक्ष्मण के प्रति यह प्रलापोक्ति है-वत्स ! लक्ष्मण ! निश्चित रूप से हमारे पूर्वजों का भी पूर्वज यह सूर्य है चन्द्रमा नहीं—क्योंकि यह मुझे साक्षात् सन्ताप पहुँचा रहा है । इसमें यह अङ्क (मृगाङ्क-लाञ्छन) है यह उसने अपने आपको छिपाने के लिये—न कि, मेरे को—यह सूर्य है ऐसा कोई न समझ ले, इस हेतु धारण किया है, अर्थात् अपने आपको छिपाने के लिये अङ्क—गोद के समान ही किसी वस्तु को निश्चित ही अपने अङ्क में स्थापित किया है । जिसमें पराक्रम नहीं रह गया है, जिसकी स्त्री का हरण हो गया है, ऐसे मुझ दीन के सम्बन्ध से, अपने वंश में उदित हुई अपकीर्त्ति के कारण—(हमारे पूर्वज) इस सूर्य की मति लज्जा से व्याकुल हो रही है । (लक्ष्मण प्रश्न) फिर यह कमलिनी मुकुलित क्यों हो रही है ? इस पर वे बोले—कमलिनी ने यह सोचा कि यह हमारा प्रियतम पद्म बन्धु कलङ्की हो गया है इसलिये लज्जावश अपने मुख को नहीं दिखा रही और मलिन हो रही है—न कि यह उसका स्वाभाविक निमीलन है । यहाँ जाति में एक वचन है अर्थात् एक कमलिनी नहीं अपितु बहुत समझनी चाहिये । (लक्ष्मण प्रश्न) तो फिर यह कुमुद क्यों खिल रहे हैं ? इस पर बोले—कुमुद न सोचा कि अब तक तो मेरा प्रिय चन्द्रमा ही कलङ्की प्रसिद्ध था, परन्तु अब चन्द्र के सम्बन्ध से यह दूसरा (सूर्य) कलङ्की हो गया है । इसलिये कुमुद वृन्द खिल अर्थात् हँस रहे हैं । 'न....' न्याय है कि पाँच के साथ दुःख का अनुभव नहीं होता । यह उन (कुमुद) का स्वाभाविक विकास नहीं है यह अर्थ कुमुद पद के समास से सिद्ध हो जाता है, जिसका हर्ष कुत्सित है । इससे यह व्यञ्जित हुआ कि दूसरे के विषाद से अपने में सन्तोष का अनुभव करना यही कुमुद के हर्ष का अति कुत्सितपन है । इस तरह अनुकूल नायक रूप से प्रसिद्ध श्रीसीतापति दशरथ राजकुमार का समञ्जसा रतिकृत यह निशाकर-दिवाकर का विनिमय भली भाँति स्पष्ट है ॥ इति ॥

इसी प्रसङ्ग में श्रीराम की ओर उक्ति है—पद्यानुवाद—वत्स लक्ष्मण ! सूर्य के उदय होने पर भी जो कमल का न खिलना है, इससे ज्ञात होता है कि इस कमल वन में अवश्य ही वह चन्द्रमुखी (वैदेही) होगी ॥ इति ॥

पूर्वपद्यावतारिकायां लिखितावस्थ: समुदितसकलकलानिधौ निशीथे निमीलितं कमलवनमवलोक्य किञ्चिदाशाभासाश्वासितमानस: श्रीजानकीजानि: स्वानुजमनुवदति—वत्सेति। हे वत्स! इति वात्सल्यमयीयं सम्बुद्धि: सूर्य्यमपि चन्द्रं कथयतस्तस्य मुग्धत्वं व्यञ्जयति। पश्य, चण्डरोचिरुदये चण्डरोचिष: सूर्य्यस्योदयस्तस्मिन्नपि साक्षाद् मां सन्तापयतो निदाघसहस्रभानोरुदयेऽपि सरसिजस्येति जातावेकवचनं कमलानामित्यर्थ:, मुद्रणं निमीलनं दृश्यते—प्रत्यक्षमनुभूयते। अत्र वने नूनं निश्चितं शीतदीधितिमुखी चन्द्रमुखी सा मज्जीवनौषधि: सीता भविष्यतीति। अत्र शीतदीधितपदं परिकराङ्कुरेण तन्मुखस्यैव स्वसन्तापहारित्वं व्यञ्जयति। ततोऽत्रैवाभ्यां सम्यक् तदन्वेषणं विधेयमिति भाव:। अत्र व्यतिरेकोक्ति: पूर्ववदेव। एवं समञ्जसरतिकृतोऽयं निशाकरदिवाकरयोर्विनिमय: समीचीनतया स्पष्ट एव॥

**यत्रासन्त एव सन्त:॥ यत्रेति। स्पष्टार्थमेतत्॥**

**यथा वा—अन्यत्र पीतगीता भवभीता विषयवासनावीता:।**
**सन्तस्तद्विपरीता हन्त सखि! प्रेमपत्तने गीता:॥ १०२॥**

अन्यत्रेति। दूरदेशाद्भाग्योदयेन सद्य:श्रीवृन्दावने समागतया सेवितगीतासहस्रनामादिनिष्ठसामान्यभक्तसमूहया प्रेमपद्धतिमजानन्त्या साधकशान्तभक्तभक्तिमत्या कयापि साध्व्या भाग्योदयात्तत्र मिलित: कोऽपि युगलमाधुर्यामृतजीवातुक: परिणतानन्यरसिकभक्त: सादरं पृष्ट:—कथमत्रत्यवैष्णवानां गीतादिषु तथा परमादराभाव इति। तत: स तां सदयमाभाष्य विहस्य शनैरुपदिशति—अन्यत्रेति। अन्यत्र देशान्तरे पीत-

---

**टीकानुवाद**—पूर्व पद्य की अवतरणिका में श्रीराघवेन्द्र की जिस अवस्था का वर्णन किया गया है, उन्होंने आधी रात में देखा कि पूर्ण कलाओं से चन्द्र उदित हो रहा है—फिर दूसरी ओर कमल वन को मुकुलित देखा। ऐसा देखकर उनके मन में कुछ आशा का आभास हुआ तथा हृदय में आश्वासन। वे श्रीजानकीनाथ अनुज लक्ष्मण से बोले—हे वत्स! —उनके द्वारा प्रयुक्त यह वात्सल्यमय सम्बोधन, सूर्य को चन्द्रमा माननेवाले, उनकी मुग्धता को व्यक्त करता है। देखो! प्रखर किरण सूर्योदय के समय मेरे साक्षात् सन्ताप का हेतु बन रहा है तथा सूर्योदय के समय कमलों का निमीलन भी दीख रहा है इससे यह निश्चित होता है कि इस वन में अवश्य ही मेरे जीवन की औषधि चन्द्रमुखी सीता होगी। यहाँ सीताजी के लिये जो 'शीत....' पद आया है इसमें परिकरांकुर नामक शब्दालङ्कार है। इससे यह ध्वनित हुआ कि उनका मुख ही मेरे सन्ताप को दूर करने में समर्थ है। इसलिये अपने लोगों को भी उनका भली भाँति अन्वेषण करना चाहिये यह भाव है। यहाँ व्यतिरेकोक्ति पहले के समान ही है। इस प्रकार समञ्जसा रतिकृत निशाकर-दिवाकर का विनिमय अच्छी तरह स्फुट ही है॥ इति॥

**मूलानुवाद**—जिस प्रेम नगर में असन्त ही सन्त माने जाते हैं। ग्रन्थकार की उक्ति है—

**पद्यानुवाद**—अन्य साधन क्षेत्रों में जो जन्म-मरण से भयभीत हैं अतएव विषय वासना से रहित हुए गीता आदि ज्ञान शास्त्रों के स्वाध्याय में संलग्न रहते हैं, वे सन्त माने जाते हैं परन्तु हे सखि! आश्चर्य की बात है कि इस प्रेमपत्तन (नगर) में तो उनसे विपरीत ही वे माने जाते हैं॥ १०२॥

**टीकानुवाद**—किसी भाग्योदय से सामान्य भक्त समूह बहुत दूर से श्रीवृन्दावन में आया। वह गीता विष्णु सहस्रनाम आदि भक्ति निष्ठा वाला, प्रेम पद्धति से अनभिज्ञ था, और साधना की शान्ति रस भक्ति से युक्त था—उसे किसी भाग्योदय से कोई रसिक भक्त मिले, जो राधाकृष्ण (युगल) के माधुर्य्यामृत को ही अपना जीवन सर्वस्व समझते थे और अनन्य रसिकता पथ में परिपक्व थे। पूर्वोक्त भक्त समूह ने उनसे आदर से पूछा कि—यहाँ के वैष्णवों का गीत आदि ज्ञान ग्रन्थों में वैसा परम आदर क्यों नहीं है? ऐसा उसने पूछा—पूछने पर वे अनन्य रसिक करुणा से भाषण करते हुए धीरे से उपदेश देने लगे—दूसरे

गीताः पीताः सादरं श्रुतभगवदुक्तोपनिषदः, भवभीताः संसृतेर्भीतिभाजः, विषयवासनावीतास्तद्रहिताः, सर्वं एव सन्तो वसन्ति, तत्सत्यमेव, परन्तु ते तथैवाधिकारिणः। अत्रत्यास्तु तद् विपरीता अनाघ्रातगीतार्थाः, यतो गीतायां क्रमेण कर्म्मभक्तिज्ञानमयमध्यायषट्कत्रयं तत्र तत्रात्रत्यानामनधिकारात्। तथोक्तं श्रीभागवते—

"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा यावच्छ्रद्धा न जायते॥" इति।

तथा—"तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै तदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥" इति।

पुनः—"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमाः॥"

इत्युक्तलक्षणायां भक्तावधिकारिणोऽत्रत्या गीतोक्तायां साधनभक्तावनधिकारिण एव, सिद्धदशायां साधनप्रयोजनाभावात्। पुनरत्रत्या भवादपि न बिभ्यति। यथोक्तं श्रीरुद्रेण पार्वतीं प्रति षष्ठे—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥" इति।

यथा वा दशमे—"एवं नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा। कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविदन् भववेदनाम्॥"

---

प्रदेशों में जो लोग भगवद्गीतोपनिषद् का सादर अध्ययन करते हैं, वे संसार भय से भीत हैं, विषय वासना से रहित हैं, ऐसे सन्त वहाँ रहते हैं यह सत्य ही है, अतएव वे सब वैसे ही अधिकारी हैं। किन्तु यहाँ के सन्त उसके विपरीत हैं, वे गीता के अर्थ को सूँघते भी नहीं—क्योंकि गीता में क्रम से भक्ति ज्ञानमय अध्यायों के छ-छ अध्याय के तीन तृक् हैं। अर्थात् अठारह अध्याय हैं, यहाँ के जनों का उन-उन प्रसङ्गों में अधिकार ही नहीं है। जैसा कि भा० ११-२०-९ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—कर्म के सम्बन्ध में जितने भी विधि निषेध हैं, उनके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिये, जब तक कर्ममय जगत और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाय अथवा जब तक मेरी लीला कथा के श्रवण कीर्तन आदि में श्रद्धा न हो जाय॥ इति॥ तथा भा० ११-२०-३१ में भी कहा है—

**श्लोकार्थ**—इसी से जो योगी मेरी भक्ति से युक्त और मेरे चिन्तन में मग्न रहता है, उसके लिये ज्ञान और वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्ति के द्वारा ही हो जाता है॥ इति॥ फिर भ० र० सिं० पू० १ ल० ११ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—(किसी प्रकार की) अन्य कामनाओं से रहित (निर्विशेष ब्रह्म के स्वरूपानुसन्धान आदि रूप) ज्ञान और (श्रुत्यादि प्रतिपादित यज्ञादि रूप) कर्मों आदि (अर्थात् आदि शब्द से ग्राह्य सांख्य-योग आदि के विधाओं के सम्बन्ध) से अनाच्छादित, सर्वथा अनुकूल भावना से कृष्ण का (मन, वच, कर्म से) सेवन उत्तम भक्ति कहलाता है॥ इति॥

यहाँ के लोग उपरोक्त प्रेम लक्षणा भक्ति के अधिकारी हैं तथा गीता में कथित साधन भक्ति के अधिकारी नहीं हैं, कारण—सिद्ध दशा में साधन का प्रयोजन नहीं रह जाता, फिर यहाँ के निवासी जन्म-मरणादि से भी नहीं डरते हैं। जैसा कि भा० ६-१७-२८ में उमा-पार्वती सम्वाद हैं।

**श्लोकार्थ**—जो लोग भगवान् के शरणागत होते हैं, वे किसी से भी नहीं डरते। क्योंकि उन्हें स्वर्ग मोक्ष और नरकों में भी एक ही वस्तु के—केवल भगवान् के ही समान भाव से दर्शन होते हैं॥ इति। जैसे भ० १०-१२-५८ में कहा है—

**श्लोकार्थ**—नन्दबाबा आदि गोपगण इसी प्रकार बड़े आनन्द से अपने श्याम-राम की कथाएँ किया करते। वे उनमें इतने तन्मय रहते कि उन्हें संसार के दुःख सङ्कटों का कुछ पता ही न चलता॥ इति।

इति शुकोक्तेः तद्रागानुगामिनोऽपि तथैवेति भावः। तथाऽत्रत्यास्तु स्निग्धदेहाः सुवसनाः सुगन्ध-चन्दनाद्यालिप्ता एव, न तु विषयबुद्धया तत्त्यागिनः। तदुक्तमेकादशे भक्तप्रवरेणोद्धवेन—

"त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि" ॥ इति।

तस्मादत्रत्यानामेवं सिद्धान्तोत्तमपरिनिष्ठतानां परिपाटीमवधार्य्य विचिकित्सां विमुञ्च, कृपया हे सखि! इति सम्बुद्धिः अतिरहस्यस्यास्य सिद्धान्तस्योपदेशे हेतुः "सतां साप्तपदी मैत्रीत्युक्तेः"। एवं भवितुं तवापि मनोरथश्चेद् श्रीवृन्दावने निवस, रसिकभक्तान्निष्कपटं भज श्रीकालिन्दीसेवनं कुरु, तादृशत्व-प्राप्तावयमेवोपचारः, "स्वभावविजयो भवेद्वदति वल्लभः श्रीहरेः"। इति श्रीयमुनाष्टके श्रीमद्वल्लभाचार्य्य-चरणैरुक्तत्वात्। प्रेमपत्तने श्रीव्रजमण्डले। एव रतिविशेषकृतोऽयं सदसतोर्विपर्य्ययः स्फुट एव ॥ १०२ ॥

**यत्राऽसतीत्वमेव सतीत्वम् ॥ यत्राऽसतीत्वमिति। स्पष्टार्थमेतत् ॥**

**यथा वा—सन्ति रोगान्तरं हन्तुं संहितापथगामिनः।**
**कृष्णानुरागरोगेऽस्मिन्नसतीसङ्गमौषधम् ॥ १०३ ॥**

नन्दगोकुलवसतिना केनापि गोपकिशोरेण कृतपरिग्रहां (करग्रहान्—इति पाठान्तरम्।) पितृभ्यां दत्तद्विरागमनां पत्या स्वभवनमुपनीतां विनीतां रूपादिगुणवतीं युवतीमस्माभिः सह सख्यं कुरु, इति श्रीकृष्णानुरागवतीभिर्बहुशोऽभ्यर्थितामपि तास्वसतीबुद्धया रचिततद्वचनानादरां पतिव्रताम्मन्यां ताभि-

---

इस प्रकार शुकोक्ति के अनुसार श्रीकृष्ण अनुरागियों का अनुगमन करनेवाले वैसे ही होते हैं तथा यहाँ के जन शरीर में तैल आदि लगाते हैं, स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं, सुगन्धित द्रव्य चन्दन आदि का भी लेप करते हैं—न कि विषय बुद्धि से उनके त्यागी हैं। जैसा कि भा० ११-४-४६ में भक्त प्रवर श्रीउद्धवजी का वचन है—

**श्लोकार्थ**—हम आपके प्रसादी माला, चन्दन, वस्त्र और गहनों से अपने आपको सजाते रहे। हम आपकी जूठन खानेवाले सेवक हैं। इसलिये हम आपकी माया पर अवश्य विजय प्राप्त कर लेंगे। (अतः प्रभो! आपकी माया का हमें कोई डर नहीं है—डर है तो केवल आपके वियोग का) ॥ इति ॥

इसलिये उत्तम सिद्धान्त में परिनिष्ठत् यहाँ वालों की परिपाटी को देखकर सन्देह (तर्क) मत करो। कृपा पूर्वक 'हे सखि!' यह सम्बोधन यहाँ दिया गया है जो इस सिद्धान्त के परम रहस्यमय उपदेश देने के हेतु से है—क्योंकि सत्पुरुषों की मैत्री, उनके साथ सात पद (कदम) चलने से ही हो जाती है यह भाव है। यदि तुम्हारा भी ऐसे बनने का मनोरथ हो, तो श्रीवृन्दावन में बसो, रसिक भक्तों का निष्कपट भजन (सेवन) तथा यमुनाजी का सेवन करो। वैसी प्रेम भक्ति प्राप्ति का केवल यही उपाय है। क्योंकि श्रीमद्वल्लभ प्रभु पाद के यमुनाष्टक में कहा है 'स्वभाव....' श्रीयमुनाजी के सेवन से स्वभाव पर विजय प्राप्त होती है यह श्रीहरे वल्लभ कहते हैं। मूल श्लोक में प्रेमपत्तन का अर्थ व्रजमण्डल है ॥ इति ॥

**मूलानुवाद**—जहाँ असती ही सती कहाती हैं। इस प्रकार अर्थ स्पष्ट ही है—जैसा कि ग्रन्थकार की सूक्ति है—

**श्लोकार्थ**—दूसरे रोगों को मिटाने के लिये आयुर्वेद की चर्क आदि संहिताओं में उपाय बताये गये हैं किन्तु कृष्णानुराग रूप रोग के प्रसङ्ग में असती सङ्ग ही ओषधि है ॥ १०३ ॥ इति ॥

**टीकानुवाद**—नन्द गोकुलवासी किसी गोपकिशोर के साथ वहाँ की किसी गोपी का विवाह हो गया। पिता-माता ने उसका गौना करा दिया और पति उसे अपने घर ले आया—वह युवती विनीत तथा रूप आदि गुणों से युक्त थी। कृष्णानुरागवती व्रज-सुन्दरियों ने उससे बहुत प्रार्थना की कि तू हमारे साथ मैत्री कर। किन्तु उसने उन्हें असती समझ कर उनके वचन का अनादर किया। उन्होंने भी जूझमूठ पति-

रुपेक्षितां पुनः कियद्दिनानन्तरं श्रीकृष्णचिल्लीचापचञ्चच्चारुचपलाऽपाङ्गसायकनिर्भिन्नहृदयां पूर्वानुरागवतीं विरहतापवतीं व्याधिविशेषबुद्धया गुरुजनैः कृतानन्तोपचारां तदप्यलब्धोपशमां सखेदां निशम्य तासां संसदः सख्येन तदवलोकनव्याजेन तस्याः समीपमागता काचिद् गोपयुवतिर्विरहविह्वलां तां तापोपशान्त्युपायं शनैरुपदिशति—सन्तीति । संहितापथगामिनश्चरकसुश्रुतादिग्रन्थपद्धतिनिबद्धश्रद्धाश्चिकित्सका रोगान्तरं हन्तुं सन्ति बहुशः। परन्तु हे सखि ! अस्मिन् कृष्णानुरागाभिधे महारोगे तु असतीनां त्वया असतीत्वेन अनादृतवचसामस्माकं सङ्ग एवौषधम् "सर्वं वाक्यं सावधारणम्" इति न्यायात् । अन्ययोगव्यवच्छेदकोऽयमेवकारः। नान्यदित्यर्थः। अतोऽसतीनामस्माकं संगं गुरु, तदैव श्रीकृष्णप्राप्त्या तापोपशमोऽतः पूर्वमनादृतमपि मद्वचनमेवाधुनाप्याशुकुरु इति भावः। एवं मधुररतिकृतोऽयमसतीसत्योर्विपर्य्ययः समीचीनतया प्रस्फुट एव। नाधिकमत्र वितन्यते ॥ १०३ ॥

**यथा वा—केकिपक्षधरः कोऽयमालि ! यस्यातिचञ्चलम् ।**
**लोचनं मोचयति मां सतीव्रतपिशाचतः ॥ १०४ ॥**

केकीति । अत्र सतीव्रतस्य पिशाचरूपकेणासतीत्वमेव सतीत्वमिति ध्वनिः ॥ १०४ ॥

**यत्र सतीत्वमेवाऽसतीत्वम् । यत्र सतीत्वमिति स्पष्टमेतत् ॥**

**यथा—"कृष्णानुरागार्तिलसन्मतीनां गोपीततीनामभिलक्ष्य भावम् ।**
**मतं सतां सत्कृतसत्पतीनामहो सतीनामसतीत्वमेव" ॥ इति ।**

---

व्रता बननेवाली, उसकी अपेक्षा कर दी। फिर कुछ दिन बाद उस नव-विवाहिता का हृदय श्रीकृष्ण के भृकुटी धनुष से छूटे हुए तीक्ष्ण चंचल कटाक्ष बाण से बिंध गया—वह उसी दिन से पूर्वानुरागवती हो गई। तब उसे विरह ताप व्याप्त हुआ। गुरुजनों ने समझा इसे कोई व्याधि विशेष उत्पन्न हो गई है जिसका उन्होंने बहुत उपचार किया, परन्तु वह शान्त न हुई। जब व्रजाङ्गनाओं ने सुना कि वह रोगग्रस्त है तब उस सभा की एक सखी सौहार्द भाव से उसे देखने के मिस से उसके समीप गई, और उसे विरह विह्वल देखकर उसके ताप शमन का उपाय धीरे से उपदेश देती है—चर्क सुश्रुत आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों की उपचार पद्धति में विश्वास रखनेवाले बहुत से वैद्य दूसरे रोगों को दूर करने में (निश्चय ही) समर्थ हों—परन्तु हे सखि ! श्रीकृष्णानुराग नामक इस महारोग में तो हम असती—जिनके वचनों का तुमने अनादर कर दिया है—का संग ही ओषधि है। इस प्रसङ्ग में यहाँ 'एवकार' साधारण तथा अन्य योग व्यवच्छेदक है—अर्थात् एकमात्र हमारे सङ्ग से ही तुम्हारी व्यधि मिटेगी अन्यथा कदापि नहीं, इसलिये हम जैसी असतियों का सङ्ग करो। तब कहीं श्रीकृष्ण की प्राप्ति होकर (उस ताप की) शान्ति होगी। पहले अनादृत किये गये भी मेरे वचन को ही अब शीघ्र स्वीकार कर यह भाव है—इस प्रकार मधुर रतिकृत यह असती—सती का वैपरीत्य भली भाँति सिद्ध ही है इस पर अधिक विस्तार असङ्गत है ॥ इति ॥ १०३ ॥

ग्रन्थकार की और सूक्ति है—

**श्लोकार्थ १०४**—हे सखि ! यह मयूर पिच्छधारी कौन है, जिसका अति चंचल नेत्र (कटाक्ष) मुझे सतीव्रत रूप पिशाच से छुड़ा रहा है ॥ १०४ ॥ इति ॥

**टीकानुवाद**—इस प्रसङ्ग में सतीपन का पिशाच रूपक—असतीत्व ही सतीत्व है, यह ध्वनित करता है ॥

**मूलानुवाद**—जहाँ सती ही असती कहाती हैं—अर्थ स्पष्ट हीं है ॥ जैसा कि प्रमाण है—

**श्लोकार्थ**—श्रीकृष्णानुराग सम्बन्धी वियोग आदि पीड़ा से जिनकी बुद्धि सुशोभित है उन गोपाङ्गना समूह के भाव को लक्षित करके सत्पुरुषों ने अपना मत घोषित किया है, कि अहो ! अपने

दक्षादिशापाश्वाधिरूढो लोकान् परिभ्रमन् कृष्णे प्रच्छन्नपरमानुरागवतीषु गोपयुवतीषु परम-भक्तिमान् श्रीनारदः तासु सामान्यमतिमन्तं कमप्यविशुद्धबुद्धि बहिर्मुखं साधिक्षेपमुपदिशति—कृष्ण इति। कृष्णे श्यामसुन्दरे योऽनुरागः प्रेमपरिणामस्तेन या आर्तिर्व्याकुलत्वं तया लसन्ती सतीमतिभ्योऽपि शोभमाना मतिर्यासान्तासां गोपीततीनां गोपवधू श्रेणीनां भावं मनोविकारविशेषमभिसारादिमनोरथमयमभिलक्ष्य। अहो—इत्याश्चर्य्ये। सतीनामरुन्धतीप्रभृतीनामसतीत्वमेव सतां भक्तोत्तमानां मतम्, न तु त्वद्विधानामसता-मित्याक्षेपो व्यञ्जितः। कथंभूतानां सतीनाम् सत्कृतसत्पतीनां सत्कृताः परमादृताः सन्तः सदाचारादिनिष्ठाः पतयो वशिष्ठादयो याभिस्तासाम्। यतः सत्यस्तु पाञ्चभौतिकशरीरवति सामान्यजीवे "पतिरेव हि नारीणां दैवतं परमं स्मृतम्" इत्यादि शास्त्रबलान्नरकपातभयेन यथाकथञ्चिद्भगवन्मतिं विधाय प्रीत्या पातिव्रत्यं साधयन्ति। एतास्तु साक्षान् परब्रह्मणि श्रीकृष्णे स्वारसिकानुरागिण्यस्तदर्थं त्यक्तैहिकामुष्मिकार्था अत एव सत्य इति समुचितं सतां मतम्, त्वद्विधानां मतमनुचितमित ध्वनिः,—

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्यु दाहृतम्"। इति तृतीये श्रीकपिलदेवोक्तेः, तथा—
"त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्मूढा या ते पदाब्दमकरन्दमजिघ्रती स्त्री"॥

---

सत्पतियों में सेवा सुश्रुषा आदि सत्कार में लगी रहनेवाली सतियों का सतीत्व इन (व्रजसुन्दरियों) की तुलना में तो असतीत्व ही है॥ इति॥

**टीकानुवाद**—दक्षादि के शाप रूप घोड़े पर चढ़े लोकों में घूमते, श्रीकृष्ण में गुप्त अनुरागवती गोपियों के प्रति परम भक्तिमान् श्रीनारदजी प्रसिद्ध हैं। वे किसी बहिर्मुख व्यक्ति को, जो उन गोपियों में साधारण दृष्टिवाला था, भ्रष्ट बुद्धि देखकर डाँटते हुए उपदेश देते हैं—श्यामसुन्दर के प्रति प्रेम परिणाम के फल-स्वरूप, गोपियों में जो अनुराग है वही आकुलता उनमें सदा बनी रहती है और वे इसी से सतत सुशोभित रहती हैं। सज्जनों की बुद्धि की अपेक्षा उनकी बुद्धि अत्यन्त उज्ज्वल है। किसी सत्पुरुष ने गोपियों के मनोविकार विशेष अभिसार आदि मनोरथमय भाव को लक्षित करते कहा—अहो-आश्चर्य! इन गोपियों की तुलना में अरुन्धती प्रभृति सतियों का सतीत्व-असतीत्व ही है। इससे यह आक्षेप व्यक्त हुआ कि उत्तम भक्तों का उनके विषय में ऐसा मत है न कि तुम जैसे असज्जनों का। वे अरुन्धती आदि सती अपने विशिष्टादि सत्पतियों के आदर सत्कार में सदा लगी रहती हैं उनके पति भी सदाचार आदि में निष्ठ हैं—क्योंकि सती जन पाँच भौतिक शरीरवाले सामान्य जीव में 'पति ही स्त्रियों का सर्वश्रेष्ठ देवता बताया गया है' आदि शास्त्र बल द्वारा नरक पात भय से जिस किसी तरह भगवद्बुद्धि बनाकर प्रीति से पतिव्रत सिद्ध करती है—परन्तु ये गोप सुन्दरी साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण में स्वाभाविक अनुरागवती हैं, इसीलिये इन्होंने इस लोक तथा परलोक के समस्त विषयों का परित्याग कर दिया है अतएव यही सती हैं। ऐसा सत्पुरुषों का मत ही समुचित है तुम जैसों का मत सर्वथा अनुचित है यह ध्वनि है। भा० ३-२९-११ में कहा है। श्रीकपिलदेवजी का वचन है—

**श्लोकार्थ**—जिस प्रकार गङ्गा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणों के श्रवण मात्र से मन की गति तैल धारावत् अविच्छिन्न रूप से मुझ सर्वान्तिर्यामी के प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम और अनन्य प्रेम होना—यह निर्गुण भक्ति योग का लक्षण कहा गया है॥ इति॥ जैसे भा० १०-६०-४५ में श्रीरुक्मिणीजी का वचन है—

**श्लोकार्थ**—यह मनुष्य शरीर जीवित होने पर मुर्दा ही है। ऊपर से चमड़ी, दाढ़ी-मूछ, रोएँ, नख और केशों से ढका हुआ है, परन्तु इसके भीतर मांस-हड्डी, खून-कीड़े, मल-मूत्र, कफ-पिता-वायु भरे

इति श्रीरुक्मिणीदेव्युक्तेश्च। एवं मधुररतिकृतोऽयं तयोर्विपर्य्ययः स्फुट एव। पुनरत्र ग्रन्थान्ते व्यतिरेकोक्तिः सर्वत्रैव तदुभयवस्त्वबोधनायैव ॥

एवं यत्राऽकीर्त्तिरेव कीर्त्तिः, यत्र निग्रह एवानुग्रहः, यत्राकवय एव कवयः, यत्र शिष्या एव गुरवः, इत्यादीनि तथा तदुदाहरणानि च। यथा—

"नन्दकुमारेण समं ममास्तु मिथ्याभिशापोऽपि। इति पश्यति मुहुरबला भाद्रचतुर्थीकलानाथम् ॥"

तथा—"मृदुचरणारुणताडनदण्डः कृपयैव चण्डि ! मयि रसिके।
प्रतिकूलता तवेयं व्यञ्जितपरमानुकूलता जयति ॥" २ ॥

तथा—'विलोक्य कान्तं कवयन्तु कोविदाः ससंमदा हन्त मनस्तु मामकम्।
यदैव तद्वर्णयितुं समीहते गन्धवंमश्नाति तदैव दृग्द्वयी ॥" ३ ॥

तथा—"यत्तासामुपदेशाय भवता मह्यमर्पितम्। जगद्गुरो ! गुरुत्वं तन्मया ताभ्यः समर्पितम् ॥"४

एवं तस्मिन्नगरे रतिकृता विपर्य्ययाः सहस्रशः सन्ति कियन्तो लेखनीयाः। इदं दिग्दर्शनमात्रमित्यलं पल्लवितेन। तद्दिग्दर्शनमात्रलिखनन्तु रतिपर्य्यायस्य प्रेम्णो निसर्गकुटिलत्वकथनायैव। तदुक्तं

---

पड़े हैं। इसे वही मूढ़ स्त्री अपना प्रियतम पति समझकर सेवन करती है, जिसे कभी आपके चरण-कमल मकरन्द की सुगन्ध सूँघन को नहीं मिली है ॥ इति ॥ इस प्रकार मधुर रतिकृत यह उन दोनों का विपर्यय स्पष्ट ही है। अब ग्रन्थ की समाप्ति व्यतिरेकोक्ति न्याय से सर्वत्र उन-उन दोनों के विपर्यय अपने विवेक से भी समझ लेने चाहिये ॥ इति ॥

ऐसे ही जहाँ १-अकीर्त्ति ही कीर्त्ति, २-निग्रह ही अनुग्रह, ३-अकवि ही कवि, ४-शिष्य ही गुरु इत्यादि समझे जाते हैं जिनके (संक्षिप्त) उदाहरण निम्न दिये गये हैं—

**श्लोकार्थ**—उदाहरण अकीर्ति ही कीर्त्ति :—श्रीकृष्ण के प्रति परम अनुरागवती (चन्द्रावलि) की यह भावना प्रतीत होती है। नन्दकुमार के साथ तो मुझे भले ही मिथ्या कलङ्क (अपकीर्त्ति) भी मिले मानो वह अबला इसी दृष्टि से भाद्रपद मास के चतुर्थी के चन्द्र को बार-बार देखती है ॥ १ ॥ इति ॥

निग्रह ही अनुग्रह का उदाहरण श्लोकानुवाद—किसी अपराधी धृष्टनायक की उक्ति प्रतीत होती है—हे चण्डि ! मुझ रसिक के प्रति जो, तुमने अपने कोमल अरुण चरण से ताड़न रूप दण्ड दिया है यह कृपा पूर्वक ही दिया है अर्थात् तुम्हारा लात मारना कृपा ही है—ऐसी तुम्हारी-प्रतिकूलता अनुकूलता को ही व्यक्त करती है—इस प्रतिकूलता की जय हो (जय हो) ॥ २ ॥

कवि ही अकवि का उदाहरण—किसी प्रेमी की उक्ति है। श्लोकानुवाद—प्रियतम का दर्शन करके बड़े हर्ष के साथ विद्वान लोग भले ही कवित्त रचना करें, परन्तु बड़े खेद की बात है कि मेरा मन जब उनका वर्णन करने की इच्छा करता है तभी यह दोनों नेत्र देखते ही देखते टकटकी लगाये रह जाते हैं वर्णन की कौन कहे ॥ ३ ॥ इति। (टि—इस पद्य के मूल छपने में कुछ भूल है)

शिष्य ही गुरु का उदाहरण—उद्धव की श्रीकृष्ण के प्रति यह उक्ति प्रतीत होती है श्लोकानुवाद—हे जगद्गुरो ! उन गोप सुन्दरियों को उपदेश देने के लिये आपने जो मुझे गुरुत्व प्रदान किया था, उसे मैंने उन्हीं को समर्पित कर दिया अर्थात् वे गुरु हो गई मैं उनका शिष्य हो गया ॥ ४ ॥

इस प्रकार प्रेमपत्तन (नगर) में रति के द्वारा (ऐसे) हजारों विपर्यय (उलट फेर) कर दिये गये—कितने लिखें (कहाँ तक लिखें) यह केवल दिग्दर्शन कराया है अधिक विस्तार अपेक्षित नहीं है। यह दिग्दर्शन मात्र लिखना भी, रति के पर्य्यायवाची प्रेम की सहज कुटिलता का वर्णन करने की दृष्टि से ही है। जैसे श्रीरूप गो० पाद की उक्ति है—'प्रेम की गति सर्प के समान कुटिल होती है', इसी अभिप्राय से प्रेमीजनों के लक्षण का वर्णन करना भी कठिन है इस पर भी उन्हीं का कहना है—

श्रीरूपगोस्वामिचरणैः—"अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेद् ।" इति ।

एवमेवाभिप्रेत्य प्रायः प्रेमवतो लक्षणमपि दुरूहमिति तैरेवोक्तम्—

"धन्यस्यायं नवः प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि । अन्तर्वाणिभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा ।।" इति ।

तत एव यत्र स्तुतिरेव निन्दा इत्यादिकतिचित्प्रकरणानामुदाहरणरूपं पद्यं विदग्धमाधवे प्रकटं तैरेवालेखि ।

यथा—"स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां
निन्दापि प्रमुदं प्रयच्छति परीहासश्रियं बिभ्रती ।
दोषेणा[1]गुरुतां गुणेन गुरुतां केनाप्यनातन्वती
प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदियं नैसर्गिकी[2] प्रक्रिया ।।" इति ।।

(१—दोषेण क्षयिताम्— २—विक्रीडति प्रकिया—इति प्रचलितपुस्तकेऽस्ति पाठः ।)

अद्भुतेन मयोन्नीतमद्भुतं प्रेमपत्तनम् । प्रियः प्रविश्य प्रणातु रतिः क्रीणातु मामिति ।।

द्रष्टुं तथा व्यष्टुमिदं मुधैव दुष्टा निकृष्टा न निरोधनीयाः ।
कष्टं न शिष्टानपि यत् सयष्टिर्वेष्टि प्रवेष्टुं दुरदृष्ट एव ।।

सुवर्णसुमनोऽर्चितं सुखदचित्रपर्णाञ्चितं मनोज्ञगुरुतागुणं मुखरवीरवित्रासनम् ।
शरासनमुमापतेरिव ममेदमत्यद्भुतं सुविक्रमकृशेतरैरपि न पस्पृशे पुस्तकम् ।।

---

**श्लोकार्थ**—"जिस किसी बड़भागी के चित्त—अन्तःकरण में यह नव-नवायमान प्रेम विकसित हो जाता है उसकी (अपूर्व) प्रेम मुद्रा का वाणी के द्वारा वर्णन अति कठिन है ।"

इसीलिये जहाँ स्तुति ही निन्दा है इत्यादि कुछ एक प्रकरणों के उदाहरण श्रीरूप गो० पाद के विदग्ध माधव में उनके द्वारा प्रकट रूप से लिखे गये हैं जैसे—

**श्लोकार्थ**—जहाँ अपनी स्तुति तटस्थता को दिखलाती हुई चित्त पर चोट पहुँचाती है, और निन्दा भी परिहास की छटा को धारण करती हुई मन को मुदित करती है—जो दोष या गुण के कारण किंचित् मात्र भी क्षीणता या पीनता को प्राप्त नहीं होती । ऐसे स्वारसिक प्रेम की यह परिपाटी विशेष रूप से अपना विलास वैभव प्रस्फुटित कर रही है ।। इति ।

**कवि कृत श्लोकार्थ ग्रन्थ का उपसंहार**—मुझ अद्भुत के द्वारा यह अद्भुत प्रेमपत्तन नाम का काव्य प्रकट हुआ है इसमें प्रिय (श्रीकृष्ण) प्रविष्ट होकर प्रसन्न हों (रीझ जाएँ) तथा रति मुझे खरीद ले ।। इति ।।

**कवि कृत श्लोकार्थ**—दुष्ट या निकृष्टजनों के द्वारा रस (पद्धति) का देखना या व्यास करना व्यर्थ ही है, इसलिये उनका इस निमित्त निरोध करना आवश्यक नहीं है—परन्तु कष्ट का विषय तो यह है कि दण्डधारी यह दुर्दृष्ट (दुर्भाग्य)—शिष्टों (सज्जनों) को भी इसमें प्रवेश के लिये आज्ञा ही नहीं देता है ।। इति ।। (टि—भाव यह है कि अनधिकारी पुरुष इसको देखकर इसमें कोई सुख या लाभ नहीं उठा सकते परन्तु जो अधिकारी है, सज्जन है, दुर्दृष्ट उनको इसके देखने की अनुमति ही नहीं देता ।) इस पद्य में श्लेषोपमालङ्कार प्रतीत होता है—शिवजी के शरासन (धनुष) की प्रस्तुत पुस्तक के साथ समानता वर्णित हुई है—

**श्लोकार्थ**—शिवजी के धनुष के समान अति पुरुषार्थ करने पर भी पुस्तक का स्पर्श भी दुर्लभ है। शिवजी का धनुष सुवर्ण तथा पुष्पों से पूजित है—सुखद तथा चित्र विचित्र पत्रों से परिवेष्टित है—सुन्दर तथा गुरुता के गुणों से युक्त है—वावदूक अथवा विमुखजनों के लिये त्रास उत्पन्न करनेवाला है । प्रस्तुत पुस्तक भी सुन्दर अक्षरों तथा मनोयोग से लिखी गई है—उत्तम चित्र पत्रों से युक्त है—प्रेम परिपाटी

विशत भो रसवित्तमसत्तमाः प्रणयपत्तनमेतदनुत्तमम् ।
वचसि ते पिकताधिकता मते रसिकता यदृते सिकतायते ।।
संसृजन्तु समदृष्टयः स्रजं कुन्दकिंशुककदम्बचम्पकैः ।
कोविदास्तु युगसङ्गमोचितं दाम कर्तुमिह वामलोचनाः ।।
काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे मुम्फन्ति मन्दाः किमुतात्र चित्रम् ।
विरोधवित् पाणिनिरेक सूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह ।।

इति श्रीरसिकोत्तंसविरचितं प्रेमपत्तनं प्रेमसर्वस्वपूर्णं सम्पूर्णतामगात् ।
प्रेमदात्र्यै नमः श्रीवृषभानुकिशोर्य्यै भूयो भूयो नमो नमः ।

**शुभं भूयात् ।**

**समाप्तोऽयं ग्रन्थः**

---

के विरोध में बोलनेवालों को त्रास पहुँचाती है । इस प्रकार मेरा यह अति अद्भुत ग्रन्थ शिवजी के धनुष के समान है ।। इति ।।

**कवि कृत श्लोकार्थ**—हे रसज्ञ श्रेष्ठजनो ! इस अति श्रेष्ठ प्रेमपत्तन में आप लोग प्रवेश करें, जिसके बिना वाणी में कोकिल से भी अधिक सरसता (मधुरता) अथवा रसिकता बालु के बराबर ही है ।। इति ।।

**कविकृत श्लोकर्थ**—समदृष्टि रखनेवाले कुछ कुन्द-केसु-कदम्ब-चम्पक आदि पुष्पों से भले ही माला निर्माण करें परन्तु चतुर जन तो वाम लोचन अर्थात् समदृष्टि से विपरीत होते हैं तथा वे ही प्रिया-प्रियतम संगमोचित माला का निर्माण करने में समर्थ होते हैं—यहाँ 'वामलोचना' और 'सङ्गमोचितम्' पदों में जो विशेषता है उसे रसिक महानुभाव ही समझेंगे ।। इति ।।

**कविकृत श्लोकार्थ**—अविवेकी लोग काच, मणि और सुवर्ण को एक ही सूत्र में भले ही पिरो दें-परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि इन विरोधों के जानकार (विवेकी) पाणिनी मुनि ने (भी) एक ही सूत्र में श्वान-जवान-मघवान् (इन्द्र) पदों को पिरो दिया ।। इति ।।

**इति श्री श्रीरसिकोत्तंस कृत प्रेम सर्वस्व रूप प्रेमपत्तन नाम काव्य सम्पूर्ण हुआ ।।**

**प्रेम दान करनेवाली श्री श्रीवृषभानुकिशोरी के चरणों में बार बार नमन है ।।**

मूल संस्कृत ग्रन्थ के भाषानुवाद कर्त्ता वीतराग–श्रीकेशवमणिजी शास्त्री रमणरेती वृन्दावन ।
अनुवाद लेखक की वन्दना—

वन्दौ रसिकोत्तंस पद पावन ।
जिनकी कृपा अनुवाद लिखायो प्रेरक उर सरसावन ।।
युगल रीति रस भाव अनूठे अनुपम हिय हर्षावन ।
मनन करत हिय रुज निवरै बाढै रस भजन विभावन ।।
निष्ठा दृढै युगल पद पङ्कज अनुदिन लाड लडावन ।
गुरु रसिकन आचारज पथ दृढता प्रति निमिष दृढावन ।।
निज हित विनयी जाचत तुम सों मति रति युगल रिझावन ।
आजीवन श्री वन बसिवो हिय दैन्य युगल यश गावन ।।

**रसिक पद रज आश्रित धर्म्मचन्द श्रीकृष्णाश्रम**
दावानल कुण्ड, वृन्दावन । २३-६-७१

॥ श्रीराधे ॥

# प्रेम पत्तन काव्य सार संग्रह

## ( गद्य पद्य सरल भाषा भावार्थ )

रसिक वर वन्दौं रसिकोत्तंस ।

रच्यो प्रेम पत्तन प्रेमिन हित उघटि प्रेम रस गंस ॥१॥

तुव अनुसुमिरन कृति तिहारी पाठ करौं दै ध्यान ।

कछुक भावकन दान दीजिये फुरैं करैं कल्यान ॥२॥

मो सम गर्हित को नहिं आश्रय बिनु इक श्रीवन आन ।

परयौ तहाँ सब रसिकन पद रज बल निजहित पहिचान ॥३॥

दो०स्वाध्याय सत्संगमें प्रथम लिखे यह भाव,गद्य पद्य रचना सरल,निज हित वितचित चाव
रसिकनके आस्वाद अरु, नित्य मनन के हेतु । किये प्रकाशित मूल सँग, प्रेम पतन संकेत ॥
भूल चूक क्षमिहँ-रसिक,भक्त जानि मुहि मन्द,स्वान्तः सुख हित यशलिख्यौ,दृष्टि न छन्द प्रबन्ध
पुनि-पुनि लिपि ते पड़त हैं, हिय पै चस रस अंक,अनुगत दृढ़ हिय होत हैं,पूर्वाचार्य निशंक ॥
ग्रन्थ प्रकाशन मिस मिलत, सेवा सुख आशीश, नँहि दृष्टि व्योपार पर, लागत विसवै बीस
विनय सनय मस्तक करौं,याचौं पदरज पूत,निज हितधाम परयौ यहै, आश हिये अनुस्यूत ॥

श्लोक ॥१॥— जो चिर काल से अर्पित नहीं की गई ऐसी अपनी उन्नत तथा उज्वल (मधुर) रस वाली भक्ति रूपी श्री को अर्पण करने के लिए अपनी करुणा से ही कलि काल में अवतीर्ण हुए ऐसे शचि नंदन श्रीहरिजो स्वर्ण से भी अधिक सुन्दर अपनी कान्ति समूह से प्रकाशित थे, हमारी हृदय गुफा में सदा स्फुरण होते रहें ।

दो०हिये फिरौ नित शचि सुवन,हेम अधिक दुति देह,करुणावश कलि अवतरै,कारण बिनु उर नेह
लोपी जो चिर काल ते,मधुर भक्ति रसखान, शुक नारद अज अनुसरत, करी भेद बिनु दान

श्लोक ॥२॥— मुक्ति रूपी सीप संपुट में जो मुक्ता फल (मोती) होता है उसमें जो तेज रूप श्रीकृष्ण भगवान हैं वह मेरे हृदय में प्रगट हों । जो कि हृदय के ताप को दूर करने वाले हैं, जैसे मोती ताप को दूर करता है और सुहृद गोपी समूह (जा शुकदेव बामदेव से भी अधिक सुन्दर हृदय युक्त हैं) के हृदय के भूषण हैं एवं अनुरागी भक्तवर हंसों से सत्कार को प्राप्त हैं- जैसे हंस मोती को जीवन समझते हैं ( मोती चुगते हैं ) वैसे ही भक्त भगवान् रूपी मोती का रस पीकर जीते हैं ।

दो०मुक्ति सीप संपुट भयो,मध्य जु दुति मय मोति,स्वयं कृष्ण भगवान हैं,ता मोतीकीज्योति
हरता सब संताप के, गोपी सुहृद समूह, तिन के हिय भूषण सदा, शुक बामादि दुरूह ॥
हंस प्रवर प्रेमी भगत, तिन के जीवन प्रान । मुक्ता सम सरवर हिये निज हित प्रगटैं आन ॥

श्लोक ॥३॥—लेश मात्र भी विषय गन्ध को दूर करने वाले—निवृत्ति मार्ग में रत-विषय विशेष श्रीकृष्ण में आसक्ति का उपदेश देने वाले-भव रूप विपत्ति का नाश करने वाले-हृदय में हर्ष विषाद आदि प्रेम के गुप्त भावों को गुप्त रूप से बो देने वाले, श्री तीर्थपाद गुरुदेव को प्रणाम करता हूं ।

दो० लेश मात्र हूं गन्ध जो, विषय रहन नहिं देत, उपरति मग रत कृष्णमें रती करैं संकेत
भव आपद करि नाश उर, वोवें हर्ष विषाद। गुप्त भाव दानो गुरु वन्दौं, तीरथ पाद॥

श्लोक ॥४॥—श्रीकृष्ण चैतन्य एवं श्रीकृष्ण हरि दोनों का मैं आश्रय लेता हूं, जो श्रीकृष्ण के आलिगन के लिये तृषातुर रहे हैं और कीर्ति सुता श्रीराधा जी के साथ अपने को अनन्य मानते हैं एवं धन्य२ मानते हैं

दो० कृष्ण हरी चैतन्य कृष्ण,उभय शरण दो दान,श्री चैतन्य सदा तृषित,हरि आलिंगन बान
श्रीराधा कीरति सुता, जिनकी जीवन प्रान, मानैं धन्य अनन्य जिय, निज हित संग पछान॥

श्लोक ॥५॥— प्रेम की माधुरी पी करके अन्दर ही अन्दर मतवाले हुए संत लोगो ! आपके ही चाटे हुए उच्छिट बिन्दु को प्राप्त करके मतवाला हुआ, दास भाव युक्त बहुत अधिक वाक विलास (बकवाद) करने वाले मेरे साहस का आप (संत) उपहास न करगे (अर्थात् आदर से पढ़ेंगे)

दो० प्रेम माधुरी पान करि,उर महिं जे उन्मत्त,तिन की झूँठ कन पाइकै,हौं हूं भयो प्रमत्त
बहु प्रलाप लाग्यौ करन,दास भावउर राखि,हे संतो ! साहस जितौ,क्षमौ मत्त यदि भाषि॥

श्लोक ॥६॥— विना सिर वालों (अर्थात् सिर बलिदान करने वालों का निवास स्थान जिसका दूसरा नाम प्रेम पत्तन है वह नगर गगन में अर्थात सर्वोपरि विराजमान है उसका पालन करने वाला मधुर मेचक नाम का राजा है जो मति और रति दो युवती रानियों का पति है (अर्थात् मधुर मेचक श्यामसुन्दर है मति ऐश्वर्य्य तथा रति महा भाव रूपा श्रीराधा जी हैं।

दो० शीश हीन परजा बसै, ऐसो नगर महान, नाम प्रेम पत्तन उहै, गगनोपरि विदमान॥
नाम मधुर मेचक नृपति,अथवा सुन्दर श्याम,मति रति द्वै रानी वरणि,युवती निज हित वाम
मति मानौ ऐश्वर्य्यता, शक्ती नृपति सुजान। रति श्रीराधा रूप हैं महाभाव सुख दानि॥

नोट— श्रृङ्गार रस की मधुर उपासना में रति स्थायी भाव है और मति उस रति की सम्पत्ति है।

श्लोक ॥७॥— पति को वश में कर लेने वालौ तथा पति के अनुकूल हो जाने से पति को प्रेयसी (मनचाही)बनकर अति गर्विता रति नाम वाली महिषी ने निरतर मति का तिरस्कार करना प्रारम्भ कर दिया

दो०पति रतिरानी बस कियो,भई सब बिधि अनुकूल,होइ चहेती प्रेयसी,बढ़यौ गर्वको मूल॥
होय गर्विता एक रस,छायो उर व्यतिरेक,मति सौकनहि अनादरहि,बढ़ी सहज यह टेक॥

श्लोक ॥८॥— उस मति ने पिता के घर को ही शान्ति का व चिन्ता शमन का स्थान (उपाय) सोच विचार कर स्त्रिजित (स्त्रैण) पति के द्वारा क्रिया से भी अपमानित होकर पति के नगर को छोड़ दिया।

दो०मतिने केवल गेह पितु,आश्रय कियौ बिचार,सब विधि चिन्ता शमन हित,और न सूझ्यौ द्वार
स्त्रेण पति हूं क्रिया ते,कियौ निरादर ताहि,विवश भई पतिपुर तज्यौ,नगर पिता चलि आई

श्लोक ॥९॥— रति के पति का अलौकिक अभ्युदय देखकर मानो बुद्धि मानों को शिक्षा देती हुई पति सुतादि को वहीं छोडकर तत्काल मति अपने पिता के घर चली गई इसी में मति का मतित्व (अर्थात सयानपना) सिद्ध होता है।

दो०रतिपतिको अभ्युदय निरखि,लोकातीत महान,छाँड़ि जु पतिपुत्रादि मति,शिक्षा देन सुजान
तिहिक्षण पितुगृहको चली,निजहित उर मँह आन,इतनौ मति मतित्व है शिक्षण लोक प्रमान

श्लोक ॥१०॥— अपने धनहीन शास्त्र नाम वाले पिता के शासन से वहां निरन्तर पिता की शिक्षानुसार चतुर ब्रह्मचारियों अर्थात् शास्त्रानुवर्ति पंडितों के साथ चिरकाल तक भिक्षा करने जाती रहती।

दो०शास्त्र नाम निर्धन पिता,मति अनुशासन पाय,पितु शिक्षाअनुसार लै तिनके शिष्य सहाय

**ब्रह्मचारिनसँग जाइ नित,भिक्षाटन चिरकाल,करती यह चर्या सदा, निजहित मति सुसँभाल**

श्लोक ॥११॥ सुमति की अति विनीत शान्ति नामक कन्या को जो माता से बिछुड़ी थी शान्त स्वान्त नामक मुनी विवाह करके अपने आश्रम में ले गये।

**दो०कन्या इक मतिको रही,विनय शील शुभ कान्ति, अनअवसर बिछुड़ी जननि,ताको नाम सुशान्ति**
**शान्त स्वान्त इक मुनि महा,ब्याही सो तिन आइ,निज हित पत्नि पाइ सुचि,आश्रम लई बसाइ**

श्लोक ॥१२॥— पति (मधुर मेचक राजा ने) मति के चले जाने पर रति के अधिकार में गृह नगर आदि समस्त शासन उसको सौंप दिया और रति ने मति के पूर्व के बनाए सब विधानों के विपरीत अति व्यापक विधान बनाकर राज चलाया।

**दो०मतिके जाते ही तुरत,भए रति बस भूपाल,पुर गृह सब अधिकार निज,रतिको दिये संभाल**
**रति मतिके प्रतिकूल सब,करि अपनी मन मानि,राज विधान सबै उलटि,दीने निज हित जानि**

गद्यार्थ:—जहां पर भरत नाम का मन्त्री नियत किया गया जो कि राजा के हित की चेष्टा में लगा रहता है। (भरत मुनि ही शृङ्गार रस के आदि कर्ता शास्त्रों में कहे गये हैं यह प्रेम पत्तन नगर शृङ्गार रस का स्वरूप है इसलिये मन्त्री का नाम भरत कहा)।

धर्म कर्म के समूह के मर्म के जानने में चतुर स्मर सूत्र धार नाम का पुरोहित नियत कर दिया गया। (यह स्मर वात्सायन मुनि कहे गये हैं इन्हीं का नाम नीति शास्त्र रचने वाले चाणक्य और कोक शास्त्र रचने से वात्सायन और अर्थ शास्त्र रचने से कौटिल्य कहा है)।

जहाँ पर राजा और उसके नागरिक सामिग्रियों की सजावट के करने वाला कारीगरों में चतुर अद्भुत नाम का कारीगर, राजा ने अपने अनुकूल नगर निर्माण के लिये सत्कार करके आदेश देकर वहीं रख लिया, जो सब कुछ आज्ञानुसार करता रहता। (अद्भुत रस ही यहां शिल्पी (कारीगर है)।

देवताओं के पर्वत सुमेरु के समान जहां नगर के चारों तरफ सुन्दर और ऊंचा परकोटा है, जो निगम (वेद) इतिहास (महाभारत रामायण आदि) पुराण १७ (भागवत के सिवा) संहिता आदि सुवर्ण अर्थात् शास्त्रीय शब्दों मे या सोने से खचित हैं और उत्तम शास्त्रों के बहुत प्रकार के वर्णों (रंगों) तथा कर्कश तर्क रूप रत्न खण्डों के समूह से बड़े यत्न से रचा हुआ और विविध निगम आदिकों के सिद्धान्त रूपी अग्नि यन्त्रों से संयुक्त है और दुर्जनों से अजेय तथा विद्वानों से सत्कृत है।

नोट:—वर्ण सत्व रज तमोमय-वाद जल्प वितंडा को कहा है दुर्जन जो विविध मीमांसा करने वाले भक्ति के विरोधी है विद्वान लोग केवल आदर करते हैं बाहर रहते हैं॥ यह नगर वेद आदि के रहस्य भाग के अन्दर है बाहिर नहीं निगम आदि से सुरक्षित है।

जहा रागानुगम नामक प्रधान एक ही प्रवेश द्वार है लाल वर्ण के देवताओं के कल्प वृक्ष के अंकुर के समान जो मालूम पड़ता है। माणिक के रचे जिसके शिखर समूह ही सैंकड़ों मुकुट हैं—उनके कारण सुन्दर है। लाल २ सुन्दर रुचियों से पुष्ट कुरविंद नाम की मणियों से वह द्वार जड़ा हुआ है।

रागानुगा प्रेम भक्ति की साधना ही एक मात्र प्रवेश द्वार है।

**चौ० नियत कियो मन्त्री भूपाल। भरत नाम अनुकूल खियाल॥ करत सदा नृप को हित ऐसे। रति प्रति नृपति प्रेम हो जैसे॥ सूत्रधार स्मर नाम पुरोहित। धर्म कर्म मर्मी सुघरो चित॥ कारीगर इक परम सुजान। अद्भुत नाम कियो हित मान॥ सजत भली विधि सब सामान। जिहि विधि नृपति प्रजा दै मान॥ देत बहुत तिहि आदर राजा। अद्भुत रस करि पुर उनि साजा॥ देव सुमेरु गिरि सम तहाँ। सुन्दर चहु दिशि कोठ जु महा॥ वेद पुरान सतारह सारे। अरु इतिहास संहिता न्यारे॥ इन सों वह परकोट**

**खचायो । सुबरण शास्त्र अनुकूल सुहायो ॥ उत्तम शास्त्र विविध वर्णों के । कर्कश तर्क सु उपकरणों के ॥ रत्न खण्ड बहु जाति समूहा । खचित कोट सो परम कुतूहा ॥ विविध नियम सिद्धान्त जु रोपे । अग्नि यंत्र पुर में मनु ओपे ॥ दर्जन सो पुर जीत न सकही । पंडित मान देत विनु शकहीं ॥ पै पंडित बाहिर रहि जाहि । शास्त्र शृंखला परि गर माँहि ॥ रागानुगम नाम महाद्वार । पुर प्रवेश कौ एक अधार ॥ सुर तरु कलपद्रुम सम मान । लाय रंग कौ अंकुर जान ॥ शिखिर समूह रचे माणिक के । जनु पुर मुकुट सजे पानिप के ॥ इह कारण कमनीय स्वरूपा कुरविंद मणियथु पुष्ट अनूपा ॥ जटिल लाल रुचिराकृति द्वार । रागानुगा भक्ति आधार ॥**

गद्यार्थः—परकोटे के चहुँ ओर एक खाई है, उसका वर्णन करते हैं । जहां परकोटे के चारों ओर अत्याधिक गहरी चौड़ी तथा लम्बी के कारण दुस्तर और प्रगट जिसमें अन्तः स्थित श्वेत और कठोर पाषाण उपलक्षित होते हैं, ऐसी निर्मल सत्व नाम वाली खाई (परिखा) रची हुई है (भाव यह है कि निर्गुण स्वभाव वाले उस नगर में नहीं जा सकते हैं वह इस खाई को पार नहीं कर सकते हैं तथा बहिर्मुखों का संग, ऐसे ही शास्त्रों का श्रवण, बहुत शास्त्राभ्यास करने से अपनी निष्ठा के विरोधी पुरुषों के संग से यद्यपि अच्छे गुरु भी मिल गए हों उसको भी इस खाई के समान प्रेम उपासना में विघ्न ही पड़ता है) ।

(उस नगर में बगीचा है उसका वर्णन करते हैं) । परिखा मण्डल के चारों ओर बगीचा है जिसके वृक्ष समूह लौकिक कविता रूपलताओं के जाल से लिपटे हुए हैं उन वृक्षों में कुछ १ अंकुरित, २ कोरकित अर्थात् बूर लगे हैं, ३ कुछ अर्ध विकसित ४ कुछ पूर्ण विकसित ५ कुछ फलों वाले हैं और काव्य नाटक आदि ही यह वृक्ष समूह हैं । (वृक्ष के पांच रूप ही काव्य के पांच अङ्ग हैं १ युक्ति २ छन्द ३ रीति ४ अलंकार ५ प्रसार-वृक्षों के लता लिपटी हैं, सो यह भाव है, जैसे नाइक-नाइका लिपटे रहते हैं उनमें ५ विकार होते हैं १-रोमांच २-उत्कण्ठा ३-सर्वाङ्ग प्रसाद ४-मन प्रमोद ५जन्म साफल्य) । विविध गंध युक्त शीतल मन्द वायु के मिलने से हिलते हुए नूतन २ कोमल पल्लव सुशोभित हैं ऐसा वहां सुन्दर बगीचा है । (भाव यह है कि काव्य नाटक आदि में बहुत लोग उलझकर इस विघ्न के कारण प्रेम नगर में प्रवेश नहीं कर पाते हैं )अब अन्दर नगर के मध्य भाग का वर्णन करते हैं) जहाँ की भूमि लाल मणियों से जटित प्रगट परम अनुराग वती के समान शोभित हो रही है मानो पावक (महावर) कुसुम्भ के रस सार से सरस निर्मल हिंगुल और सिंदूर के लेश से सुन्दर जो कुम-कुम का रस उसी से शरीर में अङ्ग-राग लेप किया हुआ है (अब मकानों का वर्णन करते हैं) जिस नगर के भीतर और बाहिर के सभी मकान पद्यराग मणि के टुकड़ों से युक्त हैं, स्वर्ण के द्वारा निर्मित किये जाने से अति ललित दीखते हैं । (किवाड़ कैसे हैं बताते हैं) विशाल मूंग क बृक्षों के टुकड़ों से रचे हुए और सोने की कीलों से श्रृङ्खलाबद्ध तथा साँकलों से जड़े हुये कपाट के समूह सभी मकानों में सुशोभित हैं (पताका का वर्णन करते हैं) मकान के शिखर पर जो सोने के कलश हैं उनके ऊपर सोने के रग से रगी हुई जहाँ तहाँ पताका पहरा रही है ।

**॥चौ०॥ परकोटे कौं घेरे एक । परिखा रची कुशल करि टेक ॥ गहन गँभीर महा विस्तार । दुस्तर सहज न होवे पार ॥ निर्मल सत्व नाम सो खाई । पुर प्रवेश प्रतिबंध महाई ॥ पाहन श्वेत वज्र सम दरसै । निर्मल जल जँह मैल न परसै ॥ प्रेम पतन प्रवेश तब होवै । भूलि जु निर्गुन भाव न जोवै ॥ निर्गुन भाव अहै यह खाई । रसिकोतंस जु दियो बताई । सुनहूँ ता पुर कौ उद्यान । जो प्रवेश में विघ्न महान ॥ परिखा मंडल के चहुँ ओर ।**

एक बगीचा ओर न छोर ॥ लौकिक कविता लता दुरूह । नाट्य काव्य सब तरु समूह ॥ लिपटीं तरुवनि जाल समान । कौन निवारै उरझि महान ॥ तरु अंकुरित बूर कछु लीने । विकसित अर्ध पूर्ण कछु चीन्हे ॥ कछुक फले शोभित उन माँहि । यह आराम गाह तँह आहि ॥ उलझे जे लखि अद्भुत शोभा । पुर नहिं जाईं तहँ मन लोभा ॥ वर्णत अब पुर भीतर भाग । भूमि युवति जनु भरी अनुराग ॥ लाल मणिन सों जटित सुशोभी । मनु युवती यावक पग खोभी ॥ कुसुम सार हिंगुल सिन्दूर । कुम कुम कमनी रंग भरपूर । मनु अवनी पूरित अनुराग । लेप किये सूचत सौभाग ॥ सदन नगर के भीतर बाहर । जरित पद्म मणि राग जवाहिर ॥ कनक द्वार निर्मित कमनी । देखत ललित चित्तमन हरनी ॥ तरुवर मूंगे खंड विशाल । रचे कपाट सदन सुसंभाल ॥ कनक कील पाँति जड़ि सजिकैं । ओप देखि मन जात न रजिकैं ॥ सदन शिखिर अति उन्नत सोहैं । तिन पै कलश कनक के मोहैं ॥ कलशनि पर फहरात पताका । हेम वर्ण परसन नभ ताका ॥

श्लोक ॥१३॥— उस नगर का उपवन मोद अर्थात् प्रसन्नता का मूल है । रति पति (मधुर मेचक) के मनोनुकूल तथा पृथ्वी की लालिमा के गुण के कारण नीचे से (ऊपर तक अरुण वर्ण को धारण किये और) वैकुण्ठ के निश्रेयस वन का निवास स्थान है (भाव यह है कि अवतार काल में वैकुण्ठ की सामिग्री भूमि पर निवास करती है) और अत्याधिक मकरंद से सघन भींजा हुआ संध्या कालीन घन के सदृश्य वह उपवन फुलवारी का वहां पर है ।

दो०तहाँ विविध कुसुमनि खिलीउपवनमें फुलवारि,मोद मूल रति-पति नृपति,अभिलाषा अनुसारि भूमि लालिमा सों भई अरुण वर्ण सब ओर । निश्रेयस वन सम प्रभा देत न आनन्द थोर पुष्पनके मकरन्द सों रसद सो उपवन आहि,जनु संध्या कालीन घन निज हित घेरयो ताहि

गद्यार्थ— ( नगर निवासी कैसे हैं सो कहते हैं ) जहाँ अनुराग के रंग से रगे तन वाले, कुमुंभ केसर के रस से रंजित वस्त्र वाले, सभी नगर निवासी रहते हैं । ( पीछे कहे गए अद्भुत नाम कारीगर द्वारा यह रचना की जाती है) । जहां के सब पक्षी समूह भी अरुण वर्ण के हैं—उदाहरण के लिए अरुण हंसों का स्वरूप बताते हैं जो अगले श्लोक में कहा है ।

॥चौ०॥ सुनहु रसिक तहँ के पुर वासी । रँग अनुराग रँगे रस रासी ॥ केसर कुसुँभ रंग सों रंजित । वस्त्र सदा पहिरत रस सिंचित ॥ रचना अद्भुत कारीगर की । सुनहु गाथ तहँ पक्षी गण की ॥ पक्षी दिखियत सब अरुणारे । अरुण हंस अभूत उपमा रे ॥ ता उपमा को करत बखान । सुनहु दिये चित रसिक सुजान ॥

श्लोक १४— श्री राधा के चरणारविंद के आधार रूप महीतल की महिमा बड़ी भारी वहाँ दिखाई देती है—जहाँ क्षीर नीर का विवेक करने वाले अर्थात् कुशल हंस भी अरुणता को प्राप्त हो जाते हैं ( अर्थात् ज्ञानी भी प्रेमी बन जाते हैं सो सब वहाँ पक्षी हैं।)

दो० श्रीराधा पद पद्म हैं जिहि अवनी आधार । प्रगट प्रभाव उदित तहाँ जाको पार न वार ॥ क्षीर नीर बिलगाई जे कुशल हंस परमान । करैं प्राप्त तहँ अरुणता दुग्ध वर्ण भई हान ॥ ताते पक्षी के अरु वर्ण सब हँस । ज्ञानी हूँ प्रेमी भए तजि सब अद्वै गंस ॥

गद्यार्थ— राजा के दो उपमन्त्री नियत किये हुए हैं जो रति ने वहाँ अधिकार दे कर स्थापित किये हैं, उन के नाम हास्य और विशद हैं—यह दोनों बड़े वीर भी हैं। वहाँ पर अद्वैत में निष्ठा रखने वाले सह और सहस्य नाम वाले अर्थात् मार्ग शीर्ष और पौष यह दो शंकराचार्य के शिष्य भी रहते हैं ( भाव यह है कि अत्यन्त शीत के इन दो मासों में द्वैत को सहज मिला कर अद्वैत में परिणित कर देते हैं ) इस हेतु अद्वैतवादी श्री शंकराचार्य के शिष्य कहा गया है।

**।।चौ०।। उप-मंत्री रति ने जो बिठाये। दै अधिकार कार्य समझाए।। हास्य विषद जु नाम अनुरूपा। दोनों वीर बाँकुरे रूपा।। सह सहस्य अद्वै मत सुनों। शिष्य शंकर.च.रज दोनों।। मार्ग शीर्ष अरु पौश महीने। उनसे यह उपलक्षित कीने।। युगल मिलाप भेद बिनु करहीं। शीत काल यों रस उर भरहीं।।**

गद्यार्थ— जहाँ माध्व सम्प्रदाय ( द्वैत वादी ) के शिष्य ऊष्मक-भाम आदि दर्शन नाम वाले जिनका प्रचुर प्रचार अभिमत नहीं है विद्यमान हैं—भाव यह है कि उष्मक ( ग्रीष्म ) भाम ( मान ), आदि दर्शन पूर्वराग उपलक्षित हैं क्यों कि यह कुछ नित्य संयोग प्रेम में प्रति बंधक हैं।

**।।चौ०।। मध्वाचारज के सिष तीन। उष्मक भाम दर्शन आदीन।। यद्यपि नहिं तिनु प्रचुर प्रचार। बसत तहाँ आज्ञा अनुसार।। ग्रीष्म मान अरु पूर्व अनुराग। उपलक्षित तीनों यहि लाग।। द्वैत मतो कछु प्रेम विरुद्ध। बसत भाव यद्यपि तिन शुद्ध।।**

गद्यार्थ— जहाँ विशिष्टाद्वैत में निष्ठा वाले तीन जिनके नाम कुसुम समय, सदासार और सोम-प्रभ हैं— श्रीरामानुज आचार्य्य के शिष्य भी रहते हैं ( भाव यह है कि वसन्त-वर्षा तथा शरद रितु यह तीन उपलक्षित हैं जब संयोग वियोग दोनों अनुस्यूत रहते हैं )

**।।चौ१।। तीन विशिष्टाद्वैत प्रचारी। रामानुज निष्ठा अनुसारी।। सदा सार अरु कुसुम समय। सोमप्रभ उन नाम त्रय।। इन सो उपलक्षित ऋतु तीन। शरद बन्सत वर्षा कालीन।। देत जु समय २ आह्लाद। मिलन वियोग ग्रथित मर्याद।।**

गद्यार्थ— जहाँ प्रेम भक्ति का प्रवर्तक नारद जी का चेला तपस्य नाम वाला रहता है। तपस्य नाम फाल्गुन का है जिसमें प्रेम कलह प्रधान रहता है।

**कलहप्रिय नारद कर चेला। नाम तपस्य तासु धरि मेला।। फागुन मास जानिये सोई। प्रेम कलह जब बहु प्रिय होई।।**

गद्यार्थ— जहां रति पति मधुर मेचक के अत्यन्त प्रिय राज कुमारों में श्रेष्ठ तथा क्रम करके बड़ी आयु वाले ज्येष्ठ क्रम से नाम, प्रेम-प्रणाम, स्नेह, मान, राग-अनुराग-महाभाव-मोदन-मादन मोहन दास हैं। इनके अतिरिक्त निर्वेद आदि ३३ और हैं और ८ सात्विक विकार भी हैं यह ध्वनि श्रेष्ठ शब्द के कारण है यह अन्य भाव श्रेष्ठ नहीं हैं।

**रतिपति के बहु राजकुमार। श्रेष्ठ परम प्रिय दस हित सार।। प्रेम प्रणय अरु नेह जु मान। राग अनुराग भाव महा जान।। मोदन मादन मोहन नाम। यह दस नृपति हितू अभिराम।। अरु निर्वेद आदि तैंतीस। सात्विक अष्ट अंग मति ठीस।।**

गद्यार्थ— जहाँ भक्ति भाव-रुद्र विधेय-करुणाकर-कदर्य्य नाम चार राजा के शत्रु भलि भांति जीते हुए नगर के पास ही नहीं फटकते—(भाव वह है कि यह मधुर भाव के विरोधी चार रस माने गए हैं जैसे भयानक-रौद्र-करुण-वीभत्स )

**चौ०भीरु भाव अरु रुद्र विधेय। करुणाकर कदर्प्प रिपु हेय ॥ यह राजा के चार विरोधी। जीत लिये राजा जु महो धी ॥ फटक सकैं नहिं नगर समीप। चिंता तजि इन बसत महीप ॥ रुद्र, करुण, वीभत्स, भयानक। मधुर विरोधी इन कहँ जानक ॥**

गद्यार्थ— जहां राज शासन का स्थिर करने वाला कीरोक्ति विलास अर्थात् श्रीमद्भागवत पुराण की पालना करने वाला कोतवाल है।

जहाँ अभ्यस्त शास्त्र नामक सेना पति दुर्जनों अर्थात् प्रतिवादियों कर्कश तर्क मीमांसकोंत कंआदि को जीतने के लिये सावधान नगर के चारों ओर घूमता रहता है, जो राजा को अत्यन्त प्रिय नहीं हैं–क्योंकि उश्रृङ्खल है–प्रेम की बात को कम समझता है राज सेवा से अनभिज्ञ है परन्तु शूर समझ कर आदर दे नगर के बाहर सेना पतित्व करता है।

**चौ०कीरोक्ति विलास जिहि नाम। सो भागवत कह्यो अभिराम ॥ सकल नगर शासन थिर कर्ता। कोतवाल पुर पालक भर्ता ॥ सेनापति शास्त्र अभ्यासी। दुर्जन शासक हिये हुलासी ॥ यद्यपि नहिं बहु प्रिय महिपाल। शूरजानि आदर दियो पाल ॥ राख्यो ताहि देखि उद्दण्ड। तर्क वादियनि नसै घमंड ॥ चारों ओर नगर के घूमे। नृपति सेव अनभिज्ञहि झूमै ॥ दुर्जन जानिये वाद विवादी। मीमांसक कर्मठ शठ आदी ॥**

गद्यार्थ— जहाँ दृग दर्शन अर्थात् नेत्रों को देखने मात्र से, तथा दूसरा वचनाभिज्ञ, बोल चाल से मनुष्य के गुप्त हृदय भावों की परीक्षा कर लेने वाले दो परीक्षक रहते हैं यह वहाँ की चातुरी का स्वरूप कहा गया है

जहाँ दुरदृष्ट-दुराग्रह-दुर्वैराग्य आदि नाम वाले गोपुर के बाहिर स्थित हैं और द्वारपाल हैं अर्थात् यह अपने प्रभाव द्वारा पुर प्रवेश में बाधक हैं और वह लोग दो पूवकथित परीक्षकों द्वारा परीक्षा ले लिये जाने के बाद ही केवल रति पति के मित्रों को ही भीतर प्रवेश की आज्ञा देते हैं।

**दृग-दर्शन अरु वचनाभिज्ञ। उभय परीक्षिक परम सुविज्ञ ॥ जानहि गुप्त हृदय गत भाव। चलै न उन पै काहू दुराव ॥ दुर्वैराग्य दुराग्रह दृष्ट। अरु अनेक नहिं नगर प्रविष्ट ॥रहत सबै पुर के बहिरंग। रहैं दूरि पुर करि तिन संग ॥ जो कोई लै इन की दीक्षा। उभय परीक्षक करैं परीक्षा ॥ पुर महिं ते प्रवेश नहिं पावैं। राज मित्र हो पुर में जावे ॥**

गद्यार्थ— जहाँ अधर्म ही धर्म रूप से स्थापित किया गया है रति की ऐसी आज्ञा वहाँ पर घोषित की हुई है। ( शास्त्र प्रमाण में ग्रन्थ की टीका में बहुत उदाहरण हैं कुछ यहां देते हैं, ) भगवान् ने गीता में अर्जुन को १८ वें में कहा सब धर्म छोड़ कर मेरी शरण में आ जा। श्रीमद्भागवद् प्रथम में कहा कि स्वधर्म को भी छोड़ कर जो हरि के चरण कमल में आ जावे ११ वें स्कन्ध में अध्याय ५ में कहा कि वह देव ऋषि आदि ५ ऋणों से भी उऋण है जो हरि शरण है इत्यादि।

**चौं०रति ने घोषित कियो विधान। जो दोखत अन उचित महान ॥ अब कछु उन को सुनौ सुजान। प्रेम पत्तन की महिम महान ॥ कियो अधर्म धर्म पुर घोषित। सहज प्रजा हो वासों पोषित। टीका में बहु कहै प्रमान। कछुक देऊँ जो होइ अवधान। हरि गीता अष्टदशभाख्यो। तजि सब धर्म शरण गहि राख्यो ॥ श्रीभागवत प्रथममें जान। अध्याय पचंम परमान। तजि स्वधर्म पदपद्महि हरि के। भजे गए सब काज सुधरि के। तैसेहि एकादश के माहीं। कह्यो पंच ऋण लगै न ताहि ॥ ऐसे हैं बहुतक परमान। जानत सब हरि भक्त सुजान ॥**

गद्यार्थ- जहाँ असत्य ही सत्य घोषित किया गया (प्रमाण) भागवत में १०-८ में गर्ग ने कह दिया, पहले यह तुम्हारा पुत्र है नंद जी ! कभी वसुदेव के घर में पैदा हुआ, यद्यपि उसे वसुदेव जी ने स्वयं नाम करण संस्कार करने को भेजा है। यह नारायण के समान गुणों वाला है। श्री शुकदेव जी कहते हैं अक्रूर आदि यादव कंस के भय से कपट से मनहि मन श्रीकृष्ण की उपासना करते थे। भगवान् ने जन्मते ही पिता को नृशंस कंस से बचाने के लिये झूठ का सहारा दिया। भगवान् ने माता से कहा मैंने मट्टी नहीं खाई है। देवकी ने कंस के सामने लड़की को बचाने के समय झूठ कहा। वसुदेव जी ने कंस से पुत्रों को देने प्रतिज्ञा करके असत्य किया इत्यादि भागवत में प्रमाण है।

**॥चौ०॥ सत्य कियो असत्य परमान। प्रजा प्रेम पत्तन हित जान ॥ यदपि लोक में यह अघ मूल। प्रेम चलन सब ठाँ प्रतिकूल ॥ सुनो प्रमान अमित यहि हेत। श्रीशुक किये बहुत संकेत ॥ श्री भागवत गर्ग कहि राख्यौ। नंदहि सुत तुम्हरो करि भाख्यौ ॥ यादव बहुते अक्रूर आदी। कंस संग रहे मिथ्या वादी ॥ तथापि श्री हरि के प्रिय पात्र। भेंटत श्री हरि तिन के गात्र ॥ जन्महि हरि जनक सिखायो। निज हित गोकुल पंथ बतायो ॥ यशुमति के डर हरि बहु बार। झूंठ कहत करि रस विस्तार ॥ देवकि अनृत भाइ सों भाखी। श्री भागवत गगट है साखी ॥ कहत बहुत ह्वै है विस्तार। अद्भुत प्रेम पतन की धार ॥**

गद्यार्थ- जहाँ अनाचार ही आचार घोषित किया गया (प्रमाण) रास के समय गोपी झूठे मुँह चल दीं (भा. १०-२९) यह लोक में अनाचार का लक्षण है। वात्सल्य रस में ग्वालों के साथ झूठन मुँह से छीन छीन कर खाना। शबरी के जूठे बेर खाना। गोपी गरम दुग्ध पहिले पीकर देखती कि अधिक गरम न हो कि मुख जले जूठा पिलाती। रुक्मिणी से द्वारका में और पति कर लेने को प्रेरणा स्वयं श्रीकृष्ण ने करी अनाचार का उपदेश कर रहे हैं। श्रीराधा जी से स्वयं पान जूठा लेकर खा लेते हैं ऐसे ऐसे प्रेम में अनेक उदाहरण हैं।

**चौ०अनाचार आचार शील तहँ। प्रेम पतन वैचित्र कहौं कहँ ॥ ऐसी कछुक प्रेम मरयाद ! भूल जात सुधि मन बुध आदि ॥ गाथा रास व्यास सुन गाई। झूठे मुख गोपी तहँ धाई ॥ ग्वाल बाल संग नित बन माहीं। छाक छीनि छलि झूठन खाही ॥ शबरी कथा राम अवतार। झूठे फल कीने स्वीकार ॥ गोपी उष्ण दुग्ध को पीकर। प्यावै हरि मात्रा ठंडी कर ॥ रुकमिणी प्राण प्रिया सो बोले। हमें न इच्छा चित यदि डोले ॥ अन्य नृपति पति करौ निसंक। हम यादव सब हैं सकलंक ॥ इहि विधि अनाचार ढिग प्रेरें। रति पति ऐसे नेम करे रे ॥ महाभाव रूपा श्री राधा। रहे श्याम के मन यह साधा ॥ झूठी बीड़ी प्यारी केरी। मिलै कृत्य कृत हो देह मेरी ॥**

गद्यार्थ- जहाँ अनादर ही आदर है (प्रमाण) मैया कहती है कि ओ रे बेलगाम मुँह घोड़े तूने मट्टी मुँह में क्यों खाई (भा. १०-८) पलंग पर बैठे रहने से स्वागत होता है गोपियाँ ऐसा करतीं। रे- ओ ! शब्द संबोधन आदर का सूचक है। ऊखल से बाँध देना। रास में टेढ़ी भृकुटि से देख कर होंठ चबा कर तेवरी चढ़ा कर देखना आदर से देखना है। उद्धव से कहना कि जिसके तुम मित्र हो पता है उसके लक्षणों का। रामावतार में छिपे हुये व्याध की तरह बाली को मार डाला यह आदर के बचन प्यारे के

लिये पौठ पीछे बहे। जिस की याद मनुष्य को पशु पक्षी बना कर छोड़ती है यह उद्धव से कहा। जय देव कवि जी ने कहा, जाओ जाओ यहाँ क्यों आये हो चापलूसी की बातें मत करो इत्यादि। सनकादिक का ह रपारषद जय विजय से अनादर हुआ फिर भी उसे आदरमान कर हरिके दास बने अद्वैत स्थित छोड़ दी।

**चौ०॥ होइ अनादर आदर मार्नाहि। प्रेम पतन को यों पहिचार्नाहि॥ हैं बहुतक भागौत प्रमान।यसुमति फटकारत हित जान। ओ! रे! अश्व सम बिना लगाम। मिट्टी क्यों खाई रे श्याम!। बैठी रहतीं भवन प्रयंक। गोपी को यह स्वागत अंक॥ रे! ओ! धूर्त! संबोधन देव। मानत यह परमादर देव॥ ऊखल कटि में डारयो बंधन। मान्यो सो आदर नंद नन्दन॥ भृकुटी टेढो होंठ चबा कर। चढ़ी तेवरी नेत्र घुमा कर॥ रास लास में यह विधि गोपी। आदर कियो लोक विधि लोपी॥ उद्धव सों यों दिये उरहने। राम समय के क्या क्या कहने॥ पीठ पाछि यों कीनों आदर। प्रेमिनु को विरही करि कादर॥ जाहि सुमिरि भूपाल महान। खग सम विहरें दो तुम ध्यान॥ कवि जय देव कहत फटकार। जाओ क्यों आए हम द्वार॥ करत चापलूसी की बातें। यों प्यारी बोलत करि घातें॥ पै हरि मानत सब अतिमान। हियो सिरात प्रीति की कान।**

गद्यार्थ– जहाँ असंतोष ही संतोष है। (प्रमाण) भागवत १० स्कंध में शुकदेव जी कहते हैं कि आप की कथा सुधा संतोषी संतों को असंतोषी बना देती हैं। वह ऐसे प्यासे रहते हैं जैसे कामी पुरुष स्त्रियों की वार्ता सुनने के लिये। पुनः दशम में कहा है कि निवृत्त ऐषणा महामुनि कथा सुधा के लिये असंतोषी रह कर संतोष मनाते हैं। यद्यपि श्री लक्ष्मी पार्श्व में रहती हैं पाँव चाँपती हैं, परन्तु इस सेवा में असंतोष अर्थात् अतृप्ति ही उसका संतोष है। शौनक भी अपनी अतृप्ति को संतोष कहते हैं ऐसे ही सूतजी श्रीभागवत् में कहते हैं।

**चौ० असंतोष संतोष समाना। यह प्रेमिन को नेम प्रधाना॥ श्री शुक कह्यो भागवत माहीं। संत निवृत कथा अवगाहीं॥ यदपि सतत यह उन की बान। रहैं अतृप्त तोष नहिं आन॥ यहै कही राजर्षि परीक्षित। अपने मन की दशा अतिरपित॥ लक्ष्मी यदपि रहै वामांग। चरण पलोटति नित दृगपांग॥ ज्यों वाकौं नित रहैं अतृप्ती। सूत कही तैसेहि निज मती॥ शौनक रिषि निज बीती बोलें। असंतुष्ट हरि कथा न डोलें॥**

गद्यार्थ– जहाँ अविनय ही विनय है। (प्रमाण) मैया यशोदा की मथानी की रस्सी पकड़ कर रोक लेना। ऊखल उलटा करके दही का भाण्डा फोड़ कर निशंक भाग कर छिप जाना। बंदरों को माखन लुटा देना। मैया की कोप दृष्टि से देखना। गोपी का दही लूटना-अविनय ही से उसे सुखी करना-मानो विनय से खाई हो। हाथापाई छेड़खानी अविनय ही है। परन्तु वह इसे विनय ही मानती। प्यारी जी से मिलने पर बनावटी रुखाई करना। रास में गोपियों को बुला कर फिर रुखाई से कहना चली जाओ विनय से भी अधिक सुख का हेतु बनी।

**चौ० जहँ अविनय है विनय स्वरूप। महिमा प्रेम पतन जु अनूप॥ ग्रंथ कार दिये बहुत प्रमान। थालि पुलाक कहे कछु मान॥ मैया को दधि मथन न दीनो। करि अविनय जु रई गहि लीनी॥ उलटि ऊखलहिं दही ढुरायौ। भांड फोड़ि निज गात दुरायो॥ दियौ बंदरनि माखन बाँट। जननी दियो कोप करि डाँट॥ गोपी को जु दही लुटि खायो। यों**

अविनय सों सुख पहुंचायो ॥ हाथा-पाई धींगा-मुशती । छेड़ खानि मानो करि कुश्ती ॥ यह जु अविनय बधुनि सुख देत प्रेम विनय सम ही सुख देत । प्यारी सों करि कूट रुखाई । दियो हिये अह्लाद महाई ॥ गोपी वन मधि स्वयं बुलाई । बोले घर जाओ क्यों आई ॥ यों भागौत अरु अन्य पुरान । विनय अविनय कुँ करत प्रमान ॥

गद्यार्थ– जहाँ सजावट बिना ही सजावट है (प्रमाण) रास के समय नैनों में अंजन बिना लगाये भाग गई-वस्त्र उलटे सीधे पहन लिये । जो सहज रूपवती होती हैं उनकी सुन्दरता भूषण से उलटी दब जाती हैं । बिना यावक को चरण शोभा कमल को मात करती है । शरीर का गौर वर्ण सोने को लज्जित करता है इस लिए भूषणों की जरूरत ही नहीं होती, खंजन पक्षी सी आंखें बिना आंजे ही शोभा देती हैं और मन को मोहित करती हैं । सुन्दर देह पर भूषण तो एक प्रकार से दूषण हो जाते हैं ( नहीं मोहताज जेवर का जिसे खूबी खुदाने दी ) इत्यादि ।

चौ० अलंकार विनु जहँ अँग शोभा । नहिं कोउ अलंकार पर लोभा ॥ कृत्रम जो किछु लोक सजावट । आकर्षै नहिं बाह्य बनावट ॥ प्रेम पतन सहजो सौन्दय्य । इहै अलौकिक तहँ अश्चर्य्य ॥ सुनौ प्रमान ग्रन्थकरता के । कछुक कहौं जु भाव कविता के ॥ रास समय बिनु आँजे लोचन । उलटे पट-कियो प्रेम दबोचन ॥ सहज रूप लावण्य जहाँ है । अंग सजावट खटक तहाँ है ॥ विनु यावक पग कमल समान । गौर देहु जु कनक दुति हानि ॥ भूषण काँचन स्वयं लजावैं । कमनि गात आभा जु दुरावैं ॥ खंजन खग सम नैंन सलोने । आँजे विनु रंजित मनु टोने ॥ उज्ज्वल देह जु साजौ भूषण । रसिक मानि हैं ते सब दूषण ॥

गद्यार्थ— जहां स्त्रियां ही पुरुष हैं पुरुष ही स्त्रियां हैं । ( प्रमाण ) भगवान् पुरुष हो कर भी मोहिनी रूप बनते हैं । रास में गोपी कहती है देखो सखियो में कृष्ण हूँ । श्रीराधा अपने को कृष्णावेश आने पर कहती है हे राधे ! तुम कहा हो ऐसा प्रलाप करती है । गोपी कृष्ण बनने की भावना करती हैं । इत्यादि

चौ० प्रेम पतन कौतुक जु महान । नारी ही जहँ पुरुष समान । पुरुष जानिये नारि समाना । भयो अभूत तहाँ जु विधाना ॥ कहै कछुक यहि लगि परमान । सरस सुनौ हे रसिक सुजान । स्वयं भए हरि स्त्री तनु धारी । शिव मोहित कीने इक दारी ॥ यद्यपि नित्य पुरुष इक आप । प्रेम पलटि दै कला कलाप ॥ रास माँहि गोपी कहै कृष्ण । मैं हूँ सखियो ! लखौ सतृष्ण ॥ ढूँढन अब तुम अनत न जावौ । खोज कृष्ण की मो तन पावौ ॥ राधा एक बार आवेश । निज को मान्यो सुवन व्रजेश ॥ करै प्रलाप कहां श्री राधा । उलटि प्रेम तनु करि धौं बाधा ।

गद्यार्थ— जहां पुरुष ही स्त्रियाँ है । (प्रमाण) द्वारका में एक बार श्रीकृष्ण राधा भावावेश में हा कान्त ! हा कान्त ! ऐसा पुकार रहे थे नारद जी ने दूर से भ्रम किया कि यह शब्द तो श्रीराधा का है पास पहुँच कर देखा वह स्वयं श्रीकृष्ण थे । प्रेम वश श्रीश्रीशंकर ने इलावर्त में प्रवेश करने वाले पुरुषों को स्त्रियों के भाव को प्राप्त करने का विधान पतिन के हित के लिए कर रखा है ।

चौ० पुरुष जानिये नारि समाना । भयो अभूत तहाँ जु विधाना । या के कहै प्रमान जु बहुते । ग्रंथ मूल में लिखे विभूते । एक बार श्रीकृष्ण द्वारिका । माँहि भाव आवेश राधिका ॥ उपज्यो जब बैठे एकान्त । बोल उठे हे कान्त ! हे कान्त ॥ तिहि क्षण नारद रहैं समीपा । राधा कहाँ

**आई इहि द्वीपा । हृदय तर्क कियो भवन प्रवेश । देख्यौ श्री हरि को आवेश ।। इलावर्त में शम्भु सुजान । कीनौ प्रेम वश यहै विधान ।। पुरुष सूलि यदि करै प्रवेश । होइ तुरत नारी को वेष ।।**

गद्यार्थ— जहां अज्ञान ही ज्ञान है । ( प्रमाण) भागवत दशम में ब्रह्मा जी कहते हैं कि जानने वाले भले बहुत जानें हमें तो आप का दास्य चाहिए । तृतीय स्कंध में श्री वराह जी से ब्रह्मा जी कह रहे हैं कि इस राक्षस को मार डालो, प्रेम में भगवान् के अगाध ज्ञान को भूल कर उन्हें सुझाया कि असुर घोर सन्ध्या-काल में बलवान होकर नहीं मारा जा सकेगा । क्या भगवान् कोई अज्ञ हैं ? परन्तु ब्रह्मा प्रेम में कह गए । वात्सल्य भाव में यशोदा को अज्ञान में प्रभु का ज्ञान विलुप्त है उन्हें अग्नि सिंह आदि पशुओं से बचाती हुई स्वयं अनवस्था में प्रेम विह्वल हो जातीं । मन की यह स्थिति ही अज्ञान है जो श्रीकृष्ण विषयक ज्ञान पर छा गई । इत्यादि

**चौ०जहाँ अज्ञान हि ज्ञान कहावै । प्रेम पतन महिमा दरसावे । श्री भागवत कह्यो मुख ब्रह्मा । दास्य भलो तुमारी प्रभु महिमा ।। और ज्ञान अज्ञान समान । यों ब्रह्मा ने कियो प्रमान ।। चहत ज्ञान बदले अज्ञान । ताते भयो प्रेम परधान ।। ज्ञान स्वरूप यदपि प्रभू आहीं । जानत ब्रह्मा हे मन माहीं ।। तदपि प्रभू जब भए वराह । उन को ब्रह्मा देत सलाह ।। आयो चहत सांझ की वेला । राक्षस को बल अमित बढेला ।। ताते याहि दीजिये मार । यों अज्ञानन ज्ञान की धार । मैया भोरि कृष्ण को ज्ञान । भूलि अज्ञता करत प्रमान । रक्षा करति लाल को जब जब । होत चित्त अनवस्थित तब तब ।। यों अज्ञान ज्ञान को लील । प्रेम अहै इतनो बल शील ।। ब्रज बासिनु को सब अज्ञान । विज्ञानिन सों उच्च निधान ।।**

गद्यार्थ— जहां पराजय ही जय है । ( प्रमाण ) गर्भ में जीव जो कुछ अपनी पराजय दिखाता हुआ कहता है, फल यह होता कि जय करके गर्भ से बाहर आता है । श्रीरुक्मणी जी से भगवान् ने कहा कि तेरे प्रेम का हम केवल अभिनन्दन ही कर सकते है । दूत के द्वारा यह सदेसा भेजा । इसी प्रकार रास में गोपियों से अपनी पराजय स्वीकार की जो पर्य्याय से जय ही है । श्रीराघवेन्द्र ने हनुमान से भी यही कहा कि मैं तेरे से उऋण नहीं हो सकता ।

**चौ० मानत जहां पराजय जय । प्रेम पतन महिमा अक्षय ।। सुनौ प्रमान भागवत केरे । जीव गर्भ में यश हरि प्रेरे ।। यद्यपि मानत अपनो हार । पै जीतै ह्वै गर्भहि पार ।। संदेशा पठ्यो हरि आप । रुक्मणी मैं तोकों रहौं जाप तदपि उरिण तो सो हौं नाहीं । महिमा प्रेम लेत को थाहीं ।। कृष्ण कह्यो हे गोपी रमणी ! आदि अन्त मैं तुमरो ऋणी । यद्यपि है स्वीकार पराजय । पै सर्वस्व लियो करि के जय ।। श्री रघुनाथ कही यहि बात । सुनौ बात हे हनुमत तात ! बढ्यो महा ऋण मो सिर ऊपर । महा बोझ नहिं इहि सम भू पर ।। कीनों बहु विवेक मन माहीं । होई सकत उऋण मैं नाहीं ।।**

गद्यार्थ— जहां सुख ही दुख है । ( प्रमाण ) भागवत ३ स्कं० में सनकादि मोक्ष सुख को भी दुःख बताते है। ब्रह्म सुख भी कथा श्रावण के सुख के सन्मुख ही दुःख है । नाग पत्नियां दशम स्कंध में कहती हैं कि आप की चरण रज के सुख के सामनेसमस्त अलौकिक सुख भी दुःख ही है ।

**चौ० जहँ पर सुख ही दुःख समान । सुनौ कछुक भागौत प्रमान ।। कहत सनन्दन मोक्ष सुखन**

को । दुख समान कहि अपने मन को ।। हरि यश श्रवण बहिमुख मान । अन्तः ब्रह्म सुख नाहिं समान । कालि नाग पत्नि यों बोली है । हरि ! जिन तुव पद रज छ्वैली । अखिल अलौकिक सुख न तुलाहीं । वा रज की छाया जे जाहीं ।।

गद्यार्थ— जहां दुःख ही सुख है । ( प्रमाण ) रास में गोपियों को विरह दुःख-सुख की अन्तः अनुभूती का हेतु था । कोई गोपी गिरिराज के तप्त पत्थरों पर खड़ी श्रीश्याम सुन्दर की झाँकी के दर्शन करते समय पाँव जलने के दुःख का सुख कहती है । राजा परीक्षित प्रेम कथा में व्रत तथा सर्प डसने के दुःख को सुख कह कर श्रीशुकदेव जी को कथा कहने को उत्साहित करते हैं ।

चौ० दुख ही को सुख करि जँह मानैं । सुनौ भागवत केर प्रमानें । रास माँहि गोपी तडपाई । विरहज दुख सों बहु बिलखाई । पै अन्तर में उन सुख मान्यौ । प्रेम पतन यहि रीति पछानौं । इक गोपी कहुं चढ़ि गिरि राज । निकट हुते घनश्याम विराज । तप्त पषान रहैं तब गिरि पर । नंगे पाँव खड़ी सुख सरवर । मानत नाँहिन जलन पगनि की । दर्शन सुख लहि प्रीति लगन को । राज परीक्षित सुख करि मानत । तक्षक भय न तनिक उर आनत । राज्य तज्यो रु भयो उपवासी । सतत पियत हरि कथा सुधा सी । नाँहि तिहि भूख प्यास अरु निद्रा । अटै ऊरमी के सब छिद्रा ।।

गद्यार्थ— जहां निकृष्टता ही उत्कृष्टता मानी जाती है । प्रमाण—भागवत ३ स्कन्ध में सनकादिक कहते हैं कि मोक्ष की ऊँची पदवी आपके चरण की तुलसी की गन्ध के समान भी नहीं है और कानों में अमृत मयी कथा पान करने के समान नहीं है इत्यादि । दशम स्कन्ध में श्रीब्रह्मा जी कहते हैं कि यह महान की पदवी अत्यन्त तुच्छ है यदि आप के दासों का कोई दास बन जाऊं अथवा गोकुल वासियों की चरण-धूलि का अभिषेक मुझे किसी जन्म में प्राप्त हो तो इस ब्रह्मा पद से परम उत्तम मानूंगा । यही बात उद्धव जी ने कही कि मैं ता घास लता आदि बन जाऊँ । सूत जी ने प्रथम स्कन्ध में कहा कि आप अपनी ईश्वरता को एक ओर रखकर पांडवों के लिए निकृष्ट सेवादार-सारथि दूत आदि बने । श्रीराधा जी के चरणों में यावक देना तथा सदैव दीन रहना यह प्रेम राज्य की महिमा है । इत्यादि

चौ० निकृष्टता जहाँ विपरीत । मानी उत्कृष्टता अतीत । सनकादिकन भागवत माहीं । कह्यो मोक्ष हम नाँहि सराहीं । हरि पद परसित तुलसो गन्ध । तुलैन मुक्ति यहि सम्बन्ध । कथा श्रावण हरि के गुन गान । मोक्ष तुलै नहिं याहि समान ।। ब्रह्मा कह्यो दशम में जान । यह पद अतिहि तुच्छ भगवान ।। तुव दासन की दास्य दासिता । मों कों बखसो सो उपासिता ।। अथवा ब्रज वासिन पग धूल । व्रज लहि जन्म पाउँ सुख मूल ।। उद्धवकी पुनि यही अभिलाष । ब्रज में बनूँ वल्लि तरु घास । सूत कही भागवत प्रमान । पांडव दास भये भगवान ।। दूत सारथो कर्म निकृष्ट । किये मानि पांडव निज इष्ट ।। श्री राधा पद यावक देत । इक रस दीन भए करि हेत ।। दैन्य जहाँ को परम स्वरूप । ऐसो पत्तन प्रेम अनूप ।।

गद्यार्थ— जहां पर तम ही प्रकाश है । ( प्रमाण ) कोई एक महा पण्डित अपने पांडित्य के अभिमान के सन्मुख व्रज की रज की उत्कृष्टता व प्रभाव का मन ही मन विचार करता हुआ कहता है कि विशुद्ध सत्व के प्रकाश से अधिक प्रभाव व्रज की रज अर्थात् रजो गुणों में है और तमोगुण शरीर धारिणों नारियों का अर्थात् व्रज गोपियों का प्रभाव प्रकाश लोक लोकान्तरों में विख्यात है । व्रज की सघन कुञ्जों गह्वर बन

में, घन घोर घटाओं के तम में युगल को मिलन सुख विशेष होता, इसलिए तम ही प्रकाश का काम देती, उसकीमन की शंका सहज निवृत हो गई यह प्रगट लीला का भाव है।

**चौ० तम हो जहाँ उज्ज्वल परकास। ऐसो पत्तन प्रेम विलास॥ एक महा पंडित अभि-मानी। व्रज रज की महिमा डरआनी॥ तुलना करि मन करत विचार। सत्व विशुद्ध न रज सम सार॥ रज व्रज गज कर है विश्वास। नैननि दरस होइ हरि पास॥ जो नहिं सत्व विशुद्ध करावै। व्रज में रज तम श्रेष्ठ कहावै॥ यदपि गोपिका तमः प्रधान। नारि देह को वेद विधान॥ पै उन को यश बढ्यो महान। इन को तमहि प्रकास समान॥ तम घन कुञ्ज घटा घन घोर। गह्वर वन तम ओर न छोर॥ देत प्रकाश होत अभिसार। कृष्ण मिलन हित राधा लार॥ ललितादिक कहैं सखी सयानी। तम हित मूल शंक सब हानी॥**

गद्यार्थ— जहां निषेध ही विधि है। (प्रमाण) कोई एक श्रीकृष्ण का प्रेमी दूसरे से कहता है कि भाई और जहाँ चाहो जाना परन्तु भूल कर भी श्री वृन्दावन में न जाना। इस कहने में भाव यही है कि अवश्य जाना यदि तुझे श्रीकृष्ण प्रेम की प्यास है। इत्यादि

**चौ० गनत तहाँ निषेध विधि रूप। प्रेम पतन को इहै स्वरूप। लोक विषय यह देख्यो जात। करिये निषेध करत सो बात॥ सुनो एक जु लोक परमान। कृष्ण प्रेम इक इच्छुक जान॥ दूजो प्रेमी कृष्ण कहावे। पहले सौं यह कहि समझावे॥ भूलि न पग धरियो तू तहाँ। वृन्दा-बन भूमि है जहाँ॥ ऐसी विधि जो कियो निषेध। विधि गनियत यह प्रेमिनु भेद॥ अधिक निषेध बढ़ै उत्कंठा। रति वस्तु में उपज अकुण्ठा॥**

गद्यार्थ— जहां अनुत्तर ही प्रत्युत्तर है। ( प्रमाण ) भगवान् को मिलने के लिए जब श्रीराधा को संकेत होता तो उत्तर न देती परन्तु संकेत स्थान पर पहुँच जाना ही उत्तर है।

**चौ० मौन प्रश्न को उत्तर मान। प्रेम पत्तन को सहज विधान॥ जब राधा को मिले संदेसा। मिलो लालजी सों अस देसा॥ देत न उत्तर मौनहि ठान। पै मिलती संकेत स्थान। यदपि प्रथम गही श्री मौन। उत्तर यह जानत नहिं कौन॥**

गद्यार्थ— जहां विना सिर वाले ही हजार सिर वाले हैं। (प्रमाण) भक्त अपने इष्ट के प्रति अपनापन नित्य नवीन बलिदान करते हुए भी संतोष नहीं मानते यही उनका बिना सिर वाला होना है और नित्य अर्पण करते हैं इसलिए सहस्र सिरों वाले हैं। एक गोपी की मनोकामना यह रही कि मेरे श्याम सुन्दर जो गेंद लकड़ी से खेलते हैं वह गेंद मेरा सिर बन जावे। इस प्रकार बिना सिर का होना सिद्ध होता है भगवान् के रसिकों का यह स्वभाव है।

**चौ० सिर बिनु तहां सहस सिर वाले। प्रेम पत्तन अस नीति चाले॥ सर्व समर्पण इष्टहि कर हीं। शीश हथेली पै निज धरहि॥ राखै साहस शिर बलिदान। सोई गनिये सहस समान॥ नित्य नवीन भाव अर्पन को। साहस प्रेमिनु नाहिं कृपन को॥ गोपी एक करै यहि भाव। श्याम हि कन्दुक खेलन चाव॥ क्रीड़ा लकुटी मोहन हाथ। मो सिर कन्दुक खेलैं साथ। गेंद नवीनो अस नित देउँ। कृत्य कृत्य यह सिर करि लेऊँ। ऐसो भाव शीश देबे को। कहियत सहस अंक गनिवे को।**

गद्यार्थ— जहां नेत्र बिना ही हजार नेत्रों वाले हैं। (प्रमाण) भागवत में कहा है कि श्रीकृष्ण के दर्शन से जब सात्विक भावों के कारण अश्रु भर जाते तो नेत्रों में दर्शन की योग्यता रुक जाती ऐसे समय यद्यपि वह नेत्रों में अश्रु अमंगल की शंका से रोक लेते तो अश्रु धारा मानों हजारों नेत्रों में रोक ली गई इस से यही सिद्ध होता है कि नेत्रों को शक्ति हीन करने पर भी हजारों नेत्रों का सुख अश्रु धारा के रुद्ध होने से प्राप्त किया गया। श्री कृष्ण के मथुरा प्रस्थान को न देख सकने की सामर्थ्य से सबने नेत्र हाथों से बन्द कर लिए, भाव यह है कि यद्यपि अपने को नेत्र हीन किया वास्तव में यह सहस्र नेत्रों के समान माने जाते हैं ॥

**चौ० जहँ दृग हीन सहस दृग वाले। प्रेम पतन जु रसिक मतवाले॥ हैं भागौत बहुत परमान। तत्व सुनौ जु गूढ़ कियो गान॥ कृष्ण दरस पै सात्विक भाव। उपज हिये आसक्ति चाव॥ सहज अश्रु नैंननि ढ़रि आवैं। दर्शन में बाधा पहुंचावैं॥ करि मन कछुक अमंगल शंका। रोकि लेत चक्षुन के अंका॥ मानो सहस नैंन भए आन। यों कहियत यह प्रेम विधान॥ व्रज ते हरि मधुपुरी पधारे। रथ चढ़ि चले नैंन के तारे॥ यह कुदृश्य तहँ देखे कौन। समरथ नहीं कहै दुख जौंन॥ नेत्र बन्द व्रज बासिन कीने। अन्तर सहस नैंन सुख भीने॥**

गद्यार्थ— जहां बिना भुजा वाले ही हजारों भुजा वाले हैं। (प्रमाण) श्याम सुन्दर, रक्तक मित्र से जंघा सहलवा रहे थे। वन में जब खेल में थक कर लेट गए, रक्तक उस समय मुख छवि देखकर जड़ता भाव को प्राप्त हो गया हाथ रुक गए। यह देख सुबल ने उसे अलग कर दिया मानो स्वयं हजार हाथ से सहलाने लगा। किसी समय लाल जी दो हाथों से प्यारी जी के विशाल भाल पर तिलक कर रहे थे उस समय हाथ कांपने लगे ऐसा हाथ हजार हाथ हैं जिन में दर्शन से प्रेमावेश हो जाए। श्याम सुन्दर के दर्शन से प्यारी जी के रोम-रोम कांटे की तरह खड़े हो गए यह देख, वृन्दा सखी ने कहा कि प्यारी! आप तो मानो हजारों हाथों से लाल जी को आलिंगन करना चाहती हो।

**चौ० बिनु भुज सहज भुजा युत कहियत। प्रेम पतन ऐसे जन रहियत॥ एक बार जु श्वसित हरि भए। वन में क्रीड़त सोइ जु गए॥ रक्तक नर्म सखा लखि अवसर। जाँघहि सहलावन कुं अग्रसर॥ ज्यों सहलाई मुख छवि देखी। जड़ता छाई तुरत विशेषी॥ मानो भुज बिनु स्तंभित भुज सो। पै गनैं रक्तक सहस ही इक को॥ तिलक करत प्यारी के भाल। एक बार श्री मोहन लाल॥ प्रेम विवश कर होत प्रकम्प। ऐसे कर गनियत जु अमप (अमाप)॥ एक बार प्यारी पिय देख्यो। स्तंभ भयो वृन्दा लखि लेख्यो॥ कंटक सम रोमाँच खड़े हैं। मानो तेते कर उभड़े हैं॥ मिलन हेत यहि भुजा अपार। पै बिन भुजा कियो निरधार॥**

गद्यार्थ—बिना पांव वाले ही जहां हजारों पांव वाले हैं। (प्रमाण) जो रसिक मधु मक्षिका की तरह अपने इष्ट को ऐसे चिपटे हैं कि पांव होने पर भी एक लव भर वहां से विलग होने का नाम तक नहीं लेते, ऐसे मानो बिना पाव के हो गए, ऐसे भाग्य शाली हजार पांव के हैं। रास में गोपियां कहती हैं हमारे पांव यहां गड़ गए है घर किन से जावें बिना पांव के हो गईं और रास मे ऐसी तीव्र गति से नाचीं मानो हजारों पांव थे।

**चौ० पग बिनु सबै सहस पग धारी। प्रेम पतन की महिमा न्यारी॥ रसिक जु मधु मक्षिका समान। चिपटे इष्ट ही मधु सम जान॥ क्षण बिछुड़न को नाम न लेहीं। यदपि**

पगनि सों समरथ एहीं ।। ताते बिनु पग गनियत तिलको । तुलना इन ही को सहसन को ।। रास में गोपी श्याम बुलाई । पुन: निरादरिँ क्यों तुम आई ।। जाओ लौट दियो समझा । गोपि कहत एकड़ाज गए ग ।। गडे इहां को जाए घर को । पग बिनु मानत निज तनु धरको ।। ऐसे भाग्यवान जे पाँव । तिन की सख्या सहस गिनाव ।। नृत्य कियो जब रास रचाई । सहसाधिक पटुता जु दिखाई ।।

गद्यार्थ—जहाँ जागना ही सोना हैं । ( प्रमाण ) भगवान् रुक्मणी के ब्राह्मण दूत से कहते हैं कि मैं रुक्मणी की चिन्ता में निद्रा नही ले रहा हूं । एक सखी दूसरी से कहती है कि वह गोपी धन्य हैं जिन्हें स्वप्न में प्यारे के द शन तो हो जाते हैं मैं अभागिन हूं कि प्यारे के यहाँ से चले जाने के बाद बैरिणी निद्रा भी भाग गई है यदि वह ही रात्री में आवे तो सभव है स्वप्न में दर्शन हो सकें ।

चौ० निशि जागरण ही शयन समाना । प्रेम पतन को नियम प्रमाना ।। श्री हरि स्वयं द्वारिका माहीं । ब्राह्मण दूत रुक्मिणी पाहीं ।। निज निद्रा गत दशा सुनाई । प्रिया हेत चिन्ता दरसाई ।। ब्रज की सखी, सखी सों बोली । श्याम गये तें यों मति डोली ।। चहीं बहुत कि निद्रा आवैं । स्वप्ने में हरि दर्श दिखावे ।। ते बडभागिनि जे निशि सोवैं । स्वप्न विषै हरि दर्शन होवैं ।। बैरिन भई जु मोकहँ निद्रा, ऐ सखी दुर्भागिन के छिद्रा ।।

गद्यार्थ—जहाँ वियोग ही सयोग है । ( प्रमाण ) श्री जय देव जी कवि कहते हैं कि श्री राधा यद्यपि वियोग में हैं तो भी प्रेमावेश में जहां देखती हैं वहीं २ श्याम को देखती हैं । श्री बिल्व मंगल ने भी विरह में संयोग का वर्णन किया हैं यह तादात्म्य के राज्य में होता है । रास में गोपी कहती है देखो मैं ही कृष्ण हूं यद्यपि भगवान् अन्तरधान हैं ।

चौ० जहाँ वियोग होय संयोग । प्रेम पतन बस ऐसे लोग ।। कवि जय देव गान कियो ऐसो । श्री राधा अनुभव कियो जैसो ।। यदपि भवन में विरह जरावें । बैठि इकन्त भाव दरसावें। आइ गए ? आओ हे प्यारे ! हो संयोग जु विरह सहारे ।। बिल्वमंगल निज अनुभव भाख्यो । विरह माँहि जु मिलन सुख राख्यौ ।। रास में गोपी सहसा बोली । मैं हूँ कृष्ण कहत यों डोली ।।

गद्यार्थ—जहाँ संयोग ही वियोग हैं । ( प्रमाण ) द्वारिका में राज महिषी श्याम की प्रिया कुररी से वियोग की वार्ता कह रही है यद्यपि श्री कृष्ण वहाँ पर हैं । श्री राधा सुधा निधि में श्याम के अक में हो श्री जी हा मोहन ! कह कर पुकार रही हैं यह संयाग में वियोग है

चौ० जहँ संयोग वियोग समाना । प्रेम पतन जो रहै सो जाना ।। श्री द्वारिका कृष्ण पटरानी । देखत कुररी विरह लुभानी ।। यद्यपि कृष्ण नित्य विदमान । चितत विरह कछुक सुख मान ।। श्री हरि वंश सुधा निधि राधा । बरनी नित संगम में बाधा ।। प्रिया रही यद्यपि पिय अंक । बोल उठी हा श्याम ! असंक ।। यों तन्मयता विरह जतावे । यद्यपि नितसंयोग भुलावै ।।

गद्यार्थ—जहां मरना ही जीना है । ( प्रमाण ) भागवत में विप्र यज्ञ पत्नि को पति ने रोक लिया उसने देह त्याग दी । रास में गोपी को पति ने घर में बन्द कर दिया उसने देह त्याग दी । उद्धव से हरि ने कहा गोपी तो सब मृत प्राय हैं मेरी लौटने की अवधि की आशा में जी रही हैं ।

**चौ० मरन जहाँ जीना सब मानैं। यों बलिदान करैं हित जानैं ॥ विप्र यज्ञ पत्नि जब रोकी। कृष्ण मिलन ताकी मग टोकी ॥ देह तजी जु मिलो प्यारे सों। जीती गनियत जग हारे सों ॥ इहि विधि गोपी रास में रोकी। सब सों प्रथम मिली जु बिसोकी ॥ उद्धव सों हरि गोपिन महिमा। कही मिलन अवधी की गरिमा ॥ यदपि सभी हैं मृतक समाना। आश मिलन में रुकि रहै प्राना ॥**

गद्यार्थ—जहां लघुता ही गौरव है। ( प्रमाण ) श्री लाल जी ने कहा कि श्री राधा मेरे लिये परम आनंद दायिनी हैं। यह सुन कर भी श्री राधा जी अनसुनी सी करके मानो आंख के संकेत से इस बात का अनादर सा किया और उपेक्षा से खड़ी हो गई, यद्यपि यह लाघवता सी प्रतीत होती है परन्तु वास्तव में प्रगाढ़ प्रेम को सूचित करने वाला गौरव ही है और मैत्री के गौरव से भी सौ गुना अधिक प्रीति का आधान करती है

**चौ० लघुता ही जहँ गुरुता गनियत। प्रेम पतन यों महिमा भनियत ॥ मोहन कह्यो प्रिया अह्लादिनि। आनँद दायिनि मोहि अनादिनि ॥ सुनि प्यारी पै दियो न कान। कियो विरोध जु भृकुटी तान ॥ वचन लाल कै करी उपेक्षा। यों लाघव गौरव जु विसेषा ॥ यों सूचत है प्रेम प्रगाढ़। यह रहनी जे प्रेमी आढ्य ॥ गौरव सों सतगुन सुखदाई। यों लाघवता गौरव गाई ॥**

गद्यार्थ—जहां स्तुति ही निन्दा है। ( प्रमाण ) जब किसी दिन श्याम श्री जी के पास यथा समय न मिले तो कहती ओ परम सुन्दर ! आपको तो बहुत चाहतो हैं तनिक शीशे में अपनो शोभा तो देखो कितने सुन्दर हो आर्थात् काले हो तो यों स्तुति शब्द व्यंग में निन्दा ही है, कि बहुतों के गुलाम हो। कोई इक कंस का सेवक श्याम सुन्दर की निन्दा करने लगा किसी साधारण भक्त ने केवल उसे रोका। किसी प्रेमी भक्त को पता लगा उस ने उस भक्त का कहा कि ऐसे निन्दा के अवसर पर प्राण दे देना होता है सो पहले भगत का सेवक को निवारण करना साधारण होने से कार्य स्तुत्य होने पर निन्दा हो रहा।

**चौ० जहँ अस्तुति निन्दा सम मानी। प्रेम पतन की अकथ कहानी ॥ एक दिवस श्री सुन्दर श्याम। यथा विदित नहिं मिले सुभाम ॥ पहुँचे कछुक विलम्ब तहाँ। प्यारी बोली रहे कहाँ ॥ तुम अति सुन्दर बहु वल्लभी। मुकर उठाइ दिखु आनन अभी ॥ यद्यपि प्रगट शब्द है सुष्ठु, किया व्यंग सो निंदा पुष्ट ॥**

गद्यार्थ—जहां निन्दा ही स्तुति है। ( प्रमाण ) सखी कहती है यह अधरों की हंसी मन्द है। यह मन्द शब्द निन्दा का सूचक है परन्तु साथ ही कहा कि इस हंसी से दान्त खुले तो सफेद दान्त अधर लालिमा से अरुण हो गये और नासिका के मोती को सफेद से लाल कर दिया। अपनी लालिमा दान की, जैसे कोई द्विज ब्राह्मण को कुछ दान कर दे। दान्त भी द्विज कहे जाते हैं इत्यादि। हास्य मंद कहा सो निन्दा है परन्तु दानी कहा सो स्तुति हो गई। फिर हंस कर प्रिया के सगप की चुगली करता है यह भी निन्दा है परन्तु संग मिलने की सूचना स्तुति है।

**चौ० जहां निन्दा अस्तुति करि मानैं। प्रेम पतन यह रीति बखानैं ॥ देखि लाल की अधर अरुणता। सखी कही कछु उक्ति मधुरता ॥ देखि-देखि यह मन्द जु अधर। हँसते नहिं कारण क्यों प्रखर ॥ दई द्विजनि दन्तनि जु ललाई। रक्त स्वच्छता सबै दुराई ॥ मानो ब्राह्मण को करि दान करि कछुक उदारता मान ॥ अरुण कियो नासा को मोती। लोप करी जु**

**श्वेत उस ज्योति ॥ यद्यपि मन्द शब्द है हेय। करी यही विधि अस्तुति ज्ञेय ॥ हास्य मिलन सुख प्रगट लखान। मन्द याहि ते पिशुन समान ॥ मिलन सूचना है अस्तोत। पै कह्यो मन्द जु निन्दा पोत ॥**

गद्यार्थ—जहाँ पर झुकना ही उन्नति है। (प्रमाण) श्रीजयदेवजी के गीत गोविन्द में कहा कि मुझे पद पल्लव का स्पर्श दो। यह है तो झुकना परन्तु वह पद पल्लव काम विष का नाशक तथा सिर पर मुकुट से भी अधिक छवि देगा यह उन्नति कही। ललिता कहती है, हे लाल ! आज तो आपका पाँव मस्ती में पृथ्वी पर नहीं पड़ता है प्यारी के पाद स्पर्श का सौभाग्य मिला है—यह पाद स्पर्श नमन है और मस्ती उन्नति है।

**चौ०—नमन जहां उन्नति कर मूल। प्रेम पतन अद्भुत जु असूल ॥ गीत गोविंद गाई जयदेव। चाहत हरि पद पल्लव सेव ॥ निज प्यारी की यह जिय जान। होइ काम विष जाते हान ॥ सिर पर मुकुट सदृश्य विराजै। ऐसो नमन उन्नति भ्राजै ॥ ललिता कह्यो सुनो हो प्यारे। पांव पड़त नहिं अवनी तिहारे ॥ अस मद मस्ती कारण एक। मिली प्रिया पद परसन टेक ॥ यों नमनी है प्रगट उन्नति। प्रेम पतन यह चाल समुन्नति ॥**

गद्यार्थ—जहां व्यय ही लाभ है। (प्रमाण) कोई प्रेयसी धोबिन को बहुत धन का लालच देकर और उसे धन देने से रिझाकर अपने प्रियतम के उतरे वस्त्र उस धोबिन से लेकर निर्धन हो गई, सो ऐसा व्यय उसके लिये लाभ ही लाभ था। बसन्त ऋतु में पूर्व्वरागवती गोपी दूसरी दूती गोपी से कहती है कि यदि ऐसे समय श्रीकृष्ण मिलन हो तो मेरे प्राण भी यदि देने पड़ें तो मेरा सौभाग्य—ऐसा व्यय परम लाभ मान रही है। दशमस्कन्ध में कहा जिसकी कथा का एक अमृत का कण कानों में पड़ने से बड़े-बड़े राजा, राजपाठ को तिलांजली देकर पक्षियों की तरह वृक्षों के नीचे भिक्षा से पेट पालकर रहना सौभाग्य मानते हैं ऐसा व्यय परम लाभ को सन्मुख रखकर किया जाता है।

**चौ०—व्यय ही जहँ को लाभ कहावै। प्रेम पतन यह चाल सिखावै ॥ देति द्रव्य इक प्रेयसि धोबिनि। निज प्रियतम के पट की लोभिनि ॥ यों सब द्रव्य धोबिनि को दीनो। सर्व लुटाय लाभ इक कीनो ॥ प्रियतम के गनि वस्त्र अमुल्य। तुल्यौ नहीं धन वाके तुल्य ॥ कीनो प्रेम पंथ निर्वाह। भई दरिद्रिनी सर्व लुटा ॥ पूर्वराग युत कोइ इक युवती। मोहन प्रति निष्ठा उर ध्रुव थी ॥ देखि आगमन ऋतू बसन्त। बोली निज की सखी इकन्त ॥ यहि अनुपम ऋतु लाल मिलावहु। बदले मेरे प्राण दिलावहु ॥ प्राण हानि यों गनियत लाभ। प्रेम वस्तु गनियत नायाब ॥ दशम भागवत भँवरा गीत। ऐसी शुक मुनि वरनी रीति ॥ कृष्ण कथामृत कण सुनि कान। राज पाठ तजि रसिक सुजान ॥ करैं वृक्ष तल खग सम वास। भिक्षा करत न मानैं त्रास ॥ स्वयं सहारैं इतनी हानि। उर में गनैं लाभ सम ठानि ॥**

गद्यार्थ—जहाँ विस्मरण ही स्मरण है। (प्रमाण) भागवत ५ वें स्कन्ध में श्रीभरतजी के चरित्र में कहा कि उन्हें तन्मयता में समयोचित विहित वनवासी के कर्म्मों-अर्चन पूजन का स्मरण न रहता था। १०वें स्कन्ध में श्रीकृष्ण के पधारने पर श्रीयुधिष्ठिरजी तन्मयता में उनका उचित सत्कार तक करना भूल गये। विदग्ध माधव में श्रीरूप गोस्वामीपाद ने कहा कि योगी श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के लिये यत्न करते हैं कि

एक लव मात्र ध्यानमें आ जावें परन्तु सफल नहीं होते। उसी श्रीकृष्ण को अपने अन्दर से प्रत्याहार करके यह श्रीराधा निकालने का यत्न कर रही है। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारिका में भोजन के अवसरों पर विदुर पत्नि के केले के छिलकों को बार-बार स्मरण करते यह उसका विस्मरण अर्थात् केले के बदले छिलके देना ही स्मरण का हेतु हुआ।

**चौ०—जहँ विस्मरण कहावै सिमरण। प्रेम पतन को उलटो वरणन।। भरत चरित्र भागवत माहीं। औसर उचित सेव भुलि जाहीं।। भूलि गए सब कर्म्म कलाप। तन्मयता जु प्रेम परताप।। दशम स्कन्ध जु कह्यो भागवत। धर्मराज को चरित यथावत।। कृष्ण जबै उनके गृह आए। सुनि पाण्डव आतुर सब धाए।। इतनो बढ्यो प्रेम आवेश। भूलि गए सत्कार विशेष।। विदग्ध माधव रूप गुसाईं। श्रीराधा की कथा लखाई।। जाको ध्यान न पावै योगी। करैं समाधी जगत वियोगी।। करत लाड़िली प्रत्याहार। मन ते सके न कृष्ण निकार।। प्रेम जहाँ-तहँ यह परिपाटी। नित्य सँयोग न बिछुड़न घाटी।। जब जब परसैं भोजन रानी। आवत याद कृष्ण विदुरानी।। तुरत सराहै कदली छिलका। राजभोग को रस अति हलका।। यदपि विदुर पत्नी करि भूल। कृष्ण हृदय सोइ सिमरण मूल।। इहै प्रेम महिमा उर राखो। तब कछु मधुर भाव रस चाखो।।**

गद्यार्थ—जहां गर्व विना ही सगर्व होने का हेतु है। (प्रमाण) श्रीरूप गोस्वामीपाद पद्यावली में कहते हैं कि एक सखी के कपोल पर श्रीकृष्ण ने नव पत्रावली की रचना कर दी वह बड़े गर्व में फूली दिखाती फिरती तब ललिता ने उसे कहा कि ऐ सखो ! हम भी ऐसी सौभागिनि बनतीं पर क्या करें जब वह प्यारे हमारे प्रति ऐसी प्रीति करना चाहते हैं उनके हाथों में तुरन्त वेपुथ से प्रकम्प होने लगता है हाथ ही असमर्थ हो जाते हैं यह अगर्व ही अधिक गर्व का सूचक है।

**चौ०—विना गर्व सह गर्व कहावैं। प्रेम पतन यह महिमा गावैं।। वरन्यो रूप गोस्वामी पाद। पद्यावली ग्रंथ में गाथ।। सखी एक ललिता सों बोल। दिखरावति निज ललित कपोल।। पत्रावलि रची तहँ श्याम। फूली २ फिरै सु भाम।। गर्व रहित ललिता दियो उत्तर। सत्य सखी तुव प्रेम अनुत्तर।। पै जब श्याम कपोल हमारे। परस मात्र तनु सुधि हि विसारैं।। वेपथु सकल शरीर वियापै। थाँमि न सकैं हस्त बहु काँपै।। सचमुच अहै मन्द हम भाग्य। उर में लिये रहैं यहि दाग।। प्रगट अगर्व सही ललिता को। प्रेम सगर्व लखावै जाको।।**

गद्यार्थ—जहां सकामता ही निष्कामता है। (प्रमाण) कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण के समागम पर श्रीराधा सखियों से कहती है कि प्यारे का वंशी विभूषित मुखारविन्द ही मेरी कामना का विषय है, यद्यपि यहां दर्शन सुख मिला परन्तु वह कामना तो बनी ही है कि वैसी छबि कब देखूँगी। दशम स्कन्ध में श्रीशुक ने गोपियों के काम को काम निवृति का हेतु कहा (रास की फल श्रुति में)।

**चौ०—जहँ सकामता परम अकाम। प्रेम पतन यों दे विश्राम।। भयो कृष्ण कुरुक्षेत्र समागम। राधा कहत सुनो अनुभव मम।। सखियो मिले भलै है प्यारे। पै मुख पै मुरली नहिं धारे।। केवल वा छबि ते जिय काम। होइ शमन सुन लो सब भाम।। कह्यो जु**

**रास पंच अध्यायी । चर्चा काम केलि जिन गाई ।। तिनके उर ते विनसै काम । हृदय रोग नसि होइँ अकाम ।।**

गद्यार्थ—जहां रवि ही चन्द्र है । (प्रमाण) ग्रीष्म की दुपहरी में प्राय: स्थान जन शून्य हो जाते हैं । ऐसी गरमी में गोपी श्याम को निशंक दोपहर में मिलतीं तो उनको उस समय सूर्य चन्द्र से अधिक सुखदायक प्रतीत होता था । ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्न की तपश है कहीं कुञ्ज में श्रीराधा-कृष्ण विराजमान हैं ललिताजी चन्द्रावली से कह रही हैं कि इन दोनों को तो यह तापका समय भी चन्द्रमा के समान सुखदाई हो रहा है । यह भानुनन्दिनी हैं अर्थात् सूर्य्य इसका पिता इसके लिये चन्द्रमा बन गया है ।

**चौ०-ग्रीष्म भान शशि शरद समान । प्रेम पतन यों पलटि विधान ।। लोग शून्य जु ग्रीष्म मध्याह्न । गुफा रहैं धसि ताप सिरान ।। पै नाइक सुख देन नाइका । मिलै अशंक जु लखि इकन्तिका ।। तैसे दोऊ श्यामा श्याम । कुञ्ज विराजत लखि रवि घाम ।। ललिता चन्द्रावलि सों भाषे । सूर्य्य सुखद शशि सम इन राखे ।। कहलाती यह भानु सुता । रवि लखात शशि की समता ।। ऐसो मिलन दोपहरी भान । होत शीत यह प्रेम विधान ।।**

गद्यार्थ—जहां चन्द्र ही रवि सम है । (प्रमाण) रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम जानकीजी के हरण हो जानेपर उसे ढूँढते हुए भाई लक्ष्मणसे कहते हैं यद्यपि उस समय पूर्णचन्द्र उदय था परन्तु वे मध्याह्न का चन्द (रवि) बता रहे हैं । लक्ष्मणजी कहते हैं प्रभो ! यह देखो इसमें कलंक है यह चन्द है, तो कहते है, सीता हरण का कलंक अपने वंश में जान सूर्य्य ने कलंक को धारण किया है फिर लक्ष्मण सचेत करते-प्रेमावेश जान कहते हैं प्रभो ! देखो यह कमल मुंदे हैं-तो राम कहते हैं, यह रविबन्धु हैं इसलिये यह भी अपने सजाति सूर्य्य के दुख में दुखी मुंद रहे हैं, फिर लक्ष्मण कहते हैं, प्रभो ! यह कुमुदनी तो खिली खड़ी है इसलिये आप चन्द्रमा को रवि कैसे कह रहे हो तो कहते हैं—यह तो एक और कलंक है कि सूर्य्य की अकीर्ति को जान यह परिहास करती सूर्य्य के सन्मुख खिल रही है । फिर कहते हैं, हे वत्स लक्ष्मण ! देखो दिन के समय इस वन में कमल मुंद रहे हैं (यद्यपि उन्हें रात्री का चन्द्र विरह में सूर्य्य सम ताप दे रहा है) इससे निश्चय होता है कि चन्द्रमुखी सीता इसी वन में होगी जिसके प्रभाव से कमल मुंदे हैं ।

**चौ०-शीतल शशि रवि ताप तपावै । प्रेम पतन यों दृश्य जतावै ।। यद्यपि मर्यादा मय राम । बौराए जु प्रेम सिय बाम ।। हरी विपिन तब खोजत रजनी । सुनौ लखन यह रवि की तपनी ।। लखन कहत प्रभो होहु सुचेत । यह तो निशा-लखौ शशि हेत ।। नहिं मानौ तो प्रगट कलंक । होत न रवि महँ इहै मयंक ।। बोले रघुकुल मणि हे भाई ! । तुमको बात समझ नहिं आई ।। आदि पुरुष रवि सत्य हमारो । जनक नंदिनि हरण विचारयो ।। निज कुल मानि अकीर्ति एह । सो कलंक यह बिनु सन्देह ।। उत्तर सुनत अनुज भयो विह्वल । इतो देखि निज प्रभुहि बियाकुल ।। बोल्यो कछु प्रभु हित उर आनि । प्रभु ! यह रजनी कमल सकान ।। बोले तुरत रघुवर यह सुनि के । भोरो भयो लखन तू पुनि के ।। कमल बन्धु रवि को जु कहावै । बन्धु बन्धु दुख अपनो भावै ।। ताते मुकुलित प्रीति प्रमान । यद्यपि विकिसै दिन परिमान ।। सुनत लखन बोले अति कातर । जानि विवश रघुकुल मणि आतुर ।। प्रभु ! मानौ मैं मृषा न कहहुँ । खिली कुमुदनी तनिक विलोकहुँ ।। प्रभु प्रत्युतर तुरत उचारयो । भेद अनुज तुम नहीं विचारयो ।। मेरी बात होत यों पुष्ट । करत**

है यह परिहास जु दुष्ट ॥ देखत अपकीरति रवि केरी । हंसत कुमुदनी खिली तरेरी ॥ आगे चले कहत रघुराई । ढूँढहु यहिं कहुँ प्रिया दुराई ॥ वत्स लखन ! कछु कहौं प्रमान । यद्यपि दिन मणि ताप महान ॥ तदपि कमल सब रहै मुकुलाई । चन्दमुखी ललना यहाँ आई ॥ जाको दीखत विभव महान । मूँदे अम्बुज दिन में जान ॥

गद्यार्थ—जहां असन्त ही सन्त हैं । (प्रमाण) एक साधु स्वभाव महानुभाव श्रीवृन्दावन में पधारे । यहाँ रहने लगे, वह नित्य गीता पाठ उपनिषद आदि स्वाध्याय करते रहते । जब यहां किसी का ऐसा नियम न देखा तो शान्ति से पूछा कि इसका क्या कारण है तो किसी ने बताया यहां का व्यवहार अन्यत्र क्षेत्रों के विपरीत है । यह गीता पाठ आदि अन्यत्र अधिकारी भेद से किये जाते हैं यहां केवल प्रेम चर्चा का प्रेम-पत्तन है । उसने अधिकारी का भेद पूछा तो उत्तर मिला कि भागवत में आया है तब तक अन्य कर्म कर्तव्याकर्तव्य निर्णय से करे जब तक मेरी कथा श्रवण आदि में दृढ़ श्रद्धा न हो जाए और भक्ति रसामृत में कहा है कि अन्य अभिलाषा मात्रसे शून्य एवं ज्ञान और कर्म आदिके आच्छादन संस्पर्श से रहित श्रीकृष्ण के तत्सुख परायण भक्ति ही उत्तम भक्ति है यह सुनकर उस पण्डित का समाधान हुआ ।

चौ०–भले असन्त जहां सब संत । अनुपम प्रेम पत्तन को मंत ॥ साधु एक वृन्दावन आयो । धाम बास उर माहिं समायो ॥ नित उपनिषद अरु भगवद्गीता । नियम पाठ को करत पुनीता ॥ देखत सबको अचरज मानै । पाठ करत नहिं यहँ कोउ आनै ॥ पूछ्यो विनय सहित दै मान । पूर्व्व बसत जे सन्त सुजान ॥ कहा कारण कोइ पढै न गीता । भगवद मुख की गिरा पुनीता ॥ उत्तर मिल्यौ नहीं अधिकार । यह वन प्रेम पतन को द्वार ॥ प्रेम बिना नहिं चर्चा आन । इतर प्रदेश है उनके थान ॥ सुनौ जु यहाँ के हैं अधिकारी । जग से उलटी रहनी सारी ॥ मत भागौत जु अहै सपष्ट । तजै अन्य कर्मन को कष्ट ॥ जब उर चर्चा प्रेम हरी की । लगै सवादी सम मिसरी की ॥ परमोत्तम भक्ति सो जान । भक्ति रसामृत करी प्रमान ॥ अन्य सकल अभिलाष विहून । ज्ञान कर्म आदिन ते शून्य ॥ तत्सुख कृष्ण इष्ट जिय राखि । सो उज्ज्वल भक्ती है साक्षि ॥

गद्यार्थ—जहां असतीत्व ही सतीत्व है । (प्रमाण) एक गोप अपनी पत्नी का गौना कराके ले आया । वह अपने पीहर में श्रीकृष्ण के पूर्व्वराग में अनुरागवती थी । यहां वह रोगी सी रहने लगी, तो उसके उपचार में उसके गुरुजनों ने कहा कि इसे अन्य कृष्ण प्रेमपात्री गोपियों का संग कराओ यह सहज सती बनकर अच्छी हो जावेगी । श्रीद्वारका में श्रीकृष्ण को उदर पीड़ा ने व्याकुल किया उपचार स्वयं बताया कि मुझे सती देवी का चरणामृत पिलावो । श्रीनारदजी ने रुक्मणी आदि से कहा आप सब सती हो दे दो, तो बोलीं यह तो असती के लक्षण हैं पति को चरण जल देना । नारदजी झट वृन्दावन आए श्रीराधा आदि गोपियों ने तुरन्त दे दिया ऐसी असती ही वास्तव में सती हैं ।

चौ०–जहाँ असति सब सती कहावैं । प्रेम पतन नारी जे आवैं ॥ एक गोप गौना करि आयो । निज पत्नी को घर ले आयो ॥ हिय में रह्यो पूर्व्व अनुराग । कृष्ण दरस विरह को दाग ॥ संबंधिन मान्यौ तिहि रोग । कीजै औषध होइ निरोग ॥ अथवा सती करै जब पर्स । रोग मिटै बाढै गृह हर्ष ॥ गुरुजन कहैं सुनो यह तत्व । सत्य सती गोपीनु महत्व ॥ संग करावौ याही उनको । दूर करैं असती रोगन को ॥ व्रज में ऐसी सती विराजै । पति

तजि कृष्ण अंक में आजै ॥ एक बार यदुपुरी द्वारिका । दर्द भयो श्रीकृष्ण उदर का ॥ मिटै न भए बहुत उपचार । कृष्ण स्वयं बोले लाचार ॥ मो कहँ सती नारी चरनामृत । सो उपचार रोग को अमृत ॥ नारद रहै तहाँ विदमान । रानिनु बोले तुरत सुजान ॥ तुम सब सती कृष्ण की रानी । काहे न करौ रोग की हानी ॥ सब सकुचाईं जानि अनर्थ । सती धर्म तो होइहि व्यर्थ ॥ काहू कियौ नहीं स्वीकार । तब बोले श्रीकृष्ण विचार ॥ नारद हाल जाहु व्रजभूमी । यदपि अहै असितन की चूमी ॥ कोउ इक सती तहाँ जो होई । सो चरनामृत दै है सोई ॥ यह सुनि नारद व्रज महँ आए । मोहन के वृतान्त सुनाए ॥ सुनि राधा सब सखी अधीर । सबनि दियो चरननि धो नीर ॥ ऐसी असति महा सति आहीं । प्रेम प्रपाटि उलटि सब ठाहीं ॥

गद्यार्थ—जहां सतीत्व ही असीतत्व है । (प्रमाण) नारदजी का वचन है कि सामान्य बहिर्मुख बुद्धि वाले लोग, कृष्ण अनुराग की पीड़ा से जिनकी बुद्धि क्षोभित रहती है ऐसी गोप वधुओं के मनोभाव को देख करके, पति का परम सत्कार करने वाली जो सती अरुन्धती आदि हैं उनको-उन गोपियों के सन्मुख असती कहा गया है ऐसा सज्जनों का मत है । श्रीकपिलदेव ३ स्कन्ध में कहते हैं कि जो स्त्री हड्डी मांस चर्म आदि के शव तुल्य देह वाले पति में सतीत्व बुद्धि करती है वह मूढ तो असती है । श्रीरुक्मिणीजी ने भी द्वारका में भगवान् को यही कहा है ।

चौ०—लौकिक सती जहां असतीति । प्रेम पतन रीती विपरीत ॥ श्रीनारद मुनि कियो बखान । ग्रंथकार सोइ दियो प्रमान ॥ बहिर्मुखी मति के जे लोग । कृष्ण प्रेमवति कन्या गोप ॥ कान्त विरह पीड़ा उर राखैं । साधारण तिनको ते भाषैं ॥ तुच्छ तुलैं तुल सती अरुन्धति । पै तिन लोगन की काची मति ॥ सज्जन विज्ञ करैं प्रतिकार । करैं न उन्हें सती स्वीकार ॥ गोप वधूटी सम को सती । कृष्ण चरण में गाढी रती ॥ कपिलदेवजी कियो उपदेश । हाड चाम तन में आवेश ॥ करै नारि अरु सती विचारे । वासों पतिव्रत रहै किनारे ॥ यही रुक्मणी कियो बखान । श्रीभागवत अहै परमान ॥

गद्यार्थ—ग्रन्थ की समाप्ति पर पूज्य ग्रन्थकर्ता आदि आदि कहते हैं—जहां अकीर्ति को ही कीर्ति–निग्रह को अनुग्रह, अकाव्य को काव्य, शिष्य ही गुरु कहकर उपसंहार करते हैं-प्रमाण में कुछ संकेत में कहते हैं । कोई गोपी भाद्रों के चतुर्थी के चन्द्रमा का जान-बूझकर दर्शन करती है कि मुझे श्रीकृष्ण के साथ अनुराग का कलंक लगे यह अकीर्ति ही कीर्ति है । कोई प्रियतम कहता है कि मेरे हृदय में मेरी प्यारी यदि कुपित होकर लात भी मार दे तो मैं अनुग्रह मानूं यह निग्रह (दण्ड) ही अनुग्रह है । श्रीरूप गोस्वामीपाद ने कहा कि प्रेम की गति साँप की तरह सदा स्वाभाविकी टेढी है । जिसके मन में नवीन प्रेम जाग्रत हो जाता है अन्दर तो वह बड़बड़ाता रहता है भले बाहिर उसकी मुख मुद्रा शान्त दीखती है यह अकाव्य ही काव्य है । जहाँ तटस्थता को प्रगट करता हुआ स्तोत्र चित्त में व्यथा पहुँचाता है और परिहास को धारण करते वाली निन्दा भी मोद देती है जो किसी दोष के द्वारा क्षीण नहीं होती गुणों से बढ़ती नहीं ऐसी स्वारसिक प्रेम की प्रक्रिया देखी जाती है । गुरु शिष्य के उदाहरण में कहा कि उद्धवजी व्रज में गुरु रूप से गोपियों को उपदेश करने आए परन्तु स्वयं शिष्य बन-ज्ञान को भुलाकर प्रेम की दीक्षा लेकर गए ।

चौ०—जहाँ अकीर्ति कीर्ति पछानौ । निग्रहहि अनुग्रह करि मानौ ॥ विनु कविता भाषण

जहँ काव्य । शिष्य ही गुरु सुनौ यह भाव ॥ श्रीरसिकोत्तंस कहिके आदि । यों संक्षेपहि बात बता दी ॥ कियो ग्रंथ को उपसंहार । प्रेम पतन बहु कौतुक द्वार ॥ ऊपर कथित कछुक विपरीत । वर्णी उपमा कछुक समीत ॥ गोपी जान बूझ हित जान । लगै कलंक कृष्ण सुख मान ॥ देखै चन्द्र चतुरथी भादौं । यह अनुराग वतिन मर्यादौ ॥ यों अपकीरति कीरति गाई । प्रेम पतन यह रीति चलाई ॥ प्रियतम कोइ इहै उर धारै । प्यारी प्रणय कोप उर धारै ॥ कैसेहुँ करै मम अन सत्कार । उर में दै इक लात जु मार ॥ यहि विधि कियो चहै मम निग्रह । गनि हौं जिय में परम अनुग्रह ॥ शिष्य ही गुरु कह्यौ परमान । उद्धव आए देन जु ज्ञान ॥ मानहु गुरु हुतै गोपिन कै । पल्ले पड़ी न कुछ भी तिनके ॥ उलटी सुनकर प्रेम कहानी । शिष्य होऊं इनको रति मानी ॥ कह्यौ रूप गोस्वामीपाद । उल्टी प्रेम पंथ मर्याद ॥ सदा चलै यह टेढ़ी चाल । सहज अहै ज्यों फनि को हाल ॥ जागै जिहि मन नव अनुराग । बड़बड़ात उर में सहि दाग ॥ यद्यपि मुख मुद्रा कछु शान्त । विनु कविता यह कविता प्रान्त ॥ होइ तटस्थ कहौ जो स्तोत । ताते व्यथा भली जिय होत ॥ निंदा वाक्य हास्य मिस कहहीं । देत मोद उर आनन्द लहहीं ॥ प्रेम न घटै दोष लखि हेत । बढ़ै न देखत गुण संकेत ॥ प्रेम अहै स्वारसिक प्रमान । घटै न बढै हेतु दै मान ॥

उपसंहार—अद्‌भुतों में अद्‌भुत इस प्रेम पत्तन को मैंने (कृष्ण कृपा से) प्रस्फुट किया है । श्यामसुन्दर इसमें प्रवेश करके प्रसन्न हों और उनकी रति मुझे खरीद ले। शंकरजी के धनुष के समान इस अद्‌भुत पुस्तक को विक्रम से पुष्ट पुरुष भी नहीं छू सकते जैसे बड़े-बड़े वीर शङ्कर धनुष के स्पर्श से दूर रहते थे—क्योंकि सुवर्ण अर्थात् अच्छे शब्दों से निर्मित और पुष्प अथवा अच्छे मनस्वी पुरुषों द्वारा यह धनुष के समान अर्चित है, सुख देने वाले सचित्र पन्नों से सुसज्जित है इसमें मनोज्ञ भारीपन अर्थात् धनुष के समान गुरुत्व गुण हैं और जो वाचाल पण्डित अर्थात् महावीर हैं शङ्कर धनुष के समान उन्हें त्रास पहुँचाने वाली यह प्रेम पत्तन पुस्तक है। हे रसिकता को भली भाँति जानने वाले महानुभावो ! इस प्रेमपत्तन रूपी अति उत्तम देश में प्रवेश करो और कोयल की वचन माधुरी से भी अधिक इसकी माधुरी का आस्वादन करो नहीं तो रसिकता तो केवल रेत के समान कहने मात्र की रहेगी। समदृष्टि लोग कुन्द किशुंक कदम्ब चम्पक को समान देखते हैं परन्तु गुणों से परिचित उचित उपयोग तथा गले के हार की तरह इसका सेवन करेंगे । इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं कि मन्द बुद्धि काच तथा मणि स्वर्ण आदि की पहिचान बिना एक सूत्र में पिरो लें जैसे व्याकरण के आचार्य्य ऋषि पाणिनी के सूत्र में श्वान युवान मघवान अर्थात् कुत्ता मनुष्य इन्द्र एक साथ कह दिये गए हैं।

दोहे—अद्भुत ते अद्भुत अहै प्रेम पतन यह ग्रंथ, फुरचौ कृपा घनश्याम ते हों प्रविष्ट रस पंथ ॥
ह्वै प्रसन्न इतनौ करैं तिनकी रति प्रिय नारि, मुहि खरीद करि लै सदा अपनी दासि विचारि
शम्भु धनुष सम काव्य यह विक्रमशाली लोग, परस सकैं नहिं दूरि रहि देखत उपजै सोग ॥
सुन्दर स्वर्ण समान अति विमल अक्षरनि शोधि, निर्मित यह रचना अहै देत जु प्रेम प्रबोधि
सुमनस पुष्प समान अरु सद्‌गंधित हिय याहि, करैं अर्चना दिवस निसि शंभु चाप सम लाहि ॥

सुखद सचित्र सुसज्जितते पृष्ट अनूपम मेलि, गुरुता आहि मनोज्ञता गरुवी धनुष सकेलि ।।
बहुवादी वाचाल जे पंडित जनु बड़ शूर, त्रास लहै याको निरखि प्रेम पतन अति दूर ।।
हे हे रसिक रसज्ञ जन ! वेगहि करौ प्रवेश, प्रेम पतन उज्ज्वल है तुमरेहि लाइक देश ।।
कोकिलसम अतिमधुर है वचन रचन इहिमाँहि, नहिं आस्वादन जो कियो कहा रसिकता पाइ
शुष्क रसिकता निरसता प्रेम पतन नहिं बेध, ताते विनती रसिक जन काहे रहौ अबोध ।।
चम्पककुन्द कदम्बअरु किंशुकसम दिखराईं, गुण परिचित माला सुरचि हर्षित हिय लटकाईं
कांचन मणि अरु काच जे अज्ञ विना संदेह, एक सूत्र में गूँथिके माला धारहिं देह ।।
वैसे जैसे पाणिनि सूत्र रच्यौ परमान श्वान, ज्वान मघवान यह कहिगे एक समान ।।

।। इति श्रीमूलग्रंथ गद्य-पद्य सरल भाषा भावार्थ सम्पूरण ।।

कृष्ण आसाढी अष्टमी विंशति शत दस तीन, संवत दिन भावार्थ यह विपिन कृपा करि दीन्ह
निज आस्वादन मुख्यतम प्रेम प्रापती हेत, बन बसि जो गुरु सूझ दई लिखैं पढैं सुख देत ।।
रचना (श्री) रसिकोतंस की पत्तन प्रेम प्रमान, पढ़ी यथामति मित्र सों श्री ओंकार सुजान
भाव रहै उर पटल पै मूल ग्रंथ अनुकूल, दोहा चौपाई फुरीं लिखीं दृष्टि रखि मूल ।।
अपनो कछु यामें नहीं तौहूँ यह अपवाद, चूक गयो कहौं मूल ते क्षमि कर्ता अपराध ।।
निज हित नित रसिकन शरण चहै इहै आशीष, प्रेम मधुर रस उर लहै युगल चरण रज शीश

प्रेमपत्तन=वृन्दावनमें रति मधुर मेचक=श्यामाश्याम नित्य दंपति की नित्यनव भेदाभेद रस स्वरूपता:—

पद=दुहुँन को रूप रस अमल दोउनि परचौ ।
दुहुँन के मिलन को उनयो री जलद सखि वर्षि आनंद अति सुखित सबको करचौ ।।
चातकी कलापिनि सहचरी सुख पलित दुहुँन के नेह सों हियो सरवर भरचौ ।
दुहुँन की रतिकला चातुरी चंचलता मदन सबला हुतो मान ताको हरचौ ।।
उदित वैसन्धि दोऊ जु रस भोक्ता दुहुँन को लाड बहु भाँति दुहुं विस्तरचौ ।
दुहुँन के मन परै गहर आनंद निधि काढि को सकै ज्यों सिता अरु जल ररचौ ।।
लाभ लोचनन कौं निकर एकत भयौ धन्य कमनीय कानन अपूरव धरचौ ।
धन्य तें धन्य सखि भाग्य अपनौ गनै दुहुँन को हेत रहै दिवस निसि उर अरचौ ।।
दृगनि दरसत जितौ मन न परसत तितो तौ कहा अन्ध रसना परै उच्चरचौ ।
वृन्दावन हित रूप सुरत रस कल्प तरु रहै घडी जाम-षट-रितु जु फूल्यौ फरचौ ।।

सुमिरि मन प्रेम पतन दृढ़ हेत ।
जाकौ रसिकोतस रसिक महा संत कियो संकेत ।।
मधुर उपासन जहँ को शासन कह्यौ लोक विपरीत ।
विनु दृढ़ अनुगत श्रीवन रहनी कौन लहै रस रीति ।।
धीरज धरि धृति धारि धारणा ध्यान भजन धी राखि ।
पै हौ प्रेम पतन प्रदेश पर अपर इष्ट गुरु साखि ।।
मारग सुगम सहज स्वरूप गत अगम रहनि जग जान ।
एकहुँ आश पाश जग त्रासित निज हित नहिं पहिचान ।।

**रसिक पद रज आश्रित धर्मचन्द्र श्रीकृष्णाश्रम**

दावानल कुण्ड, श्रीधाम वृन्दावन